केशवदास

रामरतन भटनागर

कि ता ब म ह ल
इलाहाबाद : बंबई

नवीन संस्करण

हिंदी के आलोचकों और विचारकों में जितना मतभेद केशवदास को लेकर खड़ा हुआ है, उतना अन्य किसी कवि को लेकर नहीं। एक ओर ऐसी कवि-प्रसिद्धियाँ हैं जो उनका स्थान सूर और तुलसी के उपरांत ही निश्चित करती हैं और दूसरी ओर आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ समालोचक पंडित रामचन्द्र शुक्ल का विश्वास है कि केशव को कवि-हृदय मिला ही न था। उनमें वह सहृदयता और भावुकता न थी जो एक कवि में होनी चाहिए। कुछ भी हो, हिंदी साहित्य में केशव की महत्ता दुहरी है—एक तो उनके काव्य-शास्त्र के ज्ञाता और प्रणेता होने के कारण, दूसरे उनके महाकाव्यकार के नाते। रीति-परंपरा चाहे उनके पीछे न चली हो, पर उनकी 'रसिक-प्रिया' और 'कवि-प्रिया' का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार, 'राम चन्द्रिका' चाहे कितनी ही दोषपूर्ण क्यों न हो, पर महाकाव्यों की शृंखला में वह एक महत्त्वपूर्ण कड़ी रही है और रहेगी। 'कठिन काव्य के प्रेत' वे हो सकते हैं; पर उनका काव्य हमारी विद्या-बुद्धि की कसौटी भी सिद्ध हुआ है।

प्रस्तुत ग्रंथ केशवदास: एक अध्ययन का नवीन संस्करण है। केशवदास से संबंधित समस्त ज्ञातव्य बातों का समावेश अत्यन्त विस्तार के साथ इस आलोचनात्मक पुस्तक में हुआ है। पहले संस्करण में जो अशुद्धियाँ रह गई थीं, उन्हें सुधार दिया गया है।

विश्वास है केशव के काव्य-वन में प्रवेश करने के लिए इस ग्रंथ से यथेष्ट सहायता मिलेग।

जनवरी १९५०

विश्वम्भर 'मानव'

क्रम

परिशिष्ट

जीवनी, व्यक्तित्व और रचनाएँ

केशवदास की जीवनी में गुत्थियाँ बहुत कम हैं। समसामयिक भक्त कवियों सूरदास और तुलसीदास की भाँति, उन्होंने अपने जीवन-वृत्त को अंधकार में नहीं रखना चाहा, इसलिए 'कविप्रिया' में केशव ने पहले दो प्रभावों में अपने तथा अपने आश्रय दाताओं के वंशों का विस्तारपूर्ण वर्णन दिया है।

कवि की कई पीढ़ियाँ ओरछा नरेश के वंश से सम्बन्धित हैं। केशवदास के पितामह कृष्णदत्त मिश्र ओरछा नगर की नींव डालने वाले ('नगर ओरछो जिन कियो', कविप्रिया) रुद्रप्रताप के यहाँ पुराणवृत्ति पर नियुक्त थे। इनके पुत्र मधुकरशाह अकबर के समकालीन थे। इनके समय में राज्य का विस्तार एव वैभव बढ़ा। इन्होंने आस-पास के नरेशों और सुलतानों से युद्ध करके उनकी बहुत-सी जमीन हथिया ली थी। केशवदास के पिता काशीनाथ मिश्र इन्हीं को पुराण सुनाया करते थे। बाद को उनके देहांत पर केशव के बड़े भाई 'नखशिख' के प्रसिद्ध लेखक बलभद्र मिश्र को यह पद मिला। मधुकरशाह के बाद ओरछा की गद्दी पर रामशाह बैठे। ये जहाँगीर के समकालीन थे। राजा का सारा काम रामशाह के छोटे भाई इंद्रजीतसिंह देखा करते थे। केशवदास इन्हीं इंद्रजीत के दरबार में रहते थे। ये उनके गुरु, पंडित, पुरोहित और पुराण-पाठी रहे होंगे। इन्द्रजीत के यहाँ साहित्य और संगीत का अखाड़ा उसी तरह सजता होगा, जैसा उस समय मुगलों के कृपाभाव पर आश्रित छोटे-छोटे राज्यों में

सजता था। स्वयं इंद्रजीतसिंह ने किसी युद्ध में भाग लिया यह हम नहीं जानते। कदाचित् नहीं लिया। परन्तु उनके पूर्वजों में रुद्रप्रताप और उनके भाइयों में रतनसेन, रामसिंह और वीरसिंह देव ने अपनी वीरता की अच्छी धाक जमा ली थी। केशव ने इंद्रजीत के भाई के नाते ही 'रतनबावनी' और 'वीरसिंह देव चरित्र' की रचना की और उनकी वीरता की गाथा गाई। उनके आश्रयदाता इंद्रजीत ने भी यदि कोई युद्ध किया होता, तो वे उन पर भी प्रशस्ति-ग्रन्थ लिखे बिना न रहे होते।

केशवदास का ओरछा राजदरबार में बड़ा मान था, इसका कवि ने अनेक बार उल्लेख किया है। इंद्रजीत उन्हें गुरु मानते थे। उन्हीं के नाते राजाराम उन्हें मंत्री मित्र मानते थे। केशव ने अपनी शिक्षा-दीक्षा और आयु का अधिक भाग ओरछा में ही बिताया। ओरछा नगर और बेतवा नदी एवं आस-पास की वनस्थली पर उनका बड़ा मोह है। उन्होंने रामचंद्रिका में अप्रासंगिक होने पर भी इनके वर्णन लिखे हैं—

ओरछे तीर तरंगिनि बैतवे
ताहि तरै रिपु केसव को है

उन्होंने उसे गंगा जमुना ही मान लिया है। ओरछा के सम्बन्ध में तो वे और भी आगे बढ़ जाते हैं—

वारिए नगर और ओरछा नगर पर

इद्रजीत के साथ ये तीर्थयात्रा को भी गये; परन्तु अधिकांश जीवन कदाचित् ओरछे में ही बीता। भला जहाँ—

भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै जुग जुग
केसोदास जाके राज राज सो करत है

वहाँ का ऐश्वर्यपूर्ण वास छोड़ केशव कहाँ जाते? उन्हें तो वही तीर्थ था। इंद्रजीत का दरबार, अपना घर, छोटे-मोटे

कवियों का साथ, शास्त्र-विवेचन और पुराण-पाठ, 'राय प्रवीन' का साथ। केशव का जीवन इसी चक्कर में कटा। उनकी दुनिया ओरछे तक ही सीमित थी, उनका ज्ञान शास्त्रों तक, उनका प्रभाव समसामयिक छोटे मोटे दरबारी कवियों तक, और उनकी प्रेरणा एवं उत्साह का स्रोत 'राय प्रवीन' तक। इन्हीं वेश्याओं के हाव-भाव से उन्हें काव्य के विषय सूझते थे। जरा इन वारांगनाओं के दल में केशव की श्रद्धाबुद्धि तो देखिये। वे राय प्रवीन को—रमा, शारदा, पार्वती तक बना डालते हैं—

रतनाकर लालित सदा, परमानन्दहि लीन
अमल कमल कमनीयकर रमा कि राय प्रवीन
राय प्रवीन कि सारदा सुचि रुचि रंजित अंग
बीना पुस्तक धारिणी, राजहंस सुत सग
वृषभवाहिनी अङ्ग उर, बासुकि लसत प्रवीन
सिव संग सोहै सर्वदा, सिवा कि राय प्रवीन

जो हिन्दू कवि वारांगनाओं को पूज्य देवियों के रूप में देख सकता है, उसकी अभिरुचि को किस प्रकार परिमार्जित-रुचि कहा जाय। ग्रन्थों के पढ़ने से जान पड़ता है कि इन्हें काफी सुख था, इंद्रजीत ने २१ गाँव दे रखे थे, अन्य स्थानों से भी कभी-कभी अच्छी प्राप्ति हो जाती थी। इसलिए सारा जीवन काव्य-चर्चा और रसिकता में बीतता था। बीरबल से भी इनका अच्छा खासा परिचय था, उनके दरबार में ये वे रोक-टोक आ सकते थे, उनसे कुछ प्राप्ति भी अवश्य होती होगी, क्योंकि उनकी मृत्यु पर इन्होंने लिखा है—

जूझत ही बलबीर बजे बहु दारिद के दरबार दमा मे

ओरछा के पास ही अबुल फजल का वध हुआ था, इसमें सलीम का कितना हाथ था, यह इनके काव्य 'वीरसिंह देव चरित्र' से

प्रकाशित है। कदाचित् उसी समय से कुछ मनमुटाव मुगल दरबार के साथ अवश्य चला आता था। जहाँगीर ने एक बार ओरछे पर एक बड़ा जुरमाना कर दिया। केशवदास आगरे गये और वहाँ उन्होंने जहाँगीर के दरबार में रसाई प्राप्त की। कदाचित् बीरबल की सहायता से वे जुरमाना माफ कराने में सफल हुए। इसके बाद ओरछे में उनकी प्रशंसा और प्रतिष्ठा भी बढ़ी होगी। कदाचित् वह कुछ दिनों जहाँगीर के दरबार में भी रहे। यहीं रहकर उन्होंने 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' की रचना की, जो साधारण कृति कही जाती है। खोज-रिपोर्टों में इसकी प्रतियाँ प्राप्त होने का निर्देश है, यद्यपि वह अभी जनता के सामने नहीं आई है।

इनकी रचनाओं में इनकी प्रवृत्ति का अच्छा प्रकाशन होता है। राजदरबार में धाक जमाने के लिए जिस ज्ञानबाहुल्य, वाग्वैदग्ध, नैपुण्य, चातुरी, कलाकुशलता की आवश्यकता थी, उनका उपार्जन इन्होंने अवश्य काफी किया था। 'रामचंद्रिका' में ज्ञान-विज्ञान-कला की जो लम्बी-चौड़ी बातें कही गई हैं, वे इसका प्रमाण हैं। परन्तु अधिकतर यह ज्ञान अधूरा था, बहुत गहरा नहीं था। वे संस्कृत पंडितों के वंशज होने के नाते भाषा-लेखन के प्रति क्षोभ प्रकट करते हैं—

> भाषा बोलि न जानहीं, जिनके कुल के दास
> भाषाकवि भो मन्दमति, तेहि कुल केशवदास

परन्तु यह स्पष्ट है कि वे संस्कृत के विविध शास्त्रों के इतने बड़े पंडित और आचार्य नहीं थे, जितने अपने समय में प्रतिष्ठित थे, और बाद में प्रसिद्ध हुए। उनका क्षेत्र छोटा था—ओरछा दरबार। वहाँ के पंडितों और कवियों में अवश्य ही बढ़ रहे होंगे। परवर्ती कवियों ने उनके वाग्जाल और उत्प्रेक्षा-नैपुण्य में पड़कर उन्हें आचार्य और महाकवि मान लिया और प्रसिद्ध किया—

सूर सूर तुलसी ससी उडगन केशवदास

यह प्रसिद्धि अधिकांश राजाश्रय में पनपने वाले कवियों में हुई और बाद को उनके प्रभाव में आकर जनता ने उसे ग्रहण किया। राजाश्रय में जिस प्रकार की कविता बन रही थी, केशव का काव्य उसका सबसे सुन्दर उदाहरण है। अकबर के समय से ही इस काव्य का श्री गणेश हो गया था। उनके दरबार के कुछ कवियों के नाम हमें प्राप्त हैं—

> पाई प्रसिद्धि पुरन्दर ब्रह्म सुधारस अमृत अमृतबानी
> गोकुल गोप गोपाल गनेस गुनी गुनसागर गंग सुज्ञानी
> जोध जगनीक भे जगदीश जगामग जैत जगत्त है जानी
> को अकब्बर सैन कथी इतनै मिलकै कविता जु बखानी

इनके बाद औरंगजेब के समय तक हिन्दू कवि (हिंदी कवि) मुगल राजाश्रय से सम्बधित रहे। हिन्दू कवियों के राजाश्रय की परम्परा और भी पुरानी है। पौराणिक काल से हिंदू राजा-महाराजा कवियों को अपने दरबार में सम्मानित करते थे। मुगलों की देखा-देखी यह सम्मान बढ़ा और अनेक कवि प्रत्येक छोटे-मोटे दरबार से सम्बन्धित होने लगे। इस राजाश्रय में पन-पते हुए काव्य की कई विशेषतायें थीं—

(१) कला का आग्रह।

(२) नाद-सौन्दर्य पर विशेष ध्यान—अधिकांश कविताएँ पढ़कर सुनाई जाती थीं। इसीलिए कवित्त सवैये और दोहों का प्रचार अधिक हुआ।

(३) चमत्कार-प्रदर्शन— इसके लिए पग-पग पर अलंकारों का सहारा ढूँढ़ना आवश्यक था। इसीलिए कवि इस शास्त्र के अध्ययन की ओर विशेष रूप से झुके।

(४) प्रेम-चित्रण के स्थान पर विलास-वर्णन की प्रतिष्ठा—इसके लिए नायिकाभेद, कामशास्त्र जैसे विषयों पर कविता करना और श्रृङ्गार-रस का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित हो चला था।

(५) ऐश्वर्य वर्णन—राजाओं और महाराजाओं के आश्रित कवियों की विशेष प्रवृत्ति इसी ओर होनी चाहिए थी। इसी प्रवृत्ति के कारण केशव ने राजाराम को रामचंद्रिका का नायक बनाया।

(६) प्रशस्ति काव्य—प्राचीन काल से राजाश्रय से सम्बन्धित कवि इस प्रकार के काव्य रच रहे थे। संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में अनेक 'प्रशस्ति काव्य' 'वीर काव्य' आदि रचे गये थे। मध्ययुग में तो इनकी बाढ़-सी आ गई। वीरता का कोई काम आश्रयदाता ने किया हो, या न किया हो, प्रत्येक कवि अपने आश्रयदाता को दूसरे कवि के आश्रयदाता से ऊँचा बनाने का प्रयत्न करता।

ऊपर जितनी विशेषतायें कही गई हैं उनमें कवि की उत्कृष्ट कल्पनाशक्ति का अनुरोध प्रकट है। अतः उत्प्रेक्षाओं का इस काल में इतना बाहुल्य रहा है कि कोई भी दूसरा काल उसकी होड़ नहीं कर सकता। तात्पर्य यह, कि राजाश्रय की मूल प्रकृति के कारण काव्य का पतन हो गया था, और उसमें विचित्रता के आयोजन की प्रधानता थी।

इस राजाश्रय की कविता में ही पहली बार नायक के रूप में कृष्ण को स्वीकार किया गया—श्रृंगार काव्य के नायक के रूप में। भक्तिकाव्य के नायक श्रीकृष्ण थे ही, परन्तु मधुरभक्ति का सारा ढाँचा श्रृङ्गारशास्त्र पर खड़ा है; अतः मधुरभक्ति के नायक को श्रृङ्गार के नायक होने में कोई देर नहीं हुई। सूरदास की कविता में श्रृङ्गार की प्रेरणा स्पष्ट है और उनके समकालीन

गदाधर भट्ट, हित हरिवंश और हरिदास की कविताओं में राधा-कृष्ण के केलि-विलास को कामशास्त्र और शृङ्गारशास्त्र के सहारे ही खड़ा किया गया है। नंददास 'रसमंजरी' में 'सब रस कृष्ण में ही तो परिणति पाते हैं'—'सारा सौन्दर्य, आनन्द और प्रेम कृष्ण का ही तो है'—इस विचारधारा को जन्म दिया। इसी तर्क को उपस्थित करते हुए उन्होंने संकोचरहित हो नायिकाभेद की रचना की और कृष्णानुरक्ति को भाव, हेला, रति के नाम से उपस्थित किया। हिततरंगिणी में हम पहली बार रस-निरूपण के लिए राधाकृष्ण के प्रेम-विलास का प्रयोग पाते हैं। सूरदास की साहित्य लहरी (१६०७ सं०) में अलंकार और नायिकाभेद को लेकर राधाकृष्ण के पद लिखने की चेष्टा की गई है। ऐसी ही चेष्टा अधिक पूर्णरूप में कविप्रिया और रसिकप्रिया में मिलती है। इस प्रकार रीतिकाव्य में कृष्ण का नायकत्व पहली बार लक्षणों के उदाहरणों में प्रगट हुआ। इसके बाद जब फुटकर असंबन्धित कवित्त-सवैये इन लक्षण ग्रन्थों के उदाहरणों की प्रेरणा से बनने लगे, तो सारे काव्य में ही राधाकृष्ण नायक नायिकारूप में व्याप्त हो गये। जब हम देखते हैं कि राजाश्रय में संगीत और काव्य दोनों का प्रवाह बह रहा था, संगीत के लिए राधाकृष्ण के शृंगारपद ही प्रचलित थे, और अधिकांश अच्छे गायक रसशास्त्र-विज्ञ और कवि भी थे, तब यह अनुमान दृढ़ हो जाता है कि दरबारों में ही कृष्ण को रीतिकाव्य के नायक के रूप में प्रतिष्ठित किया गया। जिन कवित्त-सवैयों का दौर-दौरा हुआ, उनकी थोड़ी बहुत रचना भक्तिकाव्य में भी हो चुकी थी। सूरदास और नंददास प्रभृति कृष्णभक्त कवियों के भी हमें कवित्त-सवैये मिलते हैं, यद्यपि अभी उनकी कला पुष्ट नहीं हो पाई है। ये कवित्त-सवैये श्रव्यकाव्य के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुए और इन्हीं में अधिकांश रीतिकाव्य प्रकाशित हुआ। इन कवित्त सवैयों

के लेखकों को भाषा, शैली, विषय, भाव किसी की ओर विशेष मौलिक प्रयत्न नहीं करना पड़ा। वे पग-पग पर भक्त कवियों से उधार लेना नहीं भूले। इसीसे यह कवित्त-सवैया साहित्य बड़ी शीघ्रता से पुष्ट हो गया।

इस समय भी भक्तिकाव्य विशेषरूप से प्रबल था, अतः ये शृंगारिक कवि भी कृष्ण के देवत्व-भाव को एकदम नहीं भूल गये। कुछ विषय के अनुरोध से, कुछ समसामयिक धार्मिक वातावरण के कारण, इन शृंगारी कवित्त-सवैयों में स्थान-स्थान पर भक्ति चमक उठती है। कहा भी है—

आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई
न तो राधिका-गुविंद सुमिरन को बहानो है

इस प्रकार कवि स्पष्ट रूप से शृंगारपरक कवित्त, सवैया लिखता हुआ, उसे जनता के सामने 'राधामाधव के सुमिरन' के रूप में रख रहा है। साधारण जनता में ये कवि क्यों प्रिय हैं, इसका कारण है। हमने अन्यत्र बतलाया है कि उस समय नारी-जीवन में अनाचार की मात्रा उतनी नहीं थी, जितनी हम अब कल्पित करते हैं। इस समय वैष्णवभक्ति का विशेष प्रचार था और जनता में राधा-कृष्ण भक्ति विशेष रूप से प्रतिष्ठित हो गई थी। इस जनता ने रीतिकाव्य को उसी प्रकार धर्म की भूमि पर ग्रहण किया, जिस प्रकार उसने सूरदास के शृङ्गारिक पदों को धार्मिक मान लिया था। देव-मन्दिरों में अवश्य उनका काव्य अर्चनापुष्प न बन सका। उसमें धार्मिक प्रेरणा स्पष्ट रूप से कम थी। इसे छिपाया नहीं जा सकता था।

केशवदास के काव्य से स्पष्ट हो जाता है कि वे राधामाधव के भक्त नहीं हैं, अलबत्ता वे उनके अलौकिक रूप से परिचित हैं। परन्तु उन्होंने उन्हें शृंगारकाव्य के नायक-नायिका के रूप में ही

देखा है। यही नहीं, सभी रसों की उन्होंने कृष्ण में स्थापना कर दी है (दे० रसिकप्रिया)। उनकी रामचंद्रिका में भक्तिभाव अवश्य है। वहाँ उन्होंने अत्यंत संयम से शृंगार को बहुत कुछ बहिष्कृत रखा है। इससे स्पष्ट है कि उनकी भक्ति राम में ही थी। लाला भगवानदीन ने सूचना दी है कि ओरछे में एक हनुमान-मन्दिर है जिसके स्थापक केशवदास कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि कवि रामभक्त अवश्य था और उसने हनुमानाश्रय ग्रहण किया था। इस एक सूचना के अतिरिक्त कवि के धर्मभाव के सम्बन्ध में कम से-कम जहाँ तक इस धर्म का उसके लौकिक जीवन से संबंध था, हम कुछ भी उल्लेख नहीं पाते। कवि के अंतिम ग्रन्थ विज्ञानगीता में हम उसे निर्गुण भक्ति के प्रतिपादक कवि के रूप में देखते हैं। बुन्देलखंड संतसंप्रदाय (कबीरपंथ) का केन्द्र रहा है। अतः संभव है आयु के अन्त में पश्चात्ताप के रूप में कवि संतकाव्य की ओर मुड़ा हो और उसने इस रचना द्वारा क्षीण होती हुई निर्गुण भक्ति धारा के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की हो।

केशव के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हमें विशेष कुछ नहीं लिखना है। उनका चित्र प्राप्त है। उससे उनकी बहुत कुछ वैयक्तिक विशेषताओं का पता लगता है। राजाश्रय में रहने वाले अधिकांश कवियों की भक्ति ऐसी ही थी, भक्त न होते हुए वे भक्त बनते थे, पंडित न होते हुए उन्हें पंडित बनना पड़ता था। उनमें से अधिकांश में रसिकता की मात्रा तो विशेष थी; परन्तु कवि-सुलभ सहृदयता की मात्रा अधिक नहीं थी। उन्होंने मस्तिष्क को नवीन-नवीन भावों के लिए अधिक उकसाया, हृदय पर उनका अधिक भरोसा नहीं था। वे शास्त्रानुशीलन में रत रहते थे, या ऐसा बहाना करते थे। लोक-व्यवहार और लोकजीवन के प्रति उनकी दृष्टि विशेष थी। वे भावुक कवि उतने न थे, जितने व्यवहार-

चतुर पंडित। उनका काव्य उनके इस व्यवहार कुशल साहित्य के प्रकाशन का एक अंग है।

केशव की रचनाओं के सम्बन्ध में अभी विशद खोज नहीं हुई है। सम्भव है, विशेष खोज होने पर उनकी कुछ अन्य रचनाओं का भी पता चले। केशव के ७ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—विज्ञान गीता, रतनबावनी, जहाँगीरजसचंद्रिका, वीरसिंहदेव चरित्र, रसिक-प्रिया, कविप्रिया और रामचंद्रिका। इन ग्रंथों में रामचंद्रिका, कविप्रिया और रसिकप्रिया बहुत प्रसिद्ध हैं। लाला भगवानदीन ने ४ अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है:

१—छंदशास्त्र का कोई एक ग्रंथ

२—रामालंकृतमंजरी—कोई कोई इसी को छंदों का ग्रंथ कहते हैं।

३—नखशिख (नायिकाभेद)

४—स्फुट (कुछ कवित्त, सवैये और दोहे)

इनमें नायिकाभेद भारतजीवन प्रेस, काशी, में प्रकाशित हो चुका है। लालाजी के अनुसार यह साधारण रचना है। कुछ विद्वानों का विचार है कि ऊपर लिखे १, २ ग्रंथ एक ही हैं। दोनों अप्राप्य हैं। हाँ, रामचंद्रिका की कुछ प्राचीन पोथियों में कुछ छंदों के लक्षण भी नीचे लिखे गए हैं और इनमें रामालंकृतमञ्जरी का हवाला है। रामचंद्रिका में कवि ने केवल छंदों का पग पग पर परिवर्तन किया है। यह स्पष्ट है कि कम से कम कुछ अंशों में यह ग्रंथ पिंगल का उदाहरण मात्र है, या इसके छंद किसी पिंगल ग्रन्थ के लिए ही रचे गये थे, और बाद में रामचंद्रिका में इकट्ठे कर दिये गये। रामचंद्रिका में कविप्रिया और रसिकप्रिया की सामग्री को भी पूर्णतः अपनाया गया है; अतः यह सम्भव है। इससे यह आवश्यक है कि रामालंकृतमञ्जरी की खोज की

जाय, या रामचंद्रिका के छंदों को लेकर उसका पुनर्निर्माण किया जाय।

केशव कवि के नाम से दो ग्रन्थ और मिलते हैं। उन ग्रन्थों के नाम हैं—बालिचरित्र और हनुमान-जन्म लीला। इनकी रचना शिथिल है। हनुमान-जन्म-लीला पर नोट देते हुए सर्चरिपोर्ट १९०९, १९१०, १९११ के लेखक लिखते हैं—

Keshava Das the writer of Hanuman Janma Lila is an unknown poet. "He was certainly not the famous poet of Orchha..."

लाला भगवानदीन ने केशव के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा की थी। उन्हीं की टीकाएँ लेकर आज केशव के अध्ययन-अध्यापन और समालोचन का काम होता है। उनका कहना है कि ओरछा में एक हनुमानजी का मन्दिर है। जनश्रुति है कि इसे कवि केशवदास ने ही संस्थापित किया था। अतः संभव है कि उपरोक्त रचना कवि की ही हो, और उसमें विशेष काव्य-कौशल प्रस्फुट न हुआ हो। जो हो, इन ग्रन्थों के सम्बन्ध में अभी हम संदिग्ध ही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि केशव सम्बन्धी सारी सामग्री सुसंपादित और प्रामाणिक रूप से हमारे सामने उपस्थित हो, जिससे उसकी समीक्षा का काम निश्चयात्मक रूप से किया जा सके। अभी तक प्रस्तुत सामग्री की दशा किसी प्रकार आशाजनक नहीं है।

रामचंद्रिका प्रसिद्ध महाकाव्य है जिसका सम्बन्ध महाराज रामचंद्र की कथा से है। इसकी रचना-तिथि संवत् १६५८ है। इस प्रकार यह रचना रामचरितमानस की रचना के २७ वर्ष बाद प्रकाश में आई। कविप्रिया की रचना भी इसी वर्ष (१६५८) हुई। इसमें अलंकारों का विशद विवेचन है। केशव ने वर्णन को भी 'अलंकार' माना है और जिन वर्णनों से राम-

चंद्रिका भरी पड़ी है वे वर्णन कदाचित् पहली बार इसी ग्रंथ के लिए तैयार किये गये हों और बाद को रामचन्द्रिका में भी उपयुक्त स्थान पर रख दिये गये हों। रसिकप्रिया की रचना सं० १६४२ में (रामचन्द्रिका की रचना के १० वर्ष पहले) हो चुकी थी। इसमें शृङ्गाररसशास्त्र और नायिकाभेद को विषय बनाया गया है। इसके भी अनेक छंद रामचन्द्रिका में गृहीत हैं। 'विज्ञानगीता' केशव के अंतिम दिनों की कृति है। कवि ने कथा-प्रसंग बाँध कर रूपक द्वारा मानसिक भावों का विवेचन किया है। कदाचित् उन्होंने यह ढङ्ग संस्कृत ग्रंथ 'प्रबोध चन्द्रोदय' से लिया है। कौन धर्मभाव किसका सहायक है और कौन किसका विरोधी है, अच्छा कौन है, बुरा कौन, यही नाटकीय ढङ्ग से दिखलाया गया है। बौद्धों और सखी-उपासना वालों को कलिकाल का सहायक माना है। बौद्धों का तो उन दिनों कहीं अस्तित्व भी न था; अतः उनका विरोध तो महत्त्वपूर्ण नहीं; परन्तु रामोपासक होने के कारण सखीभाव के उपासकों पर उनकी दृष्टि गई और उन्होंने उनका विरोध किया। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि तुलसी के समय में ही सखीभाव के उपासकों की प्रधानता हो गई थी।

केशव के तीन ग्रंथ रतनबावनी, वीरसिंहदेव चरित्र और जहाँगीरजसचन्द्रिका चरित्रकाव्य या वीरकाव्य के अंतर्गत आते हैं।

———

२

रामचन्द्रिका

(१) रामकथा

केशव ने रामकथा को मौलिक ढंग से आरम्भ किया है। साधारण रूप से रामकथा के आरम्भ में भूमिका-रूप राक्षसों के अत्याचार, देवताओं के साथ पृथ्वी की स्तुति और विष्णु या ब्रह्म की आकाशवाणी का वर्णन एवं उल्लेख होता है। केशव ने इन सब प्रसङ्गों को अपनी रचना में स्थान दिया है। यद्यपि वे इनका उल्लेख आगे चलकर अगस्त्य के मुँह से करा लेते हैं—

> ब्रह्मादिदेव जब विनय कीन
> तट छीर सिन्धु के परम दीन
> तुम कह्यो देव अवतरहु जाय
> सुत हौं दशरथ को होव आय
>
> —(प्रकाश ११, छं० १२)

उन्होंने अपनी कथा को राम-जन्म से भी आरम्भ नहीं किया है। वे राम की बाल-लीला भी नहीं दिखाते। कथारम्भ विश्वामित्र के आगमन से होता है। राम-द्वारा यज्ञ रक्षा के बाद एक ब्राह्मण पथिक जनकपुर से आता है। वह सीता स्वयंवर की कथा वर्णन करता है (प्रकाश ३-५)। इस वर्णन के अन्तर्गत ही रावण-बाण-सम्वाद है। अन्त में ब्राह्मण कहता है—जब धनुष नहीं टूटा

तो सबको सन्देह होने लगा कि सीता का ब्याह होगा भी या नहीं। उसी समय एक चमत्कार हुआ—

> सिय सङ्ग लिये ऋषि की तिय आई
> इक राजकुमार महा सुखदाई
> सुन्दर वपु अति स्यामल सोहै
> देखत सुर नर को मन मोहै
> लिखि लाई सिय को वर ऐसो
> राजकुमारहिं देखिय जैसो

(एक ऋषि-पत्नी आई जिसके हाथ में एक चित्र के साथ एक राजकुमार का चित्र था······यह राजकुमार ऐसा ही दिखलाई देता है जैसा राजकुमार उस चित्र में था।) यह ऋषि-पत्नी का अवतरण केशव की अपनी कल्पना है। ब्राह्मण के वर्णन द्वारा हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव के रावण-वाण सम्वाद भी ले-लिये गये और मिथिला चलने की भूमिका भी बन गई। ब्राह्मण की बात सुन कर विश्वामित्र मिथिला चल देते हैं। मार्ग में अहल्या की कथा आती है; परन्तु वह अत्यन्त संक्षेप में है और उसमें मौलिकता यह रखी गई है कि रामचन्द्र की दृष्टि पड़ते ही शिला सुन्दर रूपवाली स्त्री हो गई—

> बन राम शिला दरसी जबहीं। तिय सुन्दर रूप भई तबहीं

> पूछी विश्वामित्र सों रामचन्द्र अकुलाइ
> पाहन ते तिय क्यों भई कहिये मोहिं समुझाइ
> गौतम की यह नारि इन्द्र दोष दुर्गति गई
> देखि तुम्हें नरकारि परम पतित पावन भई
> तेहि अति रूरे रघुपति देखे। सब गुण पूरे तन मन लेखे
> यह वरु माँग्यो दया न काहू। तुम मो मन ते कतहुँ न जाहू
> (पाँचवाँ प्रकाश ३, ४, ५, ६)

शतानन्द को लेकर जनक आते हैं और परस्पर शिष्टाचार के बाद जनक के पूछने पर विश्वामित्र युवराजों का परिचय देते हैं। विश्वामित्र कहते हैं कि राम धनुष देखना चाहते हैं। जनक कहते हैं।

ऋषि है यह मन्दिर माँझ मँगाऊँ
गहि ल्यावहिं हौं जन यूथ बुलाऊँ

इस पर विश्वामित्र कहते हैं कि सब लोग क्या करेंगे, यह राजकुमार (राम) ही जाकर ले आवेंगे। जनक शंका करते हैं; परन्तु विश्वामित्र आज्ञा दे देते हैं—

सुनि रामचन्द्र कुमार। धनु आनिये इकबार
पुनि वेगि ताहि चढ़ाउ। जस लोक लोक बढ़ाउ

रामचन्द्र लीला में ही धनुष को संधान लेते हैं। धनुष टूट जाता है। जनक शतानन्द से कहते हैं—तुम तो साथ थे, तुमने तोड़ने क्यों दिया। शतानन्द ने कहा—मैं तो कुछ कर ही नहीं पाया। फिर सीता ने जयमाल राम के गले में पहना दी।

इस प्रसंग में मौलिकता है। वाल्मीकि में योद्धा लोग उस महान शकट को खींच कर लाते हैं जिसमें धनुष रखा है, यहाँ स्वय राम उसको जाकर तोड़ देते हैं।

छठवें प्रकाश में राम-विवाह है। वाल्मीकि में राम-विवाह प्रसंग एक ही छंद में समाप्त कर दिया गया है। तुलसी के रामचरित मानस में विवाह वर्णन सविस्तार है। रामचन्द्रिका में भी हम राम-विवाह का विस्तृत वर्णन पाते हैं; यद्यपि केशव ने इसे दूसरे ही प्रकार लिखा है। मानस और रामचंद्रिका के विवाह वर्णनों की तुलना करने पर यह बात स्पष्ट रूप से समझ में आ सकती है।

बरात के अयोध्या लौटते समय मार्ग में परशुराम मिलते हैं (सातवाँ प्रकाश)। इस क्रम में वाल्मीकि का पालन किया गया है।

मानस में यह भेंट स्वयम्बर सभा में होती है। परन्तु जहाँ वाल्मीकि में इस प्रसंग में केवल राम और तुलसी में रामलक्ष्मण भाग लेते हैं, वहाँ यहाँ चारों भाई भाग लेते हैं, विशेषकर भरत और लक्ष्मण। इसके अतिरिक्त यहाँ जब दोनों राम क्रोध करते हैं, तो महादेव आकर उपस्थित हो जाते हैं और उन्हें शान्त करते हैं। परशुराम तब भी रामावतार में संदेह करते हैं और अपने नारायणी धनुष से परीक्षा करते हैं। शेष उसी तरह है जैसा अन्य स्थानों पर है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि बालकांड की कथा चार प्रकाशों में कही गई है (४-७)। इस कथा में कई मौलिकताएँ हैं जैसा हम ऊपर दिखा चुके हैं। केशव ने कथा को वाल्मीकि के आधार पर ही खड़ा किया है—परन्तु उसमें कुछ मानस के आधार पर कुछ अपनी मौलिकता के बल पर अन्तर रक्खा है। आठवाँ प्रकाश रामकथा-विकास की दृष्टि से महत्वहीन है, क्योंकि उसमें केवल अयोध्या और बरात के स्वागत का वर्णन है।

अयोध्याकांड की कथा केवल दो प्रकाशों (६-१०) में कह दी गई है। सच तो यह है कि रामकथा के इस अत्यन्त नाटकीय, मनोवैज्ञानिक और सरस अंश के साथ केशवदास ने इतना अत्याचार किया है कि उनकी प्रतिभा पर ही संदेह होने लगता है। किसी भी रामकथा में—प्रसन्नराघव जैसे नाटकों को छोड़कर जहाँ वस्तु संघटन ही दूसरे प्रकार का है—वनवास-कथा को इतने संक्षेप में नहीं कहा गया है—

दसरत्थ महा मन मोद रये। तिन बोलि वशिष्ठ सों मन्त्र लये
दिन एक कहो सुभ सोभ रयो। हम चाहत रामहिं राज दयो
यह बात भरत्थ की मातु सुनी। पठऊँ बन रामहिं बुद्धि गुनी
तेहि मन्दिर मों नृप सों विनयो। वर देहु छुनो हमको जु दयो

नृप बात कही हँसि हेरि हियो। बर माँगि सुलोचनि मैं जु दियो
नृपता सु बिसेस भरत्थ लहैं। बरषैं बन चौदह राम रहैं

यह बात लगी उर वज्र तूल
हिय फाट्यौ ज्यौं जीरन दुकूल
उठि चले विपिन कहँ सुनत राम
तजि तात मातु तिय बन्धु धाम

राम कौशल्या के घर जाते हैं। फिर लक्ष्मण को साथ ले सीता के पास आते हैं। सीता-राम-सम्वाद में तुलसी का रंग है। फिर राम लक्ष्मण से रह जाने को कहते हैं। अंत में तीनों वन चल देते हैं। सुमन्त के साथ जाने की बात तो है ही नहीं। यहाँ तो—

रामचन्द्र धाम ते चले सुने जबै नृपाल
बात को कहै सुनै सु ह्वै गये महा बिहाल
ब्रह्मरन्ध्र फोरि जीव यौं मिल्यो द्युलोक जाय
गेह तूरि ज्यों चकोर चन्द्र में मिलै उड़ाय

वाल्मीकि में वन-पथ का वर्णन नहीं है। तुलसी में यह वर्णन सुविस्तृत है। वन-पथ की झाँकी तुलसी की अपनी सूझ है और केशव उसी से प्रभावित जान पड़ते हैं। भरत के ननिहाल से लौटने, माता से मिलने, उसे धिक्कारने, कौशल्या के पास जाकर शपथ खाने आदि के प्रसंग अत्यन्त संक्षेप में हैं और वे रामचरित मानस से पूरा मेल खाते हैं। केशव बिना किसी संदर्भ के कथा आगे बढ़ाते हैं। भरत के ससैन्य चित्रकूट पहुँचने की कथा देखिए। कितने संक्षेप में है—

पहिरे बकला सु जटा धरिकै। निज पायन पंथ चले अरिकै
तरि गङ्ग गये गुह सङ्ग लिये। चित्रकूट विलोकत छाँड़ि दिये

(दसवाँ प्रकाश, छन्द १३)

भरत के आगमन पर लक्ष्मण का क्रोधादि मानस के समान ही

है; परन्तु केशव के इस प्रसंग में लक्ष्मण रसोद्रेक की दृष्टि न रखते हुए व्यर्थ की उत्प्रेक्षाएँ करते जाते हैं—

रण राजकुमार अरुझहिंगे जु। अरि सन्मुख घायन जुझहिंगे जू
जनु ठौरनि ठौरनि भूमि नवीने। तिनके चढ़िवे कहँ मारग कीने
रहि पूरि विमाननि व्योमथली। तिनको जनु टारन भूमि चली
परिपूरि अकासहि धूरि रही। सु गयो मिटि सूरप्रकास सही
अपने कुल को कलह क्यों देखहि रवि भगवन्त
यहै जानि अन्तर कियो मानो यही अनन्त
बहुता महँ दीह पताक लसैं। जनु धूम में अग्नि की ज्वाल बसैं
रसना किधौं काल कराल घनी। किधौं मीचु नचै चहुँ ओर बनी

भूमि ने यह समझकर कि यहाँ क्षत्रीगण भिड़कर युद्ध करेंगे, और वीरता-पूर्वक रण में सम्मुख मार करते हुए प्राण त्यागेंगे, स्थान-स्थान पर स्वर्गारोहण के लिए सड़कें बना दी हैं। अपने वंश-धरों का पारस्परिक कलह सूर्य भगवान न देख सकेंगे, यह सोच कर सूर्य के मुख पर पृथ्वी ने धूल का परदा डाल दिया है। उस उड़ती धूल में अनेक पताकाएँ फहराती हैं। वे ऐसी जान पड़ती हैं मानों धूल में अग्नि की ज्वालाएँ हैं, अथवा कराल काल की अनेक जिह्वाएँ हैं, या अनेक रूप धारण किये हुए मृत्यु ही जहाँ-तहाँ घूम रही है।

भरत सेना को छोड़कर माताओं आदि के साथ आते हैं। शिष्टाचार के बाद राम से लौटने की प्रार्थना करते हैं। अंत में उन्होंने मंदाकिनी गंगा के तीर जाकर शरीर-त्याग इत्यादि का सकल्प किया। गंगा स्त्री का रूप धर कर भरत को प्रबोध करती हैं। अंत में अदृश्य हो जाती हैं। भरत राम के पादुका माँग कर लौट आते हैं। नन्दिग्राम में रहने लगते हैं। गंगावतरण की बात एकदम केशव की कल्पना है। इस प्रकार वे अत्यन्त सुन्दर स्थलों को बचा गये।

प्रकाश ११-१२ पद में अरण्य की कथा है। अत्रि-अनुसूया मिलन संक्षेप में है। सीता को उपदेश का उल्लेख मात्र है। इसके अनंतर विराध-वध है। अगस्त्य से राम पर्णकुटी के लिए स्थान पूछते हैं। वे पंचवटी बताते हैं। राम के शरीर की सहज सुगन्ध से आकर्षित हो शूर्पनखा आती है। शूर्पनखा-प्रसंग मानस से मिलता-जुलता है। केशव राम द्वारा खरदूषण-त्रिशरा का वध केवल तीन छन्दों में देते हैं। शूर्पनखा रावण के पास जाकर यह समाचार देती है और सीता के सौन्दर्य का वर्णन करती है। रावण-मारीच-प्रसंग मानस जैसा ही है। यहाँ राम सीता का अग्निप्रवेश कराते हैं—अब तक हम इस विषय में तुलसी को ही मौलिक समझते थे। सीता-लक्ष्मण-सम्वाद और सोने के मृग की कथा अत्यन्त संक्षेप में है। सारा प्रसंग मानस के समान है। रावण द्वारा सीता हरण के सम्बन्ध में केवल एक छद है—

छिद्र ताकि छुद्र बुद्धि लङ्कनाथ आइयो
भिक्षु जान जानकी सु भीख को बुलाइयो
सोच पोच मोचि कै सकोच भीम भेष को
अंतरिच्छ ही हरी ज्यों राहु चन्द्ररेख को

जटायु रावण से युद्ध करता है। आगे सीता ऋष्यमूक पर पाँच वानरों को बैठा देख नूपुर-पट गिरा देती हैं। केशवदास मारीच-वध के बाद लौटे हुए राम का विलाप नहीं देते। इसके अनन्तर जटायु और कबन्ध से भेंट है और राम की उन्मत्त दशा का परम्परागत वर्णन है, परन्तु बदले रूप में।

४—किष्किन्धाकांड के हनुमान-भेंट की कथा मानस की भाँति ही है। परिवर्तन यह है कि यहाँ हनुमान विप्र वेश छोड़ कर सुग्रीव के पास लौट जाते हैं और उन्हें साथ लाकर राम के चरणों पर डालते हैं। सप्तताल-भेद की परीक्षा का भी वर्णन है। वालिवध की कथा इस प्रकार है—

रवि पुत्र बालि सों होत युद्ध । रघुनाथ भये मन माँह क्रुद्ध
शर एक हन्यो उर मित्र काम । तब भूमि गिर्‍यो कहि राम राम
कछु चेत भये ते बलनिधान । रघुनाथ विलोके हाथ बान
शुभ चीर जटा सिर स्याम गात । वनमाल हिये उर विप्र लात

बालि—

जग आदि मध्य अवसान एक । जग मोहत हौ वपु धरि अनेक
तुम सदा शुद्ध सबको समान । केहि हेतु हन्यो करुणानिधान

राम—

सुनि वासवसुत बल बुधि निधान । मैं शरणागत हित हने प्रान
यह साँटो ले कृष्णावतार । तब ह्वै हौ तुम संसार पार

यह 'कृष्णावतार' की मौलिक सूझ है । केशव स्पष्टतया तुलसी के बालि द्वारा राम के प्रति आक्षेप को सामने रख कर लिख रहे हैं ।

राम-लक्ष्मण प्रवर्षण पर रहने लगते हैं । शरद बीतने पर राम क्रोधित हो लक्ष्मण को सुग्रीव के पास भेजते हैं । तारा प्रबोध करती है । हनुमान भिन्न-भिन्न दिशाओं में बानरों को भेजते हैं । वे समुद्र पर पहुँच कर हताश हो जाते हैं । बानरों के परस्पर आक्षेप मौलिक हैं । सम्पाति की कथा का केवल इंगित है । हनुमान समुद्र लाँघते हैं ।

सुन्दरकांड की कथा तेरहवें-चौदहवें प्रकाश में है । सारी कथा मानस जैसी है; परन्तु संक्षेप में है । सुरसा और सिंधिका का केवल उल्लेख ही मिलता है—

बीच गये सुरसा मिली और सिंधिका नारि
लीलि लियो हनुमन्त तेहि कढ़े उदर कहँ फारि

लंका राक्षसी को मारने का भी कथन है । लंका भविष्य की बात कहती है, यह मौलिकता है । रावण के अन्तःपुर का वर्णन

वाल्मीकि के समान है। हनुमान स्वयं शीशम के पेड़ के नीचे सीता को देख लेते हैं। रावण-सीता-वार्तालाप मौलिक है। इसी प्रकार सीता-हनुमान-सम्वाद और हनुमान-रावण सम्वाद। इन सम्वादों पर हनुमन्नाटक की छाया है; परन्तु कहीं-कहीं मानस का प्रभाव भी लक्षित है। जैसे यहाँ भी सीता अशोक से आग माँगती हैं और हनुमान अँगूठी गिरा देते हैं और वे अग्निकण समझ कर उसे उठा लेती हैं। मानस की तरह यहाँ भी अग्निकांड के बाद केवल विभीषण का घर बचा रहता है। हनुमान सीता के पास लौटते हैं, उनके पैर पड़ते हैं, विदा होते हैं, सोचते हैं, खेद है परपुरुष होकर सीता का शरीर नहीं छू सकता। रावण-गोष्ठी और विभीषण-त्याग की कथा मौलिक है। समुद्र-बंध की कथा केवल एक चौपाई में है—

जब ही रघुनायक बाण लियो। सविशेष विशोषित सिन्धु हियो
तब ही द्विजरूप सु आइ गयो। नल सेतु रचै यह मन्त्र दियो

केशव की रामकथा के अध्ययन से हम कितने ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं—(१) रामकथा में केशव की रुचि नहीं है। वह अत्यन्त क्षिप्रता से संक्षेप में लिखी गई है। (२) उनकी कथा-मूलत: वाल्मीकि रामायण पर आश्रित है; परन्तु तुलसी की कथा-वस्तु से भी सहारा लिया गया है और स्वयं भी मौलिक बनने का प्रयत्न किया गया है। (३) विभिन्न छन्दों में लिखने के कारण कथा भली-भाँति संगठित नहीं हो सकी है। वह नाटकीय हो गई है और इसी से सौंदर्यहीन है। (४) कथा को वर्णनात्मक और सम्वादात्मक बनाने का प्रयत्न किया गया है। केशव को वर्णन विशेष प्रिय हैं, क्योंकि एक तो कविप्रिया के मतानुसार वर्णन अलंकार के अन्दर आता है जो उनका प्रिय विषय है, दूसरे पांडित्य और बहुज्ञता दिखाने का मौका मिलता है, तीसरे अधिकांश वर्णनों में अलंकारों का प्रयोग करने को मिला है।

(५) कथा में स्थान-स्थान पर शृङ्गार का पुट मिलता है। यद्यपि जहाँ तक सीता का सम्बन्ध है कुछ मर्यादा लिये हुए है।

इक्कीसवें प्रकाश में राम-भरत-मिलाप और बाइसवें में अवध-प्रवेश का वर्णन होकर कथा समाप्त हो जाती है। छब्बीसवें में राजतिलकोत्सव वर्णन है। शेष प्रकाश वर्णनात्मक हैं जिनमें राम के राज-वैभव और राज-विहार का वर्णन है। तैतीसवें प्रकाश से शम्बूक-वध और वाल्मीकि के उत्तरकांड की कथा शुरू होती है। उन्तालीसवें प्रकाश में राम-सीता मिलन के बाद इस कथा की भी समाप्ति हो जाती है। चौतीसवाँ प्रकाश असम्बंधित उपाख्यानों और मठधारी निन्दा और मथुरा माहात्म्य-वर्णन जैसे अप्रासंगिक विषयों से भरा है। तुलसी की तरह केशव भी रामादि का स्वर्गारोहण नहीं दिखाते। राम अपने और सहोदरों के पुत्रों में राज्य-वितरण कर देते हैं और उन्हें शिक्षा देते हैं और केशव उन्हें यहीं छोड़ देते हैं—

> यहि विधि शिष दै पुत्र सब विदा करे दै राज
> राजत श्री रघुनाथ संग सोभन बन्धु समाज
>
> (३९वाँ प्रकाश, छन्द ३७)

केशव की कथा का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि यह कथा दो भागों में विभक्त हो जाती है। पहले भाग में विश्वामित्र-आगमन से लेकर राज्याभिषेक तक की कथा है। इसका विस्तार छब्बीस प्रकाशों में है। तैंतीसवें प्रकाश से उन्तालीसवें प्रकाश तक सीता-वनवास की स्वतंत्र कथा है। बीच के सात प्रकाशों में राम के ऐश्वर्य का वर्णन है। दोनों कथाओं में किसी प्रकार का अनुपात नहीं है। अनेक असम्बंधित प्रसंग बीच में आ जाते हैं जिनसे कथा के विकास में बाधा पड़ती है। जैसा हम पहले कह आये हैं, विश्वामित्र-आगमन से राज्याभिषेक तक की कथा का आधार वाल्मीकि रामायण है। हमें यह स्मरण

रखना चाहिए कि कवि ग्रन्थारम्भ में वाल्मीकि को स्वप्न में देखता है और उन्हीं के आदेश से काव्य लिखता है। ऐसी अवस्था में यदि उसके काव्य का आधार वाल्मीकि न होते तो आश्चर्य का विषय होता। परन्तु वाल्मीकि की कथा को विस्तार-पूर्वक स्वीकार करते हुए भी केशवदास ने नवीनता का समावेश किया है—

१—प्रकरी और पताका के रूप में (इसमें कवि प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक से प्रभावित है।)

२—वार्तालाप इन्हीं ग्रन्थों का आधार है; परन्तु साथ ही केशव का सम्वाद उनके अपने राज-दरबार के अनुभवों से विकसित हुआ है।

३—जहाँ काव्य की छटा दिखलाई गई है वहाँ उपमाओं, उत्प्रेक्षाओं का महल खड़ा किया गया है।

४—विविध वर्णन प्रसंग जो कथा को अलंकृत करते हैं, उसे किसी तरह आगे नहीं बढ़ाते। वास्तव में यदि वर्णनों और काव्य-कुतूहलजनक स्थलों को हटा लिया जाय तो कथोपकथनों को छोड़ कर कथा इतनी संक्षेप निकले कि कुछ ही पृष्ठों में कही जा सके। केशव की रामचन्द्रिका कथा-वैचित्र्य या कथा-निर्वाह के लिए लोकप्रिय है भी नहीं, उसकी विचित्रता उसके काव्य प्रकरणों मे है। प्रबन्धात्मकता तो उसमें नाम को नहीं है। जिस ग्रंथ में कथा कहने के लिए तीन-चार सौ छन्दों का प्रयोग हुआ है और जिसका लगभग प्रत्येक पद नया छन्द है, उसमें प्रबंध की सरसता और उसका प्रवाह कैसे सम्भव है? रामकथा-काव्य के लिए अभ्यास-शिला मान ली गई है—इससे अधिक उसका मूल्य नहीं। इसीलिए कथा से संक्षेप में है, और कथा से इतर वस्तु ही वहाँ विशेष द्रष्टव्य है। केशव में न तुलसी के भक्त हृदय की आकुलता थी

जो विवाह जैसे मौलिक प्रसंग की कल्पना करते और कथानक को भक्तिपरक मोड़ देते, न उनमें इतनी प्रतिभा थी कि रामकथा के नये अछूते पहलू खोजते और उन्हें काव्य-रस से सिक्त कर पाठकों के सामने रखते। वे अनुभूति-प्राण कवि भी नहीं हैं। शास्त्र-पंडित आचार्य कवि केशवदास की रामचन्द्रिका उनके व्यक्तित्व का सविशेष प्रकाशन है और इसी रूप में वह सदा-प्रतिष्ठा पाती रही है। केशवदास ने परम्परागत राम-कथा को पूर्णतः स्वीकार कर लिया है, केवल यहाँ वहाँ कुछ परिवर्तन विस्तार में कर दिये हैं। जो प्रसग भी गढ़े; जैसे राम का जल-विहार और केलि-क्रीड़ा, वे भक्ति तो क्या सुरुचि के भी पोषक नहीं; परन्तु दरबारी कवियों के बादशाह में रुचि-शैथिल्य और रुचिअपरिष्कार मिले तो भी आश्चर्य नहीं। उन्होंने राजा राम के साकेत जीवन को इन्द्रजीत का जीवन बना दिया है।

यदि रामचन्द्रिका के असम्बन्ध वर्णनों और प्रसंगों को निकाल दिया जाय और केवल कथा-प्रसंग को रहने दिया जाय तो केशव की सारी कला ताश के महल की तरह ढह जायगी। वस्तु-विधान की दृष्टि से न उसमें मौलिकता है न सौष्ठव। जहाँ कथा के मार्मिक प्रसंग आते हैं, वहाँ केशव दृष्टि भी नहीं उठाते। ऐसे स्थलों को छोड़कर वे ऐसे वर्णन और प्रसंग भर देते हैं जो जी उबाने वाले हैं और जिनमें सिवा पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति के और कुछ नहीं मिलता। नदी, वाटिका, नगर, वन इनके वर्णन दो-दो क्यों होने चाहिए? राम को राज्यश्री से विरक्ति क्यों हो गई? सनाढ्योत्पत्ति को स्थान क्या इसलिए नहीं मिला कि केशव सनाढ्य थे? वास्तव में तीसवें प्रकाश के बाद केशव राम-चन्द्रिका को ज्ञान-विज्ञान का कोष बना रहे हैं, अनेक प्रकाश कथा की दृष्टि से व्यर्थ हैं और जिन प्रकाशों में कथा है भी

उनमें कथावस्तु इतनी स्थान नहीं घेरती जितनी असम्बंधित वस्तुएँ और काव्य-चमत्कार की बातें।

(२) चरित्र-चित्रण

केशव की अधिकांश कथा पहले बीस प्रकाशों में समाप्त हो गई है; अतः चरित्र-चित्रण की दृष्टि से शेष प्रकाश महत्त्वहीन हैं। इन बीस प्रकाशों में कथा कम है, वर्णन अधिक है। जब कथा के सौष्ठव का ध्यान ही नहीं रखा गया, तो फिर चरित्र-चित्रण में विशेषता का विकास कैसे हो सकता है? फिर भी कथा के नाते पात्रों का कोई रूप बनता ही है। इस शीर्षक के नीचे हम उसे ही स्पष्ट करने की चेष्टा करेंगे।

राम—केशव के राम परब्रह्म और अवतार हैं ऐसा निर्दिष्ट है, परन्तु उनके चरित्र में राजकुमार और महाराजा राम को ही चित्रित किया गया है। इसीसे मर्यादा की वह भावना वहाँ नहीं है, जो तुलसी में है। राम विश्वामित्र के साथ बन में पहुँचते हैं तो कवि लिखता है—

कामबन राम सब वास तरु देखियो
नैनसुख दैन मन मैनमय लेखियो

(राम ने कामवन में पहुँच कर वहाँ के रहने वाले मुनियों के निवासस्थान और वृक्षों को देखा जो ऐसे सुन्दर थे कि आँखों को सुख मिलता था और मन कामनामय हो उठता था)। परन्तु राज-धर्म का इनके राम को पग-पग पर ध्यान है। ताड़का को मारना है परन्तु,

बान तानि राम पै न नारि जानि छाँड़ि जाय (तीसरा प्रकाश)

तब विश्वामित्र स्त्री-वध की पूर्व-कथाओं से उन्हें परिचित कराते हैं और कहते हैं—

> द्विज दोषी न विचारिये कहा पुरुष कह नारि
> राम विराम न कीजिये वाम ताड़िका तारि

तब राम ताड़का को मारते हैं। पात्रों के मनोगत भावों और भाषा के विषय में तो केशव बहुत स्वच्छन्द हैं। उनके राम भी अच्छी-अच्छी उत्प्रेक्षा कहते हैं—

> व्योम में मुनि देखिये अति लाल श्रीमुख साजहीं
> सिंधु में बड़वाग्नि की जनु ज्वालमाल बिराजहीं
> पद्मरागनि की किधौं दिवि धूरि पूरित सी भई
> सूर-वाजिन की खुरी अति तिक्षता तिनकी हई

(हे मुनि देखिये, लाल मुखश्री वाले सूर्य आकाश में कैसी शोभा दे रहे हैं, मानों समुद्र में बड़वाग्नि की ज्वालाओं का समूह एकत्र होकर विराज रहा हो। अथवा सूर्य के घोड़ों के अति तीक्ष्ण खुरों से पूर्ण की हुई पद्मराग मणियों की धूल से सारा आकाश प्रेरित-सा हो गया हो।)

इसी प्रकार श्लेष का प्रयोग भी उनको नहीं पचता। जनक-पुरी की प्रशंसा में कहते हैं—

> ति न नगरी ति न नागरी प्रति पद हंसक हीन
> जलज हार सोभित न जहँ प्रगट पयोधर पीन

जहाँ प्रतिपद=हर एक पैर में (२) पद पद पर
हंसक=(१) बिछुआ (२) हंस और जल
जलज=(१) मोती (२) कमल
पयोधर=(१) कुच (२) जलाशय
पीन=(१) पुष्ट (२) बड़े-बड़े

ये स्थल इसलिए उद्धृत किये गये है कि केशव के धर्म-विलास से चरित्र-चित्रण मिलाना अस्वाभाविक हो गया है, इसका आभास मिल जाय। केशव अपने पात्रों को अपनी उँगली पर नचाते हैं,

स्वयं राम के चरित्र को उनके कर्मों द्वारा प्रकट ही नहीं होने देते; परन्तु विश्वामित्र के मुँह से जनक के प्रति कहलवा भर देते हैं—

दानिन के शील, पर दान के प्रहारी, दिन
दानवारि ज्यों निदान देखिये सुभाय के
दीप दीपहू के अवनीपन के अवनीप,
पृथु सम केशोदास दास द्विज गाय के
आनन्द के कन्द सुरपालक से बालक ये,
परदार प्रिय, साधु मन बच काय के
देह धर्म धारी पै विदेह राज जू से राज,
राजत कुमार ऐसे दशरथ राय के

इससे उनकी राम-विषयक मान्यता तो प्रकट होती है; परंतु घटना और व्यवहार की दृष्टि से यह चरित्र नहीं फूटता।

परशुराम-प्रसंग में राम का राजकुमार-योग्य नम्र व्यवहार देखने लायक है—

राम देखि रघुनाथ, रथ ते उतरे वेगि दै
गहे भरथ को हाथ, आवत राम विलोकियो
सह भरत लक्ष्मण राम। चहुँ किये आनि प्रणाम
भृगुनन्द आशिष दीन। रण होहु अजय प्रवीन

परन्तु अंत में जब परशुराम विश्वामित्र पर व्यंग्य करते हैं तो राम क्रुद्ध होकर युद्ध के लिए तत्पर हो जाते हैं; शिव जी के वहाँ पर प्रकट होने से अनर्थ होते होते बच जाता है। जैसा हमने अन्य स्थल पर प्रकट किया, इस सारे प्रसंग में केशव ने सचेष्ट होकर मौलिक बनने की चेष्टा की है, परन्तु वे राम के चरित्र का किसी प्रकार विकास नहीं कर सके। तुलसीदास ने इसी प्रसंग में राम का कहीं सुन्दर चित्रण किया है।

इस प्रसंग के बाद राम-चरित्र-चित्रण के लिए दूसरा अवसर आता है अयोध्याकांड में, परन्तु वहाँ तो केशव राम को दशरथ और कैकेयी के सामने तक उपस्थित नहीं करते। पिता ने वर दिया है—

उठ चले विपिन कहँ सुनत राम
तजि तात मात तिय बन्धु धाम

परन्तु आगे चल कर कवि औचित्य की सीमा का उल्लंघन कर राम से दुखी माता को नारिधर्म का उपदेश दिलवाता है और यहाँ तक कि भावी निर्देश के लिए उनके मुँह से विधवा वर्णन भी करा देता है। इससे उनकी अस्वाभाविक चित्तवृत्ति का ही पता चलता है जो अक्षम्य है। राम-जानकी सम्वाद लक्ष्मण के सामने हो रहा है; परन्तु केशव कहे डालते हैं—

सुनि चंदवदनि गजगमिन ऐनि, मन रुचै सो कीजै जलजनैनि

यहाँ वन के दुख लक्ष्मण बताते हैं, राम नहीं।

बाद की चित्रकूट आदि की सारी कथा एक प्रकाश में ही कह डाली है। इसमें राम का चित्रण कहाँ हो सकता है? यहाँ वे भरत से अपनी बात पर हठ तो करवाते हैं; पर गंगा अवतीर्ण होकर सब शान्त कर देती हैं। इस प्रकार अयोध्याकाण्ड में (जो रामकथा के पात्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि में अमूल्य है) कथा सूचनिका मात्र रह जाती है।

चित्रकूट में राम-सीता के संयोग शृंगार का वर्णन राम के चरित्र को गिराता ही है, उठाता नहीं। तुलसी ने इस प्रसंग पर मौन रह कर काव्य-मर्मज्ञता का ही परिचय दिया है।

बालि-वध की नीति को राजनीति की ओट में करने की चेष्टा की है—

अति सज्जति बानर की लघुताई
अपराध बिना वध कौन बड़ाई

हति बालिहिं देउँ तुमहिं नृप सिच्छा
अब है कछु मो मन ऐसिय इच्छा

परन्तु बालि के पूछने पर—

मैं शरणागत हिते हते प्रान

शेष चरित्र में राजनीतिज्ञ की कुशलता के अतिरिक्त कोई नवीनता नहीं है। यहाँ सीता स्वयं अग्नि में प्रवेश करती हैं। राम ने न कोई कटु वचन कहे, न इस प्रकार की इच्छा ही प्रकट की है। परन्तु इन छोटी-मोटी बातों से चरित्र में कोई विशेषता नहीं आती। अंत में कवि राम के ब्रह्म-स्वरूप का उद्घाटन कर देता है—

राम सदा तुम अंतरयामी
लोक चतुर्दश के अभिरामी
निर्गुण एक तुम्हें जग जानै
एक सदा गुणवन्त बखानैं
ज्योति जगै जग मध्य निहारी
जाय कही न सुनी न निहारी
कोउ कहै परिमान न ताको
आदि न अन्त न रूप न जाको

यही नहीं बल्कि और भी आगे बढ़ जाते हैं—

गुण सत्व धरे तुम रच्छत जाको
अब विष्णु कहै सगरो जग ताको
तुमही जग रुद्र सरूप सँहारो
कहिये तेहि मध्य तमोगुण भारो

× × ×

तुमही धर कच्छप वेष धरो जू
तुम मीन ह्वै वेदन को उधरो जू

तुम ही जग यज्ञवराह भये जू
छिति छीनि लई हिरनाछ हये जू
तुम ही नरसिंह को रूप सँवारो
प्रहलाद को दीरघ दुःख विदारो
तुमही बलि बावन वेष छलो जू
भृगुनन्दन ह्वै छितिछत्र दलो जू
तुमही यह रावण दुष्ट सँहारयो
धरणी महँ बूड़त धर्म उबारयो
तुम ही पुनि कृष्ण को रूप धरोगे
हति दुष्टन को भुवभार हरोगे
तुम बौध सरूप दशाहिं धरोगे
पुनि कल्कि ह्वै म्लेच्छ समूह हरोगे

परन्तु सारे कथा-भाग में इस महत्ता का विकास होता कब है? वास्तव में अपने युग की राम की ब्रह्म-भावना को केशव एकदम छोड़ नहीं सकते हैं, वे जनता की भक्ति-भावना को दृष्टि की ओट कर सकते थे। इससे उनका महाराज राम का राजसी चरित्र भी अधूरा रह गया। उन्हें कथा के अंत में कई प्रकाश अलग से राम की राज-विभूति दिखाने लिए लिखने पड़े। इस लक्ष्य भेद के कारण उनके राम न ब्रह्म हैं, न अवतारी, न पूर्ण रूप से महाराज, न लीला-पुरुष। पग-पग पर नवीनता का आग्रह करने के कारण केशव एकांतत असफल रहे हैं।

भरत—भरत के चरित्र का चित्रण तुलसी में अयोध्याकांड उत्तरार्द्ध का विषय है। तुलसी के पूर्व के किसी कवि ने उसे इस विस्तार, इस तन्मयता और सजीवता से नहीं कहा। केशव ने सारे प्रसंग को संक्षेप में रखा है। भरत की राम-विषयक भक्ति एक पंक्ति से भी प्रकट नहीं होती। हाँ, केशव ने भरत को परशु-राम सम्वाद लाने और लक्ष्मण की भाँति उद्धत बनाने की चेष्टा

की है। इस मौलिकता से कुछ लाभ नहीं हुआ। भरत के लोक विश्रुत चरित्र के सामने यह प्रसंग ही अस्वाभाविक हो उठता है।

शत्रुघ्न—परशुराम प्रसंग में शत्रुघ्न का भी चित्रण है। वे उद्धत साहसी राजकुमार भर हैं।

लक्ष्मण—इनके चित्रण का मुख्य स्थान परशुराम-प्रसंग है और वहाँ भरत आदि का प्रवेश होने से लक्ष्मण की एकांत महिमा घट गई है। वीर साहसी नवयुवक राजकुमार के रूप में ही वे उपस्थित हैं। इस प्रकार का चरित्र परम्परा से ही प्राप्त हो गया है।

दशरथ—केशव में दशरथ का चरित्र-चित्रण केवल एक स्थल पर आता है जब विश्वामित्र राम को माँगने के लिए आते हैं। वे अवधपुरी के वैभव के वर्णन से परोक्ष में राजा दशरथ का वर्णन कर देते हैं। परन्तु दशरथ के हृदय को, उनके पुत्र को, रामभक्ति को उन्होंने कहाँ समझा है। अयोध्या के पूर्वार्द्ध कथा भाग में दशरथ का ही चारित्रिक एवं मानसिक संघर्ष है। वह यहाँ कहाँ है—सारे प्रसंग को दो-चार पंक्तियों में ही भर दिया गया है—

दसरत्थ महा मन मोद रये
तिन बोलि बशिष्ठ सों मन्त्र लये
दिन एक कहो सुभ सोभ रयो
हम चाहत रामहिं राज दयो
यह बात भरत्थ की मातु सुनी
पठऊँ बन रामहि बुद्धि गुनी
तेहि मन्दिर में नृप को विनयो
बर देहु हुतो हमको जु दयो
नृप बात कही हँसि हेरि हियो
बर माँगि सुलोचनि मैं जु दियो

नृपता सु विसेस भरत्थ लहैं। बरषैं बन चौदह राम रहैं
यह बात लगी उर बज्र तूल। हिय फाट्यो ज्यों जीरन दुकूल
तजि तात मातु पिय बन्धु राम।

ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय ?

कैकेई—राम-कथा की सबसे अधिक मनोवैज्ञानिक समस्या कैकेई का चरित्र जरा भी प्रस्फुटित नहीं हुआ है। वरदान माँग लेने का उल्लेख मात्र है; परन्तु उसकी किसी प्रकार की प्रतिक्रिया परिणत नहीं है।

कौशल्या—कौशल्या तुलसी की आदर्श राम माता नहीं। वे राम से जो कहतीं हैं उसमें उसका सपत्नी द्वेष और दशरथ के प्रति शिष्टता-हीन क्रोध स्पष्ट हो जायगा। मर्यादाभाव के समर्थक तुलसी क्या कौशल्या के इस हीन असंस्कृत कथन की कल्पना भी कर सकते थे—

रहौ चुप ह्वै सुत क्यों बन जाहु
न देखि सकैं तिनके उर दाहु
लगी अब बाप तुम्हारेहि बाय
करैं उलटी बिधि क्यों कहि जाय

स्पष्ट है कि चरित्र-चित्रण के क्षेत्र में केशव की क्षमता पंगु रही है और उसने अनिष्ट ही अधिक किया है।

सुमित्रा—अनुपस्थित है।

सुग्रीव और बालि—विशेष चित्रण नहीं। बालि ने राम को वध के लिए जो उलाहना दिया है वह भी शरणागत-वत्सलता कह कर दूर किया है। बालि ने सुग्रीव-पत्नी (तारा) पर बलात्कार किया।

रावण—रावण राजा है, इस नाते कुछ विशेषताएँ लाई गई हैं। केशवदास का रावण (१) वाक्-पंडित है, (२) राजधर्म का

जानने वाला है, (३) अमित ऐश्वर्य का स्वामी है, (४) अहंवादी योद्धा है। उसके वाक् विलास के लिए रावण-अंगद-सम्वाद और युद्ध में राम से वार्तालाप देखने योग्य है। रावण सीता को भाँति-भाँति के राम के रूप दिखाता है। तुलसी ने मर्यादा भावना और शिष्टता के नाते इस प्रसंग का विस्तार नहीं किया है। अंगद-सम्वाद से उसकी राजनीति-पटुता भी झलकती है। परन्तु इन कुछ स्थलों से काव्य विशेष अनुप्राणित नहीं होता।

अन्य चरित्र—अन्य चरित्रों में वाल्मीकि के इन्हीं चरित्रों से कुछ भी विशेषता नहीं है।

वास्तव में केशव को वाग्विलास प्रिय है। उनके अधिकांश पात्र व्यर्थ में वाग्जाल रचते हैं। राम, रावण, लक्ष्मण—सभी कहीं कुछ कहने से नहीं चूकते। राज-दरबार की शून्य पांडित्य से भरी श्लेषपूर्ण वाणी पग-पग पर आपको मिलेगी—परन्तु किसी चरित्र को विशेष वाक्पटु बना देने से ही उसमें कोई नवीनता नहीं आ जाती। इसलिए हम कहते हैं कि चरित्र-चित्रण की दृष्टि से रामचंद्रिका आश्चर्यजनक रूप से असफल है। जो कवि कथा को ही सुचारु रूप से विकसित नहीं कर सका, उससे चरित्र-चित्रण में साफल्य की आशा ही क्या की जाय।

३—रस

रामचंद्रिका निश्चय ही उस प्रकार भक्ति-ग्रन्थ नहीं है, जिस प्रकार रामचरित-मानस है। उसमें लौकिक रस के ऊपर किसी भी आध्यात्मिक रस की प्रतिष्ठा नहीं है। अतः उसे काव्यशास्त्र के अंतर्गत रसों के सामने रख कर ही विचार करना ठीक होगा। भूमिका-स्वरूप यह कह देना उचित है कि—

१—छंदों के पग-पग पर बदलने से रस-परिपाक में बाधा ही नहीं पड़ी है, उसका बहुत कुछ अभाव हो गया है।

२—केशव की दृष्टि चमत्कार और पांडित्य-प्रदर्शन पर अधिक है, जिनका रस से किसी प्रकार सम्बन्ध नहीं है। ये वस्तुएँ हृदय को उद्वेलित नहीं कर सकतीं, भले ही मस्तिष्क को चमत्कृत कर दें। चमत्कार-प्रदर्शन के लिए अलंकारों पर दृष्टि रखी गई है और पांडित्य प्रदर्शन के लिए धर्म-नीति और राजनीति को चुना गया है।

३—केशव के काव्य का रूप छंद के बदलने के कारण कुछ नाटकीय तो अवश्य हो गया है; परन्तु मूल रूप से वर्णनात्मक है। जिस प्रकार के अनेक वर्णन रामचंद्रिका में हैं, उनसे किसी भी रस की सृष्टि नहीं होती।

इस साधारण कथन के बाद अब हम केशव के रस-निरूपण पर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

रामचंद्रिका में वात्सल्य का नाम भी नहीं है; यद्यपि लवकुश प्रसंग में इसकी योजना हो सकती थी। केशव ने राम के वयस्क रूप को ही सामने रखा है; अतः स्वयं राम की बाल-क्रीड़ा का वर्णन तो हो ही नहीं सका है। करुण-रस के प्रसग तो कई आए हैं, जैसे, वनगमन, दशरथ-मरण, सीता-निर्वासन और लक्ष्मण-शक्ति घात के प्रसंगों में; परन्तु केशव उनसे लाभ उठा नहीं सके। इस कोमल रस को छूने की क्षमता उनमें नहीं थी। युद्ध के प्रसंग में वीर, रौद्र और भयानक रसों का निरूपण हुआ है; यद्यपि छन्दों की शृङ्खला में उनका स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता। शांत रस की प्रचुर मात्रा धर्म-ज्ञान-सम्बन्धी पदों में मिलती है; परन्तु ग्रन्थ का मूलभाव शान्त-रस से सम्बन्धित न होने के कारण इस रस का परिपाक भी नहीं हो सका है।

रामचंद्रिका में शृङ्गाररस में संयोग और वियोग अगों का सुन्दर चित्रण है। यद्यपि केशव प्रसन्नराघव से परिचित हैं, परन्तु वे पूर्वराग के प्रसंग को नहीं लेते—शायद इसलिए छोड़ देते हैं कि उसे राज्योचित नहीं समझते। तुलसी की तरह वे भी शृङ्गार में मर्यादा का पालन करते हैं। उद्दीपन के रूप में प्रकृति का प्रयोग विशद हुआ है और विरह की उन्माद दशा के सुन्दर चित्र हैं। यह अवश्य है कि श्लेषों की भरमार ने विरह-वर्णन को कुण्ठित कर दिया है; परन्तु यह तो केशव की मूल प्रवृत्ति ही थी। जो हो, शृङ्गार केशव का प्रकृत-क्षेत्र था और उसके चित्रण में केशव को सफल होना ही चाहिए था। संयोग के लिए रामचरित-मानस से अधिक स्थान है—राजा राम की दिनचर्या में शृङ्गार की योजना की गई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि केशव संयोगशास्त्र में भी मर्यादित रहे हैं।

रामचंद्रिका का विषय रामकथा है; परन्तु तुलसी की भाँति नहीं। केशव राजा राम और राजरानी सीता को चित्रित कर रहे हैं; अतः उनके आहार-विहार भी राज के ऐश्वर्य से भरे हैं; इसी-लिए वे शृङ्गार को स्थान देते हैं। वास्तव में शृङ्गार की ओर उनका स्वाभाविक आग्रह था। इसीसे उन्होंने कथा के शृङ्गार रस-पूर्ण प्रसंगों पर लेखनी खूब चलाई है। शृङ्गार-साहित्य सम्बन्धी सारा पांडित्य भर दिया है। फिर भी केशव कुछ सतर्क अवश्य हैं। इसका कारण भक्तिभावना नहीं है, उनके युग की रामसीता के सम्बन्ध में मान्यता है। सम्भव है तुलसी का प्रभाव हो।

शृङ्गाररस का आलंबन नायक और नायिका का सौन्दर्य है। पहले हम इसे ही लेंगे। केशव ने राम के सौन्दर्य की इस प्रकार वर्णन किया है—राम का नख-शिख-वर्णन पलकाचार के समय हुआ है जो इस प्रकार है—

गंगाजल की पाग सिर सोहत श्री रघुनाथ
शिवसिर गङ्गाजल किधौं चंद्र चंद्रिका साथ
कछु भृकुटि कुटिल सुवेश । अति अमल सुमिल सुदेश
विधि लिख्यो शोधि सुतंत्र । जनु जयाजय के मंत्र
जदपि भृकुटि रघुनाथ की कुटिल देखियत जोति
तदपि सुरासुर नरन की निरखि शुद्ध गति होति
श्रवण मकर कुण्डल लसत मुख सुखमा एकत्र
शशि समीप सोहत मनो श्रवण मकर नक्षत्र
अति बदन शोभ सरसी सुरंग। तहँ कमल नैन नासा तरंग
जनु युवति चित्त विभ्रम बिलास। तेइ भ्रमर भँवत रस रूप आस
सोभिजति दंत रुचि सुभ्र उर आनिये
सत्य जनु रूप अनुरूपक बखानिये
ओठ रुचि रेख सविशेष सुभ श्रीरये
सोधि जनु ईश सुभ लक्षण सबै दये
ग्रीवा श्री रघुनाथ की लसति कंबु बर वेष
साधु मनो वच काय की, मानो लिखी त्रिरेख
सोभन दीरघ बाहु विराजत। देव सिहात अदेवन लाजत
बैरिन को अहिराज बखानहु। है हितकारिन की धुज मानहु
यों उर में भृगु लात बखानहु। श्रीकर को सरसीरुह मानहु
सोहत है उर में मणि यों जनु। जानकि को अनुराग रह्यो मनु
सोहत जनरत राम उर देखत तिनको भाग
आय गयो ऊपर मनो अन्तर को अनुराग

(श्री रघुनाथजी के सिर पर यह गङ्गाजल की पगड़ी है, या शिवजी के सिर पर सचमुच गङ्गाजल ही है जिसमें चंद्रमा की किरणों की छटा भी संयुक्त है। भौंहें किंचित टेढ़ी, सुन्दर, निर्मल, सुचिक्कन तथा उचित लम्बी-चौड़ी हैं। जैसे ब्रह्मा ने स्वच्छन्दता-पूर्वक संशाधित करके अपने हाथ से दूसरों को जीतने और स्वयं

अजित रहने के मंत्र लिख दिये हैं। यद्यपि रघुनाथ जी की भृकुटि की छवि देखने में टेढी है, तो भी उससे सुर, असुर और मनुष्यों को शुद्धगति होती है। कानों में मकराकृत कुण्डल शोभा दे रहे हैं और मुख की शोभा भी वहीं एकत्र हो रही है। ऐसा मालूम होता है मानो मकर के अन्तर्गत श्रवण नक्षत्र में चंद्रमा शोभा दे रहा है। उनके मुख की शोभा एक अत्यंत निर्मल पुष्करिणी है। उसमें नेत्र ही कमल है और नासिका ही तरंगें हैं और इस शोभा पुष्पकारिणी पर युवतीजनों के जो चित्त कौतुक से भ्रमण करते हैं, वे ही रूप रूपी मकरंद की आशा से मँडराते हुये भँवर हैं। दाँतों की कांति सत्य के रूप की प्रतिमा है। ओठों की दमक से जान पड़ता है, ब्रह्मा ने ढूँढ़-ढूँढ़ कर समस्त लक्षण उन्हीं होठों को दिये हैं। गला शङ्खाकृति है। वह मन, वच, क्रम तीनों से साधु है, मानो इसके प्रमाण में उसमें ब्रह्मा ने तीन रेखाएँ दी हैं। सुन्दर बाहुओं को देखकर देव-अदेव शरमा जाते हैं। शत्रु के लिए विषधर सर्प हैं, मित्रों के लिये ध्वजा। उर पर जो पदक मणि है, वह मानों उनके हृदय की भक्तवत्सलता ही ऊपर आ गई है)

इसी प्रकार सीता के सौन्दर्य का भी विशद वर्णन है। केशव ने सीता के सौन्दर्य की व्यंजना ही की है, नायिका के रूप में उनका नखशिख नहीं लिखा। इस व्यंजना के लिए नये ढंगों का प्रयोग किया है—

(१) प्रतीक द्वारा सौन्दर्य की सृष्टि—

को है दमयंती इन्दुमती रति रातिदिन, होहिं न छबीली छनछवि जो सिंगारिये। केशव लजात जलजात जातवेद ओप, जातरूप बापुरो विरूप सो निहारिये॥ मदन निरूपम निरूपन निरूप भयो चंद बहुरूप अनुरूप कै विचारिए। सीता जी के रूप पर देवता कुरूप को हैं, रूप ही के रूपक तो वारि वारि डारिये॥

(२) रामसीता के आभूषण उन विविध पशुपक्षियों को पह-नाते हैं जो स्त्री अंगों के उपमान-स्वरूप काव्यरूढ़ि में प्रचलित हैं। ११वें प्रकाश के अंतर्गत सीता के गानवाद्य के प्रभाव का वर्णन इसी ढंग का है—

जब जब धरि बीना प्रकट प्रवीना बहुगुन लीना सुख सीता
पिय जियहि रिझावै दुखनि भजावै विविध बजावै गुन गीता
तजि मति संसारी विपिन बिहारी सुख दुख कारी घिरि आवै
तब तब जग भूषण, रिपुकुल दूषण, सबको भूषण पहिरावै
कबरी कुसुमानि सखीन दई। गज कुम्भनि हारनि शोभ भई
मुकुता सुक सारकि नाक रचे। कटि केहरि किंकिणि शोभसचे
दुलरी कल कोकिल कंठ बनी। मृग खंजन अंजन शोभ घनी
नृप हंसनि नूपुर शोभ भरी। कलहंसनि कंठनि कंठसिरी
मुखवासिन वांछित कीन तबै। तृण गुल्म लता तरु सैल सबै

सीता के हरण के अवसर पर भी इसी शैली के एक परिवर्तित रूप का प्रयोग है—

सरिता इक केशव सोभ रई। अवलोकि तहाँ चकवा चकई
उर मे सिय प्रीति समाय रही। तिनसों रघुनायक बात कही
अवलोकत है जबही जबहीं। दुख होत तुम्हे तबहीं तबही
वह बैर न चित्त कछू धरिये। सिय देहु बताय कृपा करिये
शशि को अवलोकन दूर किये। जिनके मुख की छवि देखि जिये
कृति चित्त चकोर कछूक धरो। सिय देहु बताय सहाय करो
(१२वाँ प्रकाश)

(३) केशव सखियों के असीम सौन्दर्य और नखशिख का वर्णन करके सीता के सौन्दर्य की व्यंजना करते हैं—

तहँ सोभिजै सखि सुन्दरी जनु दामिनी मब पुण्डिकै
घनश्याम को तनु सेवही जड़ मेघ ओघन छण्डिकै

चक्र अंग चर्चित चारुचंदन चंद्रिका तजि चद को
जनु राहु के भय सेवही रघुनाथ आनद-कद को
मुख एक है नत लोक-लोचन लोल लोचन कै हरै
जनु जानकी संग सोभिजै शुभ लाज देहहि को धरै
तहँ एक फूलन के विभूषन एक मोतिन के किए
जनु छीरसागर देवता तन छीर छीटनि को दिए

पहिरे वसन सुरग, पावक सुत स्वाहा मनो
सहज सुगधित अग, मानहु देवी मलय की

(छठवाँ प्रकाश)

३१वें प्रकाश में रनिवास बाग में जाता है तो राम छिपकर रनिवास की स्त्रियों की बनबहार देखते हैं। यहाँ शुक नाम का एक दास राम से सखियों का "नख-शिख" कहता है। पूरा प्रकाश व्यंजना से सीता के सौन्दर्य को ही अंकित करता है।

(४) मार्ग में स्त्रियाँ सीता के मुख सौन्दर्य का वर्णन उसी प्रकार करती हैं जैसे तुलसी के 'मानस' में। रामचन्द्रिका मे संयोग और विप्रलंभ दोनों का वर्णन है। संयोग शृङ्गार में पूर्वराग की कल्पना नहीं है, वह "प्रसन्नराघव" के आधार पर "मानस" में है। वनगमन के समय संयोग का थोड़ा चित्रण है —

कहुँ बाग तड़ाग तरगिनि तीर तमाल की छाँह बिलोकि भली
घटिका थक बैठत हैं सुख पाय बिछाय तहाँ कुस काँस थली
मन को श्रम श्रीपति दूर करैं सिय को शुभ वाकल अञ्चल सों
श्रम तेउ हरैं तिनको कहि केशव चञ्चल चारु दृगञ्चल सों

(नवाँ प्रकाश)

पंचवटी-प्रसंग (११वाँ प्रकाश) के सीता के गानवाद्य में भी सयोग का ही चित्रण है। इसके अनन्तर ३०वें प्रकाश से ३२वें प्रकाश

तक संयोग का ही चित्रण है; साथ ही राम के ऐश्वर्य का भी चित्रण हो जाता है। सारा संयोग शृङ्गार मर्यादित है। उस पर कृष्णकाव्य की विशेष छाया नहीं पड़ी जान पड़ती। सीताराम के केलि विलास का चित्रण केशवदास का ध्येय नहीं है।

विप्रलंभ शृङ्गार का प्रारम्भ सीताहरण (१२वाँ प्रकाश) से होता है। राम-वियोग-प्रलाप, पंपासर-वर्णन वर्षाशरद्-वर्णन, हनुमान-सीता-संवाद, राम का विरह-वर्णन—इन सबमें विप्रलंभ कथा को लेकर ही प्रस्फुटित हुआ है। वास्तव में राम-कथा में विप्रलंभ चित्रित करने के मार्मिक प्रसंग हैं। केशव ने इनसे लाभ उठाया है।

४—अलंकार

केशव 'अलंकारवादी' हैं—'चमत्कार' उन्हें विशेष प्रिय है—इससे उनके काव्य में अलंकारों को रस की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिला है। सच तो यह है कि अलंकारों की प्रचुरता और उसके असंयमित व्यवहार के कारण केशव का काव्य क्लिष्टता से दूषित हो गया है और उसमें रस का एकदम अभाव हो गया है।

केशव को दो प्रकार के अलंकार प्रिय हैं—(१) जो उनके पांडित्य को संतुष्ट कर सकें। श्लेष, परिसंख्या और रूपक इस इस प्रकार के अलंकार हैं। (२) जो उनकी कल्पना को मूर्त कर सकें। उत्प्रेक्षा इसी श्रेणी में आती है। अन्य प्रिय अलंकार है—उपमा, परिकुरांकुर, संबधातिशयोक्ति, विरोधाभास, अपन्हुति, मुद्रालंकार। वैसे अनेक अन्य अलंकार भी उपस्थित किये जा सकते हैं। यह समझ लेना होगा कि केशव की रचनाओं में अलंकार का प्रयोग भावपुष्टि के लिए न होकर स्वतः अलंकार के लिए हुआ है।

केशव का सबसे प्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है; क्योंकि इस अलंकार के प्रयोग से कल्पना को बेपर की उड़ानें मारने का अच्छा मौक़ा मिलता है। जहाँ किसी की भी कल्पना नहीं पहुँच सकती, वहाँ उनकी कल्पना पहुँच जाती है। उनकी उत्कट कल्पना के नमूने रामचन्द्रिका के किसी भी पन्ने को उलट कर देखने से मिल सकते हैं। यहाँ एक दो ही उदाहरण काफी होंगे—

लंका में आग लगी है—

कञ्चन को पघल्यो पुर पूर पयोनिधि में पसर्‌यो सो सुखी है
गंग हजारमुखी गुनि केशो गिरा मिमि मानों अपार मुखी है

अग्नि के बीच बैठी हुई सीता को देखकर उद्दीप्त हुई केशव की कल्पना अत्यन्त चमत्कारक है—

महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी, कि संग्राम की भूमि में चद्रिका सी
मनो रत्नसिंहासनस्था सची है, किधौं रागिनी रागपूरे रची है
—

पुस्तक में आगे बढ़ते चले जाइये, सारा वर्णन चमत्कार से परिपूर्ण मिलेगा; पर केशव की कल्पना मस्तिष्क की उपज है हृदय-जात नहीं। इससे कभी-कभी इनकी कल्पना ऐसे दृश्यों को अलंकार के रूप में सामने रखती है, जिसने प्रस्तुत वस्तु का असली स्वरूप कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं होता; पर जिसे प्रत्यक्ष करना अलंकारों का मुख्य उद्देश्य है। × × ×'

'वे एक जगह रामचन्द्र की उपमा उल्लू से दे गये हैं—बासर की संपति उलूक ज्यों न चितवत—और कहीं-कहीं पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तु में कुछ भी समानता नहीं होती, केवल शब्दसाम्य के बल पर ही अलंकार गढ़ लिये गये हैं, जैसे पंचवटी के वर्णन में।' इस शब्दसाम्य के कारण कहीं कहीं पर तो केशव के पद्य बिलकुल पहेली हो गए हैं, खासकर वहाँ जहाँ उन्होंने सभंगपद-श्लेप के द्वारा एक ही पद्य में दो-दो तीन-तीन अर्थ ढूँढ़ने का

प्रयत्न किया है। कहीं-कहीं तो अनुप्रास के अनुरोध से वे मर्यादा से भी विचलित हो गए हैं। राम के ऐश्वर्य के सम्बन्ध में एक जगह उन्होंने लिखा है—

वासर की सम्पति उलूक ज्यों न चितवत

इसी तरह दूसरी जगह

काकौ घर घालिबे को बसे कहाँ घनश्याम
घूघू ज्यौं घुसत प्रात मेरे गृह आए हो

प्रातःवंदनीय अवतारों को 'उलूक' और "घूघू" बनाने का साहस किस हिन्दू कवि को होगा, विशेषकर उस समय जब वह स्वयं अपने को इतना भक्त घोषित करता हो।

५—छंद

रामचंद्रिका में केशव ने पिंगल के लगभग सभी छन्दों का प्रयोग किया है जिससे उनका ग्रन्थ उदाहरण-ग्रन्थ हो गया है। पहले प्रकाश में एक वर्णिक छन्द से लेकर अष्ट वर्णिक छन्द तक मिलते हैं। इस प्रकार का प्रयास है कि सारे छन्दों में कथा कही जाय। संस्कृत में भट्टिकाव्य और राघवविजय ऐसे ग्रन्थ हैं जिनमें कवि रामकथा कहता है; परन्तु वस्तुतः उसका विषय अलंकार के उदाहरण उपस्थित करना है। यद्यपि केशव ने रामचन्द्रिका में अलंकारों को भी निरूपित किया है; परन्तु उनका विशेष ध्यान छन्द पर ही है। छन्द अधिक नहीं हैं, इसलिए कुछ छन्द कई बार उपस्थित हैं। इसी तरह का एक प्रयत्न "रघुनाथ गीतांरो" डिंगल ग्रन्थ है। इसमें भी छन्दों के उदाहरण में रामकथा कही गई है। केशव इस प्रकार के प्रयत्नों से परिचित अवश्य थे; अतः उन्होंने काव्य-कुशलता को रामकथा के मत्थे मँढ़ने की चेष्टा की। उन्होंने छन्द ही तक अपने को सीमित

न रखकर अलंकारों, काव्य-दोषों, काव्य-गुणों, व्यंग्य सभी के उदाहरण एक ही ग्रन्थ में उपस्थित कर दिये।

६—व्यंग्य

केशव सुन्दर व्यंग्य-काव्य लिखते हैं—वास्तव में यदि इस ओर उनकी प्रतिभा अधिक आकृष्ट हुई होती, तो अच्छा होता। राम के ब्याह के समय नारियों की गालियाँ और अंगद-रावण सम्वाद इस बात के साक्षी हैं।

७—रामचंद्रिका में सम्वाद

केशव अपने सम्वादों के लिए प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है कि जिस तरह के सम्वाद केशव ने लिखे हैं, उस तरह के सम्वाद किसी अन्य कवि ने नहीं लिखे, तुलसीदास ने भी नहीं। यह अवश्य है कि सम्वाद लिखने के लिए लेखक को ऊँचे दरजे का व्यवहार-ज्ञान होना आवश्यक है। वह व्यवहार-ज्ञान ऐसे ही कवि में विशेष रूप से हो सकता है जिसकी दृष्टि लोक-जीवन पर गहरी पड़ती हो और जो लोक-जीवन की धारा में ही बहता हो। सूरदास और तुलसीदास प्रभृति धार्मिक कवियों के लिए लोक-जीवन का ज्ञान उतना आवश्यक नहीं था, वे भक्त थे। उन्हें संसार के आचार-विचार और व्यवहार को लेकर क्या करना। इस पर भी उन्होंने अपने अपने क्षेत्रों में सम्वाद-लेखन में बड़ी कुशलता दिखाई है।

परन्तु केशव के सम्वाद उस श्रेणी के नहीं हैं, जिस श्रेणी के तुलसी और सूर के सम्वाद। तुलसी को अपने सम्वादों के लिए प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक का सहारा लेना पड़ा है। सूरदास का 'भ्रमरगीत' गोपी उद्धव-सम्वाद का काव्य ही है, परन्तु सम्वाद की अपेक्षा वहाँ "भाव" पर कवि की दृष्टि अधिक

है। केशव भी उन ग्रन्थों के लिए ऋणी हैं जिनके तुलसी; परन्तु उन्होंने वाग्चातुर्य, व्यंग्य, परिहास और अनेक मौलिक स्थलों की योजना स्वयं मौलिक रूप से की है।

जिन सम्वादों की आलोचकों ने विशेष रूप से प्रशंसा की है, वे ये हैं—(१) दशरथ-विश्वामित्र-वशिष्ठ-सम्वाद (दूसरा प्रकाश), (२) रावण-बाणासुर-सम्वाद (चौथा प्रकाश), (३) जनक-विश्वामित्र सम्वाद (पाचवाँ प्रकाश), परशुराम-सम्वाद (७वाँ प्रकाश), सूर्पनखा-राम-लक्ष्मण-सम्वाद (११वाँ प्रकाश), रावण-हनुमान-सम्वाद (१४वाँ प्रकाश), अङ्गद-रावण-सम्वाद (१६वाँ प्रकाश), लव-कुश-भरतादि-सम्वाद (१६वाँ प्रकाश)। छोटे-छोटे अनेक सम्वाद हैं; परन्तु वे महत्त्व-पूर्ण नहीं हैं। ऊपर लिखे सम्वादों में भी सुमति-विमति-सम्वाद, रावण-बाणासुर-सम्वाद, परशुराम-सम्वाद और रावण-अङ्गद-सम्वाद विशेष महत्त्व रखते हैं। पहले हम कथा का पहला सम्वाद 'दसरथ-विश्वामित्र-सम्वाद' की विवेचना करेंगे। केशव में यह सम्वाद इस प्रकार है—

बहु भाँति पूजि सुराथ। कर जोरि कै परि पाय
हँसिकै कह्यौ ऋषिमित्र। अब बैठु राज पवित्र

विश्वा०—

सुनि दान-मानस-हंस। रघुवंस के अवतंस
मन माँह जो अति नेहु। यक वस्तु माँगहि देहु

राजा०—

सुमति महामुनि सुनिये। तन धन कै मन गुनिये
मन महँ होय सु कहिये। धनि सु जु आपुन लहिये

विश्वा०—

राम गये जबते बन माहीं। राकस बैर करैं बहुधा हीं
रामकुमार हमैं नृप दीजै। तौ परिपूरण यज्ञ करीजै

राजा०—

अति कोमल केशव बालकता। बहु दुस्कर राकस घालकता
हमहीं चलिहैं ऋषि सग अबै। सजि सैन चलै चतुरंग सबै

विश्वा०—

जिन हाथन हठि हरष हनत हरिनी रिपुनन्दन
तिन न करत संहार कहा मदमत्त गयन्दन ?
जिन बेधत सुख लक्ष लक्ष नृपकुँवर कुँवरमनि
तिन बानन बाराह बाघ मारत नहिं सिंहनि
नृपनाथ नाथ दशरत्थ यह अकथ कथा नहिं मानिये
मृगराज-राजकुल-कलस कहँ, बालक, वृद्ध न जानिये

राजन में तुम राज बड़े अति
मैं मुख माँगों सुदेहु महामति
देव सहायक हो नृपनायक
है यह कारज रामहि लायक

राजा०—

मैं जु कह्यौ ऋषि देन सु लीजिय
काज करो हठ भूलि न कीजिय
प्राण दिये धन जाहि दिए सब
केशव राम न जाहिं दिये अब

ऋषि०—

राज तज्यो धन धाम तज्यो सब
नारि तजी सुत सोच तज्यो तब
आपनपौ तु तज्यौ जगबंद है
सत्य न एक तज्यो हरिचन्द है

(जान्यो विश्वामित्र के कोप बढ्यो उर आय
राजा दशरथ सों कह्यो, बचन वशिष्ठ बनाय)

वशिष्ठ—

इनहीं के तपतेज यज्ञ की रच्छा करिहैं
इनही के तपतेज सकल राक्षस बल हरिहैं
इनही के तपतेज तेज बढ़िहै तन तूरण
इनही के तपतेज होहिंगे मंगल पूरण
कहि केशव जययुत आइहैं इनही के तपतेज घर
नृप बेगि राम लछिमन दोऊ सौंपौ विश्वामित्र कर

इस प्रसङ्ग और सम्वाद की तुलना हम मानस से करते हैं तो हमें तुलसी और केशव के दृष्टिकोणों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। तुलसी कहते हैं—

दशरथ०—

(तब मन हरषि वचन कह राऊ)। मुनि अस कृपा न कीन्हिउ काऊ
केहि कारन आगमन तुम्हारा। कहहु सो करत न लावउँ बारा

विश्वा०—

असुर समूह सतावहि मोही। मैं जाचन आयउँ नृप तोही
अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचर बध मैं होव सनाथा
देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अग्यान
धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कहँ इन्ह कहँ अति कल्यान
(सुनि राजा अति अप्रिय बानी। हृदय कम्प मुख दुति कुम्हलानी)

दशरथ०—

चौथे पन पायेउँ सुत चारी। विप्र वचन नहिं कहेहु विचारी
माँगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्वस देउँ आज सह रोसा
देह प्रान ते प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष इक माँही
सब सुत प्रिय मोहि राम की नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं
कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा
(सुनि नृप गिरा प्रेमरस सानी। हृदय हरष माना मुनि ग्यानी)
तब वशिष्ठ बहुविधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा

अति आदर दोउ तनय बोलाए । हृदयँ लाइ बहु भाँति सिखाए
मेरे प्राननाथ सुत दोऊ । तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ
सौंपे भूप रिषिहिं सुत बहुविधि देइ असीस
जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस

दोनों सम्वादों की तुलना करने से स्पष्ट हो जाता है कि केशव के संवाद में तर्क है, तुलसी के संवाद में पितृ-हृदय। इसी कारण केशव का संवाद शुष्क है, तुलसी का संवाद रस से छलकता हुआ पात्र है। केशव के दशरथ विश्वामित्र से प्रणबद्ध हो जाते हैं, अतः जब ऋषि—

'सत्य न एक तजौ हरिचंद है'

की दुहाई देते हैं, तब राजा चक्कर में पड़ जाते हैं। वशिष्ठ उन्हें इस परिस्थिति से उबारते हैं। परन्तु तुलसी के संवाद में भीरु पिता का चित्रण है। भीरुता का कारण है पितृवत्सलता। उनका दुख यही है—

कहँ निसिचर अति घोर कठोरा। कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा

केशव के विश्वामित्र जहाँ पौराणिक क्रोधी विश्वामित्र हैं, वहाँ तुलसी के विश्वामित्र रामभक्त हैं, यद्यपि प्रच्छन्न। इसीलिए तो,

सुनि नृप गिरा प्रेम रस सानी। हृदय हरष माना मुनि ज्ञानी

यहाँ वशिष्ठ क्रोधी ऋषि के डर से राजा को नहीं समझाते। इस प्रकार प्रसंग में रामभक्ति एवं वत्सलरस की योजना कर तुलसी ने अपने सम्वाद को जो मधुरता दी है वह केशव के सम्वाद में जरा भी नहीं है।

केशव का हनुमान-रावण-सम्वाद व्यंग्य और वाग्वैदग्ध्य का सुन्दर उदाहरण है—

रावण—रे कपि कौन तू
हनु०— अक्ष को घातक दूत बली रघुनन्दनजू को
रावण—को रघुनन्दन रे

हनु०— त्रिशिरा खर दूषण-दूषण भूषण भू को
रावण—सागर कैसे तर्‌यौ
हनु०— जस गोपद
रावण— काज कहा ?
हनु०— सिय चोरहि देखो
रावण—कैसे बँधायो ?
हनु०— जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो

सारा सम्वाद इस एक मत्तगयद सवैया में है। इतने संक्षेप में इसे रखने के कारण क्लिष्टता आनी स्वाभाविक थी। परन्तु केशव तो प्रसादपूर्ण कथन जानते ही नहीं। इस छन्द में वे युक्ति-पूर्वक राम के माहात्म्य, रूप और बल का तथा रामभक्तों के आचरण का वर्णन करते हैं। राम का बल कैसा है—वे हजारों की सेना को एक पल में मार सकते हैं। माहात्म्य कैसा है—उनके सेवक अक्षय (अमर) को भी मार सकते हैं। रूप कैसा है—सारे संसार का भूषण है। रामसेवक संसार कैसे तरते हैं—जैसे गोपद। रामसेवक काम क्या करते हैं—केवल राम-सम्बन्धी कार्य। इस कथन में रामभक्तों के आचरण की कितनी सुन्दर व्याख्या है—"तू बंदी क्यों हुआ रे।" हनुमान कहते हैं—तेरी स्त्री को सोते हुए देख लिया। इसी पाप से बन्दी होना पड़ा। व्यंग्य है कि रामभक्त पर स्त्री को आँख से देखने को भी पाप समझते हैं और उसके दण्ड को योग्य जानते हैं। साधारण पाठक की समझ में यह व्यंजना नहीं आ सकती। इस प्रकार की उक्ति 'सूझ' का ही विषय है, वह मस्तिष्क की उपज है, हृदय की नहीं। सारे सम्वाद में न कोई रस है न कोई हृदयग्राही बात ही कही गई है। 'गागर में सागर' भरने के प्रयत्न में गागर भी खाली ही रह गई है।

तुलसीदास के हनुमान-रावण-सम्वाद में लोग कई प्रकार की त्रुटियाँ बताते हैं :

१—उसमें काफी गाली-गलौज है। हनुमान और रावण दोनों 'सठ', महाअभिमानी, अधम, मूढ़ आदि गालियों का प्रयोग करते हैं। जान पड़ता है दो गँवार लड़ रहे हैं, राजसभा नहीं है।

२—हनुमान-रावण का (जो शत्रु है) राम के परब्रह्म स्वरूप के सम्बन्ध में एक बड़ा प्रवचन है जो उनके दूतत्व की दृष्टि से असंगत और अवांछनीय है, जैसे इस प्रकार की उक्ति

रामचरन पकज उर धरहू। लंका अछत राज तुम्ह करहू

जिसमें हनुमान भक्ति का उपदेश दे रहे हैं; परन्तु तुलसी ने सारी रामकथा में सम्वादों में भी) रामभक्ति की व्याप्ति तो कर ही दी है। यह चाहे उनकी कमजोरी हो; परन्तु भक्ति-काव्य की दृष्टि से यहाँ उनका बल भी कहा जा सकता है। उन्होंने अपने सम्वाद पर स्वयं सूत्रबद्ध आलोचना लिख दी है—

भक्ति विवेक विरति नय सानी

परन्तु जहाँ तुलसी में ये सब त्रुटियाँ हैं, वहाँ कम-से-कम उनका एक मन्तव्य तो सध जाता है। रामभक्ति का एक सुन्दर उपदेश तो मिलता है। तुलसी का लक्ष्य भी तो यही है। केशव के सम्वाद में वाक्-चातुरी के सिवा और क्या है! हो सकता है कि राजदरबार में इस प्रकार के कूट-सम्वाद चलते हों; परन्तु उनसे किसी भी काव्य को गौरव नहीं मिल सकता। केशव को व्यंग्य प्रिय है। वह सरलार्थ की ओर जाते ही नहीं। इस कारण उनकी कल्पना शब्द-जाल को ही पंखों से बाँध कर उड़ने लगती है और हास्यास्पद हो जाती है।

इससे भी कहीं उत्कृष्ट सम्वाद अंगद-रावण-सम्वाद कहा जाता है जो १६वें प्रकाश का विषय है। वास्तव में जो लोग

केशव के सम्वादों की प्रशंसा करते हैं, उनका आधार यही होता है। यहाँ कवि ने भूमिका में ही लिखा है—

यह वर्णन है षोड़शे केशवदास प्रकाश
रावण अंगद सों विविध शोभित वचनविलास

यह 'वचनविलास' ही यहाँ ध्येय है। इस सम्वाद के कई गुण बताये जाते हैं—

(१) इसमें भावी की सूचना दी गई है जैसे—

लंकनायक को ? विभीषण देवदूषण को दहै
मोहि जीवित होहि क्यों ? जग तोहि जीवित को कहै

रावण पूछता है कि किस लंकनायक का दूत तुमने अपने को बताया ? वह लङ्कनायक कौन है ? हनुमान कहते हैं—वह विभीषण है, जो शत्रुओं के हृदय को जलाता है। व्यंग्य है कि तुमसे शत्रुता है तुम्हें भी जलायेगा। अङ्गद का यह कथन नितांत सत्य हुआ, क्योंकि रावण की दाह-क्रिया विभीषण ने ही की। रावण पूछता है—मेरे जीते जी वह लंकनायक कैसे होगा ? अङ्गद कहता है—संसार में तुझे जीवित कौन कहेगा (अर्थात् तू तो मृतक ही है—यह व्यङ्ग है।); परन्तु इस प्रकार कथासूत्र के आगामी अंशों का प्रच्छन्न प्रकाशन चाहे जिस दृष्टि से श्लाघ्य हो, वह सम्वाद को अनैसर्गिक बना देता है। कम-से-कम, वह कोई ऐसी चीज़ नहीं जो काव्यकला की दृष्टि से परखी जा सके।

(२) इस संवाद में रावण अंगद को अपनी ओर तोड़ लेने की भरसक चेष्टा करता है, जैसे—

नील सुखेन हनू उनके नल और सबै कपिपुंज तिहारे
आठहु आठ दिसा बलि दै अपनो पदु लै पितु जालगि मारे
तोसे सपूतहि जाय कै बालि अपूतन की पदवी पगु धारे
अंगद संग लै मेरो सबै दल आजुहिं क्यों न हतै बपुमारे

(हे अंगद! नील, सुखेन, हनुमान और नल चार ही वीर तो उनके पक्षपाती हैं और समस्त कपि-सेना तो तेरी ही है। अतः आठों को आठों ओर बलिदान करके तू अपने बाप को मारने का बदला ले। तुझसा सपूत पैदा करके बालि निपुत्रों की-सी गति को प्राप्त हो (धिक्कार है तुझे!)। अरे अंगद, यदि तू डरता है तो ले मेरी समस्त सेना को ले जाकर आज ही अपने बाप के हत्यारे को क्यों नहीं मारता।)

अंगद कहता है—

शत्रु सम मित्र हम चित्त पहिचानहीं
दूतविधि नूत कबहूँ न उर आनही
आप मुख देखि अभिलाष अभिलाषहू
राखि भुज सीस तब और कहँ राखहू

"हे रावण हम अपने शत्रु, मित्र और उदासीन लोगों को अपने मन में अच्छी तरह समझते हैं। तुम्हारी इस नवीन भेद नीति को मैं स्वीकार नहीं करता। अपना मुँह देख कर तब राम को मारने की अभिलाष करो, पहले अपने सिरों और भुजाओं की रक्षा कर लो, तब और की रक्षा करना।"

रावण फिर भी हतोत्साह नहीं होता, शायद अंतिम समय में अंगद पितृघाती के प्रति कठोर हो जाय। एक प्रयत्न और न कर लिया जाय। वह कहता है—

मेरी बड़ी भूल कहा कहौं रे
तेरो कह्यो दूत सबै सहौं रे
वै जो सबै चाहत तोहि मार्यौ
मारों कहा तोहिं जो दैव मार्यौ

यानी राम-सुग्रीवादि तो तुझे मुझसे मरवाना ही चाहते हैं, इसी लिए तुझे दूत बनाकर यहाँ भेजा है कि मेरे हाथों से मारा जाय। सो अब मैं तुझे क्या मारूँ, तुझे तो दैव ने ही मार रखा है

(शत्रुओं के बीच में रहता है, तो किसी-न-किसी दिन अवश्य मारा जायगा)।

परन्तु अंगद अब भी राम के पक्ष में दृढ़ हैं और रावण हताश होकर उससे इस विषय में बात करना ही छोड़ देता है।

तुलसीदास के रावण-अंगद-संवाद में एक बार फिर राम को मनुष्य मानने वाले रावण को गुरु-उपदेश दिलाया गया है और उनके परब्रह्म, सर्वभक्षी, सर्व-समर्थ रूप से परिचित कराया गया है—भक्तिकाव्य की दृष्टि से यह सब श्लाघ्य है!

रावण—कौन के सुत

अंगद— बालि के

रावण— वह कौन बालि न जानिये

अंगद—काँख चाँपि तुम्हैं जो सागर सात न्हात बखानिये

रावण—है कहाँ वह

अंगद— देवलोक

रावण—क्यों गयो ?

अंगद— रघुनाथ-बान-विमान बैठि सिधाइयो

तुलसी ने भी सम्वाद के प्रारम्भिक भाग को इसी प्रकार रखा है—

रावण—कहु निज नाम जनक कर भाई।

अङ्गद—अंगद नाम बालि कर बेटा। तासों कबहुँ भई होइ भेटा।

रावण— × × × रहा बालि बानर मैं जाना

अंगद ताहि बालिकर बालक। उपजेउ वंस अनल कुल घालक

यहाँ तक दोनों कवि हनुमन्नाटक के संवादों को ही लेकर चल रहे हैं; परन्तु बाद को दोनों की प्रवृत्तियों में भिन्न भिन्न लक्ष्य के कारण भेद हो जाता है। रामचरितमानस भक्ति-काव्य है,

अतः तुलसी आगे अंगद से रामभक्ति का उपदेश दिलाते हैं और राम के अवतारत्व की प्रतिष्ठा कराना चाहते हैं। उनका लक्ष्य इन शब्दों में स्पष्ट है

राम मनुज कस रे सठ बङ्गा। धन्वी कामु नदी पुनि गङ्गा
पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा। अन्न दान अरु रस पीयूषा
वैनतेय खग अहि सहसानन। चिंतामनि पुनि उपल दसानन
सुनु मतिमंद लोक वैकुण्ठा। लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा

परन्तु केशव केवल चमत्कार तक ही रह जाते हैं। उनका लक्ष्य बड़ा नहीं है; अतः राजदरबार के ज्ञान से मंडित होने पर भी उनके सम्वाद तुलसी की होड़ नहीं कर सकते। तुलसी के सम्वादों का एक लक्ष्य है, एक ध्येय है, केशव के सम्वाद स्वयं निष्ठ हैं, उनकी सार्थकता वे ही हैं। अंगद और रावण उनके काव्य में पैतरे बदलकर ही रह जाते हैं। कहीं-कहीं स्पष्ट ही अलंकार लक्ष्य है, जैसे रावण की इस व्याज-स्तुति में—

डरै गाय विप्रै अनाथै जो भाजै
परद्रव्य छोड़ै परस्त्रीहि लाजै
परद्रोह जासों न होवै रती को
सो कैसे लरै वेष कीन्हें यती को

(जो गाय और ब्राह्मण से डरता है, अनाथ को देखकर भागता है, परद्रव्य ग्रहण नहीं करता, जिससे एक रत्ती भर भी परद्रोह नहीं हो सकता, वह यती वेषधारी राम मुझसे क्या लड़ सकता है?)

वास्तव में, केशव के काव्य के दो अंग ऐसे हैं जिनमें उनकी रुचि संतुष्ट होती है—सम्वाद और वर्णन। इन्हें सजाने के लिए उन्होंने विभिन्न वाग्वैदग्ध्य और काव्य-कौशल का सहारा लिया है। अनुप्रास, यमक श्लेष—ये उनके आगे इस प्रकार हाथ बाँधे

खड़े रहते हैं जैसे उनके रावण के आगे ब्रह्मा, कुवेर, सूर्य, नारदादि और इंद्र। इनमें उन्होंने अपने सारे अध्ययन और लोक-निरीक्षण का भार रख दिया है। इन सम्वादों का "कलापक्ष अत्यंत अवल है। उनकी (केशव की) बुद्धि प्रखर है और दरबारी होने के कारण वाग्वैदग्ध्य ऊँचे दरजे का है। रामचंद्रिका सुन्दर और सजीव वार्तालापों से भरी है। व्यंजनाएँ कई स्थान पर बहुत अच्छी हुई हैं।" (आचार्य कवि केशवदास—श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल)

परन्तु इन 'सुन्दर और सजीव' वार्तालापों में हृदय दूर तक नहीं है, और व्यंजना को पूर्णतया समझने के लिए मस्तिष्क पर बड़ा बल देना होता है।

तुलसीदास और केशवदास दोनों के सामने दो संस्कृत नाटक थे, प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक। दोनों अपने सम्वादों के लिए इनके ऋणी हैं। परन्तु तुलसी के सम्वादों पर हनुमन्नाटक का अधिक प्रभाव है, केशव के सम्वादों पर हनुमन्नाटक का प्रभाव कम है, प्रसन्नराघव का अधिक है। केशव के अधिकांश संवादों में जो वक्रता और व्यंजना पाई जाती है, वह प्रसन्नराघव की देन है। हनुमन्नाटक पर काव्य-तत्त्व, ध्वनि और व्यंजना की इतनी गहरी छाप नहीं है, जितनी प्रसन्नराघव पर; अतः उसके अनुकरण में केशव में भी विषय-प्रगल्भता और प्रसाद गुण के स्थान पर यही विशेषता आ गई है।

दूसरी बात यह है कि तुलसी मूल के अधिकांश स्थानों को परिवर्द्धित एवं परिवर्तित कर देते हैं। सरलता और सरसता की ओर उनका आग्रह विशेष है; परन्तु केशव मूल भाव का अनुवाद ही करते हैं और कभी-कभी असफल अनुवाद से ही संतुष्ट हो जाते हैं। वे अपने स्फुट छन्दों के प्रयोग के कारण उस प्रकार का

संदर्भ भी स्थापित नहीं कर पाते जैसा तुलसी दोहा-चौपाइयों के प्रवाहमय काव्य में। एक-दो उदाहरणों से यह बात ठीक रूप से समझ में आ जायगी। हनुमन्नाटक में अंगद-रावण-सम्वाद का आरम्भ इस प्रकार है—

> कस्त्वं वालितनूद्भवो रघुपतेर्दूतः सः वालीति कः
> कोवा वानर राघवः समुचिता ते वालिनो विस्मृतिः
> त्वा बध्वा चतुरम्बराशिषु परिभ्राम्यन्मुहूर्तेन यः
> संध्यामर्चयति स्म निस्त्रय कथं तावत्त्वया विस्मृतः

इसे केशव ने इस प्रकार रखा है—

> कौन के सुत? बालि के, वह कौन बालि न जानिए?
> काँख चाँपि तुम्हें जो सागर सात न्हात बखानिए
> है कहाँ वह? वीर अंगद देवलोक बताइयो
> क्यों गयो? रघुनाथ-बान-विमान बैठि सिधाइयो

जरा उसकी तुलना तुलसीदास की इन पंक्तियों से कीजिये! यहाँ कवि ने मूल का सकेत ही ग्रहण किया है। अंगद कहता है—

> अंगद नाम बालिकर बेटा। तासो कबहुँ भई ही भेटा

इस पर रावण—

> अंगद बचन सुनत सकुचाना

इस तरह सारे प्रसंग की व्यंजना हो जाती है। इसके बाद भी वे 'रामचंद्रिका' के कवि की भाँति कवित्वहीन ढंग से मृत्यु की सूचना नहीं देते। यह सम्भव नहीं है कि रावण के दूतों ने उसको राम की प्रगति और उनके द्वारा बालि की हत्या की बात न बताई हो। अतः यहाँ सतर्कता से काम लेकर तुलसी इतना ही कहते हैं—

रावण—अब कहु कुशल बालि कहँ अहई
अंगद हँसकर कहते हैं—
दिन दस गएँ बालि पहँ जाई। पूछेहु कुसल सखा उर लाई
राम विरोध कुसल जस होई। सो सब तोहि सुनाइहि सोई

इस प्रकार के परिवर्तन में काव्यत्व की तो रक्षा हुई ही है संवाद का रूप भी निखर गया है।

तुलसी यह भी जानते हैं कि कब मौन-साधन अधिक श्रेयस्कर होगा, कब वाचाल होना ठीक होगा। अपनी रचना में उन्होंने प्राकृतकला के दृष्टिकोण को भी सामने रखा है, इसी से प्रसन्न-राघव का जनक-स्वयंवर-सभा में रावण-बाण प्रसंग उन्होंने नहीं अपनाया। इससे कलापक्ष की हानि नहीं हुई, नहीं तो यह भी स्थापित हो जाता कि रावण सीताहरण में असफल रहा, इसलिए उसे राम से स्वभावतः चिढ़ थी और वह सीता का प्रच्छन्न प्रेमी था। परन्तु इस सूत्र को विकसित किए बिना ही केशवदास ने रावण-सम्वाद को रामचन्द्रिका के चौथे प्रकाश में स्थान दिया है। यहाँ उन्होंने केवल इतना परिवर्तन किया है कि प्रसन्नराघव के नूपुरक और मंजीरक को सुमति विमति कर दिया है। वास्तव में सारे प्रसंग को किंचित भी परिवर्तन किए बिना वहीं से उठा । गया है। तुलसीदास इस प्रसंग से पूर्णतया परिचित थे। उन्होंने इसकी कुछ सामग्री का अन्यथा उपभोग किया है, जैसे

वाणस्य बाहु शिखरैः परिपीड्यमानं
भेदं धनुश्चलति किंचितमीन्दुमौलेः
कामातुरस्य वचसामिव संवधिनै
रभ्यर्थितं प्रकृति चारुमनः सतीमाम्

यहाँ वाण के सम्बन्ध में दी गई उपमा को तुलसीदास ने सभी राजाओं पर आरोपित किया है, जैसे

भूप सहसदस एकहि बारा । लगे उठावन टरइ न टारा
डिगईं न संभु सरासन कैसे । कामी वचन सती मनु जैसे

परन्तु सारी सामग्री को कला-परिधि के बाहर जाती देख तुलसी ने उसका पूरा-पूरा उपयोग अवांछनीय समझा । प्रसन्नराघव के परशुराम रूप-वर्णन का एक तुलनात्मक अध्ययन कर इस प्रसंग को समाप्त करेंगे । प्रसन्नराघव में है —

मौर्वीधनुस्तनुरियं च बिभर्ति मौञ्जीं
बाणाः कशाश्च विलसन्ति करेसिताग्रः
धारोज्ज्वलः परशुरेषं कमण्डलुश्च
तद्वीरशान्तरसयोः क्रिमयं विकारः ।

इसे रामचन्द्रिका में यों ही चार पंक्तियों में अनुवादित रख दिया है—

कुम मुद्रिका समिधैं श्रुवा कुस औ कमण्डल को लिए
कटिमूल श्रौननि तर्कसी भृगुलात-सी दरसे हिए
धनुबान तिच्छ कुठार 'केशव' मेखला मृगचर्म स्यों
रघुवीर को यह देखिये रस वीर सात्विक धर्म ज्यों

देखिये, इसे ही तुलसी कितने परिवर्तन एव परिवर्द्धन के साथ उपस्थित कर रहे हैं—

गौर सरीर भूति भल भ्राजा । भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा
सीस जटा ससिबदनु सुहावा । रिसबस कछुक अरुन होइ आवा
भृकुटी कुटिल नयन रिस राते । सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते
वृषभ कंध उर बाहु बिसाला । चारु जनेउ माल मृगछाला
कटि मुनि बसन तून दुइ बाँधे । धनु सर कर कुठार कल काँधे

सांत बेपु करनी कठिन बरनि न जाइ सरूप
धरि मुनितनु जनु बीररसु आयउ जहँ सब भूप

यहाँ तुलसी और केशव में जितना भेद है, वही भेद सम्वादों के उस अंश में भी है जो संस्कृत नाटक-ग्रंथों से लिए गये हैं।

सच तो यह है कि काव्य के अन्य स्थलों की अपेक्षा सम्वाद में कवि की अभिरुचि और उसके व्यक्तित्व का अच्छा प्रकाशन होता है। केशव के सम्वादों के पीछे एक पंडित राजकवि का वाग्वैदग्ध छिपा हुआ है। उनमें अहता की मात्रा भी कम नहीं है यद्यपि उनके पात्र शिष्टाचार की क्षीण ओट में इसे छिपाने का प्रयत्न करते हैं। तुलसी प्रकृति कवि हैं, भक्त हैं, सज्जन हैं वक्रोक्ति और व्यंग्य उन्हें पग पग पर नहीं सूझते, वे अपने पात्रों के सम्वादों को उस प्रकार व्यक्तित्व और वाग्चातुर्य प्रदान नहीं कर सके, जैसा केशव ने किया है। इसी से उनके सम्वाद रंगमंच के उपयोग के नहीं हैं। उन्होंने सारी कथा और राम की तरफ के (नहीं, विरोधी दल के भी) सारे पात्रों में रामभक्ति की स्थापना कर भक्ति का सिर ऊँचा उठाया है; परन्तु उसका फल यह हुआ है कि उनके सम्वाद उपदेशात्मक हो गये हैं और सम्वाद का उपदेश हो जाना उसकी सबसे बड़ी हानि है।

८—रामचन्द्रिका में वर्णन

रामचन्द्रिका वर्णनों से भरी पड़ी है। ऐसा जान पड़ता है कि केशवदास को वर्णन-लेखन से अत्यंत मोह था। यद्यपि राम-कथा में वर्णनों की काफी गुञ्जाइश है और वाल्मीकि एवं तुलसी-दास ने अच्छे-अच्छे वर्णन स्थान-स्थान पर लिखे हैं; परन्तु नों की इतनी प्रचुरता के लिए जो रामचन्द्रिका में है, केशव के पास कोई उत्तर नहीं है। महाकाव्य में वर्णनों का विशेष स्थान होता है और साहित्य-दर्पण की महाकाव्य की परिभाषा—

'सर्गबद्धो महाकाव्यः, इत्यादि

में कितने ही प्रकार के वर्णनों का आदेश है। परन्तु केवशदास इतने ही वर्णनों से प्रसन्न नहीं हैं। उन्होंने अनेक नवीन-नवीन

वर्णनों को खोज निकाला है जिससे रामचन्द्रिका 'महाकाव्य' की अपेक्षा वर्णनों का एक कोष ही हो गयी है। नीचे हम रामचन्द्रिका के वर्णनों की 'प्रकाश' क्रम से सूची देते हैं—

प्रकाश १, सरयू-वर्णन, हाथी-वर्णन, बाग-वर्णन, अवधपुरी-वर्णन

—२, राजा दशरथ-वर्णन

—३, वन वर्णन

—४, मुनि आश्रम-वर्णन

—५, स्वयंवर-वर्णन, सूर्योदय-वर्णन, राम का सूर्योदय-रूपक।

प्रकाश ६, बरात का आगमन वर्णन, शिष्टाचार रीति, जेवनार-वर्णन, पलकाचार-वर्णन, राम नखशिख-वर्णन, सीता-स्वरूप-वर्णन

प्रकाश ८, अवध-वर्णन

—६, पुत्र धर्म-वर्णन, नारि-धर्म-वर्णन, विधवा-धर्म-वर्णन, वनगमन-वर्णन, सीता-मुख-वर्णन

—११, पंचवटी-वन-वर्णन, दण्डक-वर्णन, गोदावरी-वर्णन, सीता गान-वाद्य वर्णन

—१२, राम वियोग-प्रलाप, पम्पासर-वर्णन

—१३, वर्षा-वर्णन, शरद-वर्णन

—१४, समुद्र-वर्णन

—१५, शत्रु-सेना वर्णन

—१७, १८, १६ युद्ध-वर्णन

—२०, त्रिवेणी-वर्णन, भरद्वाज वर्णन, ऋषि-आश्रम-वर्णन

—२१, दानविधान-वर्णन, सनाढ्योत्पत्ति-वर्णन

—२२, अवध प्रदेश वर्णन

—२३, राज्यश्री-निन्दा

—२४, रामविरक्ति और दुःखों का वर्णन

—२५, जीवोद्धार यत्न वर्णन।

—२८, रामराज्य वर्णन।

—२६, चौगान-वर्णन, अश्व-वर्णन, शयनागार-वर्णन, राजमहल-वर्णन।

—३०, रंगमहल-वर्णन, संगीत-नृत्य वर्णन, प्रभात-वर्णन, जागरण-वर्णन, प्रातः-वर्णन, भोजन-वर्णन, वसन्त-वर्णन, चन्द्र-वर्णन (पूर्णिमा)

—३१, सीता की दासियों का वर्णन (नखशिख)

—३२, बागवर्णन, कृत्रिम पर्वत, कृत्रिम सरिता और कृत्रिम जलाशय-वर्णन, जलाशय-वर्णन, जलकेलि वर्णन

—·५, अश्वमेध वर्णन

—३६, राजनीति धर्म-वर्णन

इन वर्णनों में से अधिकांश भूमि-भूषण-वर्णन (कविप्रिया-सातवाँ प्रकाश) और राज्यश्री भूषण-वर्णन (कविप्रिया आठवाँ प्रकाश) के अन्तर्गत आ जाते हैं। शेष का सम्बन्ध शृङ्गार, धर्म-नीति और राजनीति से है। पिछले दो के सम्बन्ध में हम देख सकते हैं कि केशव ने कविप्रिया की मान्यताओं को कहाँ तक अपनाया है। शृङ्गार के अन्तर्गत जो वर्णन आते हैं वे हैं राम नखशिख-वर्णन, सीता-स्वरूप-वर्णन, सीता-मुख-वर्णन (प्रकाश, १२, १३,) हनुमान द्वारा राम का विरह वर्णन, मुद्रिका, सीता की वियोग-दशा आदि, दासियों का शृङ्गार (प्रकाश ३१)। इसके अतिरिक्त प्रकाश ११ के छं० २८—३८ संयोग-शृङ्गार के वर्णन के अन्तर्गत आ सकते हैं। धर्मनीति-सम्बन्धी-वर्णन हैं—पुत्रधर्म, नारिधर्म, विधवाधर्म, दयाविधान, रामविरक्ति और दुखों का वर्णन एवं जीवोद्धार रामनाम-माहात्म्य। राज-नीति सम्बन्धी केवल दो ही स्थल हैं—राजभक्ति-निंदा और राज-

नीति-वर्णन। शृङ्गार-सम्बन्धी वर्णनों में विशेष रूप से रसिकप्रिया की मान्यताओं को लेकर ही चल रहे हैं। धर्मनीति और राज-नीति मौलिक हैं, परन्तु विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं। संख्या और विस्तार में ये वर्णन बहुत कम हैं। अतः स्पष्ट है कि रामचन्द्रिका को हम महाकाव्य के मापदण्ड पर नहीं नाप सकते। उसे हमें केशव की अपनी काव्य-सम्बन्धी मान्यताओं के मापदण्ड पर ही नापना होगा, जो कविप्रिया और रसिकप्रिया का विषय है।

नीचे हम कविप्रिया की कुछ मान्यताओं और रामचन्द्रिका से तुलना करेंगे—

(१) सीता-वर्णन के सम्बन्ध में 'कविप्रिया' का मत है—

जल पर हय गय जलज तट महाकुण्ड मुनिवास
स्नान दान पावन नहीं बरनिय केशवदास

(सातवाँ प्रकाश, २८)

परन्तु रामचन्द्रिका के अन्तर्गत सरयू-वर्णन इस प्रकार है—

अति निपट कुटिल गति यदपि आप
तऊ देत शुद्धगति छुअत आप
कछु आपुन अध अधगति चलति
फल पतितन कहँ ऊरध फलति
मदमत्त यदपि मातङ्ग सङ्ग
अति तदपि पतित पावन तरङ्ग
बहु न्हाय न्हाय जेहि जल सनेह
सब जात स्वर्ग सूकर सदेह

यहाँ कवि का स्पष्ट लक्ष्य है विरोधाभास अलंकार, जिसके लिये उसे श्लेष का प्रयोग करना पड़ा है।

राजवर्णन के सम्बन्ध में कविप्रिया कहती है—

मत्त, महाउत हाथ में, मंदचलनि, चलकर्ण
मुक्तामय, रस कुम्भ शुभ सुन्दर, शूर, सुवर्ण
(प्रभाव ८, छं० २७)

रामचन्द्रिका में—

जहँ तहँ. महा मददत्त
बर बारन बार न दलदत्त
अङ्ग अङ्ग चरचे अति चंदन
मुंडन भुरके देखिय बंदन

यहाँ यमक का आग्रह स्पष्ट है

बारन=हाथी
बारन=बार+न=देर नहीं लगती

दीह दीह दिग्गजन के केशव मनहुँ कुमार
दीन्हे राजा दशरथहिं दिगपालन उपहार

यहाँ उत्पेक्षा लक्ष्य है।

(३) नगर वर्णन के लिए कविप्रिया में यह सिद्धांत है—

खाई, कोट, अटा, ध्वजा, वापी, कूप, तड़ाग
बरनारी, असती, सती, बरनहु नगर सभाग
(प्रभाव ७, छंद ४)

रामचन्द्रिका का नगर-वर्णन दूसरे ही प्रकार है—

ऊँचे अवास
बहु ध्वज प्रकास
सोभा विलास
सोभै प्रकास
अति सुन्दर अति साधु
थिर न रहत पल आधु

परम तपोमय मानि
दंड धारिणी जानि

सुभ द्रोण गिरिगण शिखर ऊपर उदित ओषधि सी गनौ
बहु वायु वश बारिद बहोरहि अरुझि दामिनि दुति मनौ
अति किधौं रुचिर प्रताप पावक प्रगट सुरपुर को चली
यह किधौं सरित सुदेश मेरी करी दिव खेलत भली

स्पष्ट है कि केशव अपने ही सिद्धान्तों पर नहीं चल रहे। वास्तव मे काव्यशास्त्र-ज्ञान एक बात है, कवि की अभिरुचि दूसरी बात है। केशव की अभिरुचि ही उनकी कविता को रूप देती है, काव्य शास्त्र के सिद्धांत नहीं। वर्णन में उन्होंने अलंकारों का विशेष प्रयोग किया है—ये अलंकार हैं—१ उत्प्रेक्षा, २ श्लेष, ३ विरोधाभास, ४ सदेह, ५ परिसख्या। 'स्वभावोक्ति' बहुत कम है। वास्तव में वर्णन का गुण तो स्वभावोक्ति है अर्थात् जैसा प्रत्यक्ष हो, वैसा ही वर्णित हो। केशव तो प्रस्तुत के ऊपर अप्रस्तुत का कुछ इस प्रकार आरोप करते हैं कि प्रस्तुत का रूप ढक ही नहीं जाता, बिगड़ भी जाता है।

प्रकृति-वर्णन के सम्बन्ध में हम अलग विचार कर रहे हैं। यहाँ अन्य वर्णनों को ही लेते हैं। इनमें प्रमुख हैं राम का नख-शिख वर्णन (छठा प्रकाश), सीता-मुख-वर्णन (नवाँ प्रकाश), अवध-प्रवेश (आठवाँ प्रकाश), मुद्रिका-वर्णन (१३वाँ प्रकाश), अग्निप्रवेश (२०वाँ प्रकाश), शिखनख (३१वाँ प्रकाश)। इन उत्कृष्ट वर्णनों का ही हम विश्लेषण करेंगे।

केशव का अवध-प्रवेश-वर्णन इस प्रकार है—

ऊँची बहुवर्ण पताक लसैं। मानों पुरदीपति सी दरसैं
देवीगण व्योम विमान लसैं। सोभैं तिनके मुख अंचल सैं

× × ×

अति सुभ बीथी रज परिहरे। मलयज लीरी पुहपन धरे
दुहु दिस दीसैं सुबरन मये। कलश बिराजैं मनिमय नये
घर-घर घंटन के रव बाजैं। बिच बिच शंख जु झालरे साजैं
पटह पखाउज आउझ सोहैं। मिलि सहनाइन सों मन मोहैं

भोर भये गज पर चढ़े श्री रघुनाथ विचारि
तिनहिं देखि बरनत सबै नगर नागरी नारि

तमपुंज लियो गहि भानु मनौ। गिरि अंजन ऊपर सोम मनो
मनमत्थ विराजत सोम तरे। जनु भासत दानहिं लोभ धरे

आनंद प्रकासी सब पुरवासी करत जे दौरादौरी
आरती उतारैं सरबसु वारैं अपनी अपनी पौरी

पढ़ि मंत्र अशेषनि कर अभिषेकनि आशिष दै सविशेषै
कुंकुम करपूरनि मृगमद चूरनि वर्षत वर्षा वर्षै

ऐसे वर्णनों में राजैश्वर्य ही विशेष रूप से प्रकट है। इससे कवि का विशेष परिचय था। परन्तु यहाँ भी वस्तुचित्र देने की अपेक्षा उत्प्रेक्षामाला ही गूँथी गई है। मुद्रिका-वर्णन और अग्नि-प्रवेश में सन्देह और परिसंख्या की शृङ्खला बाँधी गई है। वास्तव में वर्णन करते समय केशव की कल्पना अत्यन्त उत्तेजित और असम्भव हो जाता है—वे अनोखे अप्रस्तुत उत्पन्न करते हैं, नहीं, उनकी झड़ी बाँध देते हैं। ऊपर हमने केशव का अवध-प्रवेश-वर्णन दिया है। उसे तुलसी के इस उदाहरण के सामने रखिये—

हने निशान पनव बर बाजे। भेरि सङ्ख धुनि हय गय गाजे
झाँझि बिरव डिंडिमीं सुहाई। सरस राग बाजहिं सहनाई
पुरजन आवत अकनि बराता। मुदित सकल पुलकावलि गाता
निज निज सुन्दर सदन सँवारे। हाट बाट चौहट पुर द्वारे
गली सकल अरगजाँ सिंचाईं। जहँ तहँ चौकैं चारु पुराईं
बना बजारु न जाइ बखाना। तोरन केतु पताक बिताना

सफल पूगफल कदलि रसाला । रोपे बकुल कदम्ब तमाला
लगे सुभग तरु परसत धरनी । मनिमय आलबाल कल करनी

बिबिध भाँति मङ्गल कलस गृह गृह रचे सँवारि
सुर ब्रह्मादि सिहाहिं सब रघुबर पुरी निहारि

भूप भवनु तेहि अवसर सोहा । रचना देखि मदन मनु मोहा
मङ्गल सगुन मनोहरताई । रिधि सिधि सुख सम्पदा सुहाई
जनु उछाह सब सहज सुहाए । तनु धरि धरि दसरथ गृहँ छाए

— — —

मोद प्रमोद बिबस सब माता । चलहिं न चरन सिथिल भए गाता
रामदरस हित अति अनुरागीं । परिछनि साजु सजन सब लागीं
बिबिध बिधान बाजने बाजे । मंगल मुदित सुमित्रा साजे
हरद दूब दधि पल्लव फूला । पान पूगफल मंगल मूला
अच्छत अंकुर लोचन लाजा । मञ्जुल मंजरि तुलसि बिराजा
छुहे पुरट घट सहज सुहाए । मदन सकुन जनु नीड़ बनाए

— — —

कनक थार भरि मंगलन्हि कमल करन्हि लिए मात
चलीं मुदित परिछनि करन पुलक पल्लवित गात
(बालकाड, ३४३-३४७)

केशव ने दुलहा राम के सौन्दर्य का चित्रण इस प्रकार किया है—"श्री रघुनाथ जी के सिर पर गंगाजल की पगड़ी है।[1] उनकी भौंहें सिञ्चित, टेढ़ी, सुन्दर, निर्मल, सचिक्कण तथा उचित और बराबर लम्बाई की लम्बी-चौड़ी हैं।[2] उनके कानों में मकराकृति कुण्डल हैं।[3] उनके मुख की शोभा एक अत्यन्त निर्मल

१ गङ्गाजल की पाग सिर सोहत श्री रघुनाथ
२ भ्रु भृकुटि कुटिल सुबेश । अति अमल सुमिल सुदेश
३ श्रवण मकर-कुण्डल

पुष्करणी है।[४] और दांतों की कांति उज्ज्वल शोभा देती है।[५] उनका गला शंखाकृति का है।[६] उनकी भुजाएँ देखकर देवता और असुरगण दोनों को लज्जा आती है।[७] उनके वक्षस्थल पर भृगु-चिन्ह है।[८] वे मोतियों की दो लड़ी की माला पहरे हैं।[९] उनके पैरों में जूती है जिसपर रेशम गूँथी हुई हीरों की अति स्वच्छ पंक्ति शोभित है।[१०]" इसके समकक्ष तुलसी का यह चित्र उपस्थित किया जा सकता है—

स्याम सरीरु सुभाय सुहावन। सोभा कोटि मनोज लजावन
जावक जुत पद कमल सुहाए। मुनि मन मधुप रहत जिन्ह छाए
कल किंकिनि कटि सूत्र मनोहर। बाहु बिसाल बिभूषन सुन्दर
पीत जनेउ महाछबि देई। कर मुद्रिका चोरि चितु लेई
सोहत ब्याह साज सब साजे। उर आयत उर भूषन राजे
पिअर उपरना काखासोती। दुहुँ आँचरन्हि लगे मनि मोती
नयन कमल कल कुण्डल काना। बदनु सकल सौंन्दर्ज निधाना
सुन्दर भृकुटि मनोहर नासा। भाल तिलकु रुचिरता निवासा
सोहत मौरु मनोहर माथे। मंगलमय मुकुता मनि गाथे

(बाल० ३०७)

तुलसी ने राम में देवभाव रखा है, इसलिए यहाँ "नख-शिख"

---

४ अति बदन शोभ सरसी सुरंग।
५ शोभिजति दंतरुचि शुभ्र।
६ ग्रीवा श्री रघुनाथ की लसति कंबु बर वेष।
७ सोभन दीरघ बाहु विराजत। देव सिहात अदेवन लाजत।
८ उर में भृगुलात।
९ शुभ मोतिन की दुलरी सुदेश।
` गज मोतिन की माला विशाल।
१० श्याम दुकू पग लाल लसै दुति यों तलकी।
पाट जटी अति सेत सुहीरन की अवली।

का वर्णन है, परन्तु केशव, राम को नायक मानकर चले हैं; अतः वे "शिखनख" लिख रहे हैं। तुलसी राम के जावक-युत चरणों का वर्णन करते हुए, एकदम भक्तिभावना की ओर मुड़ते हैं—'मुनि मन मधुप रहत जिन छाये।' परन्तु राजदरबार के विवादों से परिचित केशवदास राम के पैर की जड़ाऊ रेशमी जूती में ही उलझ कर रह जाते हैं। तुलसी के सारे चित्रण में प्रेमांकन की ही प्रधानता है—"महाछवि देई", "चोरि चितु लेई", "कटिसूत्र मनोहर"—परन्तु केशवदास इस प्रकार प्रसाद-पूर्ण वर्णन की ओर नहीं जाते। उन्होंने प्रत्येक अंग और आभूषण के साथ अत्यन्त उत्कृष्ट उपमाएँ—उत्प्रेक्षाएँ दी हैं, जैसे वे राम के जूती पहरे पैरों को त्रिवेणी बना देते हैं—

> श्याम दुऊ पग लाल लसै दुति यों तलकी
> मानहु सेवति जोति गिरा जमुनाजल की
> पाटजटी अति सेत सुहीरन की अवली
> देवनदीगन मानहु सेवन भाँति भली

(दोनों पैरों के ऊपरी भाग तो श्याम रंग के हैं और तलवों की आभा लाल है। ऐसा मालूम होता है मानों सरस्वती की ज्योति जमुना जल की ज्योति का सेवन कर रही है—जमुना में सरस्वती आ मिली है। रेशम में गुंथी हुई हीरों की अति सफेद पंक्ति भी है। यह संयोग ऐसा जान पड़ता है मानों गंगाजल के कणिका भी उस संगम का सेवन भलीभाँति कर रहे हैं—गंगा भी वहाँ मौजूद है।)

इसी तरह जहाँ तुलसी 'कल कुण्डल काना' कह कर ही काम निकाल लेते हैं, वहाँ केशवदास उत्प्रेक्षा का प्रयोग किए बिना नहीं रह सकते—श्रवण मकर कुण्डल लसत मुख सुखमा एकत्र

शशि समीप सोहत मनो श्रवण मकर नक्षत्र

उत्तराषाढ़, श्रवण और घनिष्टा के कुछ अंश मकर राशि में पड़ते हैं—ऐसा मालूम होता है मानो मकर राशि के अन्तर्गत श्रवण नक्षत्र में चन्द्रमा शोभा दे रहा है। इस प्रकार की सूझ भले ही उनके 'ज्योतिषज्ञान' की सूचक हो, परन्तु उससे काव्य सामान्य ज्ञान के धरातल से बहुत ऊपर उठ कर वर्ग विशेष की वस्तु हो जाता है। वास्तव में केशव के काव्य में उत्प्रेक्षा अलंकार का इतना अधिक प्रयोग हुआ है कि उनके काव्य का एक बड़ा अंश साधारण ज्ञान और कल्पना वाले व्यक्ति के काम की चीज़ नहीं रह जाता। उदाहरण के लिए, भ्रकुटि-वर्णन देखिये। भ्रकुटि का गुण टेढ़ा होना है, परन्तु उसके टेढ़ेपन को लेकर इस "विरोधाभास" के गढ़ने की क्या आवश्यकता थी—

> जदपि भृकुटि रघुनाथ की कुटिल देखियत ज्योति
> तदपि सुरासुर नरन की निरखि शुद्ध गति होति

यहाँ व्यंजना यह है कि भगवान रामचन्द्र के क्रोध से भी सुर, असुर और मनुष्य सद्गति को प्राप्त होते हैं—मृत्यु को वरण कर साकेत धाम जाते हैं। परन्तु चाहे बात किसी हद तक ऊँची है, साधारण मनीषा इसे शीघ्र समझ नहीं पाती। कवि को पग-पग पर उत्प्रेक्षा और विरोधाभास का आग्रह क्यों हो! क्यों न वह साधारण भाव-प्रकाशन के धरातल पर चले? तुलसी में साधारण ज्ञान के सहारे काव्य को उठाने की कोशिश की गई है; इसीसे वह तीन शताब्दियों से जनता का हृदय हार है। केशव पंडितों तक ही सीमित हैं। वह भी रसलाभ के लिए नहीं, पांडित्य-परीक्षा के लिए। कहा भी है—

> जाको देन न चहै बिदाई
> पूछै केशव की कविताई

केशव के वर्णनों में एक दोष यह भी है कि कवि कहीं भी संयत नहीं है। जहाँ उसे संयम से काम लेना ही श्रेयस्कर होता,

वहाँ भी वह उत्प्रेक्षाओं की झड़ी लगा देता है। यह नहीं देखता कि इस चेमीके के चमत्कार से महज सौन्दर्य या मनोविज्ञान की हानि होगी। अवसर सीता के अग्निप्रवेश का है। साधारण दृष्टि से यह अवसर अत्यन्त कारुणिक है। सीता ने क्या-क्या दुख नहीं उठाये, फिर भी उन पर संदेह किया जा रहा है। सारी वानरसेना और लक्ष्मण के लिए यह दुःख और शोक का अवसर है। तुलसी ने इस बात को पहचाना है और अत्यन्त संक्षेप में इस दुःखपूर्ण परीक्षा का वर्णन किया है—

पावक प्रबल देखि बैदेही। हृदय हरष नहिं भय कछु तेही
जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं
तौ कृसानु सब कै गति जाना। मो कहुँ होउ श्रीखंड समाना
श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली
जय कोसलेस महेस बंदित चरन रति अति निर्मली

× × ×

धरि रूप पावक पानि गहि श्री सत्य श्रुति जग बिदित जो
जिमि छीर सागर इंदिरा रामहिं समर्पी आनि सो (लंका १०६)

परन्तु केशव अग्नि में बैठी हुई सीता को देखकर उत्प्रेक्षाओं की झड़ी बाँध देते हैं—

पिता अंक ज्यों कन्यका शुभ्र गीता
लसै अग्नि के अंक त्यों शुद्ध सीता
महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी
कि संग्राम के भूमि में चंडिका सी
मनो रत्न सिंहासनास्था सची है
किधौं रागिनी राग पूरे रची है
गिरापूर में है पयोदेवता सी
किधौं कंज की मंजु शोभा प्रकाशी
किधौं पद्म ही में सिफाकंद सोहै
किधौं पद्म के कोष पद्मा बिमोहै

कि सिंदूर शैलाग्र में सिद्ध कन्या । किधौं पद्मिनी सूर संयुक्त धन्या
सरोजासना है मनो चारु बानी । जपा पुष्प के बीच बैठी भवानी
किधौं ओषधी वृन्द में रोहिणी सी । कि दिग्दाह में देखिये योगिनी सी
धरा-पुत्र ज्यों स्वर्ण माला प्रकासै । किधौं ज्योतिसी तच्छकाभोग भासै
आसावरी माणिककुम्भ शोभै । अशोक-लग्ना वन-देवता सी
पलाशमाला कुसुमालि मध्ये । बसंत लक्ष्मी सुभ लक्षणा सी
आरक्तपत्रा सुभ चित्र पुत्री । मनो विराजै अति चारुवेषा
संपूर्ण सिंदूर प्रभा बसै धौं । गणेश भालस्थल चंद्र-रेखा

है मणिदर्पण में प्रतिबिंब कि प्रीति हिये अनुरक्त अभीता
पुञ्ज प्रताप में कीरति सी तप-तेजन में मनु सिद्ध बिनीता
ज्यों रघुनाथ तिहारिय भक्ति लसै उर केशव के शुभ गीता
त्यों अवलोकिय आनँदकंद हुतासन मध्य सवासन सीता
(प्रकाश, २०)

यह उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं की झड़ी इस प्रकार है—

१—जैसे पिता की गोद में कोई पवित्राचारिणी कन्या हो
२—महादेव के नेत्र की पुतली
३—रणभूमि की चंडी
४—रत्न-सिंहासन में बैठी हुई इंद्राणी
५—अनुराग से रँगी हुई कोई रागिनी
६—सरस्वती के जलसमूह में कोई देवी
७—सरस्वती के जल मे खिला कमल
८—कमल में कमलकंद
९—कमल के बीजकोष पर लक्ष्मीजी
१०—सिंदूर शैल के अग्रभाग में बैठी कोई सिद्ध-कन्या
११—सूर्यमंडल में कमलिनी
१२—कमल पर बैठी सरस्वती

१३—जपा पुष्पों पर बैठा भवानी
१४—दिव्यौषधियों के समूह में रोहिणी
१५—दिग्दाह में कोई योगिनी
१६—मंगल-मण्डल में स्वर्णमाला
१७—तक्षक के फणपर मणि-ज्योति
१८—जैसे आसावरी रागिनी मानिक का कुम्भ लिए हो
१९—अशोक वृक्ष पर कोई वनदेवी बैठी हो
२०—वसंत-श्री पलाशकुसुम के समूह में सुशोभित हो
२१—कोई चित्रपुतली बेलबूटों के मध्य सुन्दर ढङ्ग से सजाई गई हो
२२—सिंदूर की प्रभा में गणेश जी के भाल पर चन्द्रकला
२३—मणि दर्पण में किसी का प्रतिबिंब
२४—किसी निश्चल अनुरागी के हृदय की साक्षात् प्रीति
२५—प्रताप के ढेर में कीर्ति
२६—तपतेज में उत्तमा सिद्धि
२७—केशव के हृदय में रामभक्ति

इस उत्प्रेक्षा-माला से तो यही जान पड़ता है कि केशव के हृदय में रामभक्ति की किंचित मात्रा भी नहीं है, वे पांडित्य-प्रदर्शन में लगे हुए हैं और ऊहात्मक कल्पना-चित्रों का चलचित्र सामने उपस्थित कर रहे हैं। किसी भी चित्र को पूर्णरूप से विकसित नहीं होने दिया जाता—एक रंग उतरने नहीं पाता कि दूसरा रंग चढ़ जाता है। इस प्रकार के काव्य-कौशल से काव्यांश की हानि हुई है, वृद्धि नहीं। वास्तव में यही असंयम केशव की कला का महान दोष है। महान् कवि रसपूर्ण स्थलों और मनोवैज्ञानिक अवसरों को भली-भाँति जानते हैं और ऐसे ही अवसरों पर रसोद्रेक या सौन्दर्य-स्थापन या मनोवैज्ञानिक चित्र उपस्थित करने के लिए अलंकार का प्रयोग करते हैं। यहाँ तो अलंकार

ही लक्ष्य हो गये हैं—कवि पाठकों को चकित, चमत्कृत कर देना चाहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि केशव के काव्य में वर्णनों की भरमार है, परन्तु मूल रूप से सब एक ही प्रकार के हैं। सब में उनके पांडित्य की छाप है। सब में उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, परिसंख्या आदि अलंकार के लिए उनका आग्रह है। वर्णनों में उन्होंने रस का जरा भी सम्बन्ध नहीं रखा है, यद्यपि उनसे उनका लोकनिरीक्षण भी प्रकट होता है, परन्तु प्रधानरूप से तो वे ऊहा-कवि के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। तुलसी के सारे रामचरितमानस में केवल एक स्थान पर (दे० चन्द्रोदयवर्णन, लंका कांड) हम ऊहाप्रधान उत्प्रेक्षा-मूलक काव्य को पाते हैं। केशव के पास इसके सिवा और है ही क्या ?

इन वर्णनों में अधिकांश ऐसे हैं जिनका परिचय केशव को अपने आश्रयदाता के वातावरण और उनकी संगति से हुआ होगा, जैसे चौगान, प्रकाश ३२ के समस्त वर्णन (बाग, कृत्रिम ेत, कृत्रिम सरिता, कृत्रिम जलाशय, जलकेलि)। केशव ने राम के ऐश्वर्य को ओरछा राजमहल के ऐश्वर्य पर खड़ा किया है। अतः इन स्थलों पर उनके काव्य का मूल रूप ही हमें मिलता है। रामकथा में इन वर्णनों की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। सच तो यह है कि कथाकाव्य में वर्णन और कथा में एक विशेष अनुपात होना चाहिये। वह अनुपात केशव की रामचन्द्रिका में है ही नहीं। वहाँ रामकथा तो बीसवें प्रकाश तक ही चलती है और वर्णन उनतालीस प्रकाश तक चलते हैं। इन पहले २० प्रकाशों में भी कथा का अनुपात पाँचवें भाग तक भी नहीं पहुँचता। अधिकांश विस्तार सम्वाद और वर्णन में ही समाप्त हो जाता है।

(६) रामचन्द्रिका में धर्मनीति

रामचन्द्रिका के २४, २५ वें प्रकाशों में धर्म और अध्यात्म

कँपै उर बानि डगै बर डीठि, त्वचाति कुचै सुकचै मति बैली
नवै नव ग्रीव थकै गति केशव, बालक तें संगही संग खेली
हिये सब आधिन व्याधिन संग, जहाँ जब आवै ज्वरा की सहेली
भगै सब देह दशा, जिय साथ, रहै दूरि दौरि दुराशि अकेली

(इस संसार में कोई भी सुख नहीं है। यहाँ जीवों का जन्म-मरण ही नहीं छूटता। जीव गर्भ में आते हैं और बड़े कष्ट से उस गर्भ के बाहर होते हैं। तब शरीर सम्बन्धी व्यवहारों में पड़कर अन्त में अनेक कष्ट सहते हैं। बचपन में जीव भली-बुरी वस्तु को नहीं जानता, सब वस्तुएँ मुख में डाल लेता है। कुछ बड़ा होते ही अज्ञानवश केवल खेल में ही लगा रहता है। पिता-माता और गुरु से अनेक दुःख पाता है। भूख, घाम और नींद को कुछ नहीं गिनता, केवल खेल के लिए रोता है। धुएँ के समान नीलांबर से सुशोभित परनारी-रूपी अग्नि पाप की बड़ी-बड़ी लपटों वाली होने के कारण युवावस्था में नर को जलाया करती है, लोक-मर्यादा के कारण उसे छू नहीं सकते। पर वह देखने से ही मूर्च्छित कर देती है। स्त्रियों के हृदय की कुटिलता ही वंशी के समान है, उनके हृदय की गुप्त कामेच्छा ही उस हँसिया में लगा हुआ मांस का चारा है और स्त्री का समस्त शरीर ही डोरी के समान है जिसे कामदेव शिकारी अपने हाथ से पकड़े हुए है। इसलिए स्त्री मनुष्य-रूपी मीनों के फँसाने के लिए पूर्णतया वंशी के समान है। इधर महामोह की फाँसी लगाए लोभ-देव मनुष्य को दशों दिशाएँ में खेंचता है। गर्व उसे ऊँची पदवी से गिरा देता है और क्रोध उसे जलाता है। फिर कोढ़ की खाज की तरह कामदेव के बाण उसे पीड़ित करते हैं। लुटेरे काम, क्रोध, लोभ, मोह, गर्व उसे मारते हैं, तो जीव इस दुःख को किससे कहे? वृद्धावस्था में हृदय से कंठ में आती हुई वाणी काँपने लगती है, दृष्टि भी डगमगा जाती है, शरीर की त्वचा ढीली पड़कर सिकुड़ जाती

है और बुद्धि रूपी लता भी संकुचित हो जाती है। गरदन झुकने लगती है। चलने की शक्ति जाती रहती है। जरा के अंगों की स्वाभाविक शक्ति मारी जाती है, जीने की दुराशा मात्र शेष रह जाती है।)

दुःख के कुछ विशेष कारण भी हैं—

१—स्त्री

२—अहंकार

३—लोभ

४—पापाचरण

५—तृष्णा

६—समय की प्रबलता के कारण शुभ विचार नष्ट हो जाते हैं और मनुष्य नाश की ओर दौड़ता है। जीव इन दुःखों में फंसा है, उसका उद्धार कैसे हो ? वशिष्ठ इस प्रकार उपदेश करते हैं—

(१) जीव ब्रह्म का ही प्रतिबिंब है। लोभ, मद, मोह, काम के वश में होकर अपना सत्स्वरूप भूल जाता है। उसे वेदविधि ढूंढनी चाहिये और यत्नपूर्वक शास्त्र-सम्मत व्यवहार करे। राम के पूछने पर कि जीवन की दुराशा उसे स्वभावतः चक्कर देती रहती है, जीव क्या करे ? वशिष्ठ बताते हैं, कि वासना दो प्रकार की होती है—शुभ, अशुभ। मनुष्य यत्न के साथ वासना को शुभ पंथ में लगावे, तो अपना ब्रह्म-पद पा सकता है (कर्मवाद)

(२) मुक्ति प्राप्त करने के ४ साधन हैं—साधु-संग, शम, संतोष, विचार। साधु वह है जो संसार में रहता हुआ भी निर्दोष है। शम का अर्थ है—विषय-वस्तु के सौन्दर्य को देखते हुए, बहुत समय तक स्पर्श करते हुए, बात करते हुए और सुनते हुए तथा भोग करते हुए भी किसी समय, किसी प्रकार उन विषयों

में लीन न हो (इंद्रियों की गुण और कर्मों में निर्लेपता)। संतोष का अर्थ है सच्चा अनासक्तिभाव। मन में किसी वस्तु की अभिलाषा न हो, किसी वस्तु के मिलने पर सुखी और नष्ट होने पर दुखी न हो, मन को परमानन्द-स्वरूप-ईश्वर में लगाये रखे। विचार का अर्थ है—सत्यज्ञान, मैं कौन हूँ, कहाँ से आया हूँ, वहाँ से किसलिए आया हूँ ? जिस प्रकार अपने असली पद को प्राप्त हूँ, उसे खोजना मेरा परम धर्म है। और कौन मेरा हितू है, कौन अहितू है, इसको चित्त में भली भाँति जाने।

(ज्ञानवाद)

जीव अपने अहंवाद (या ममता) से बँधा हुआ है। इसी से वह मन वचन और शरीर से कुत्सित कर्म करता है और उनका कहा मान कर दुखी होता है। वास्तव में जीव ही ईश है। उसमें 'कर्तृत्व' नहीं होना चाहिये। अहंभाव के नाश से ही मुक्ति की प्राप्ति होगी—

आपन सों अवलोकिये, सब ही युक्त अयुक्त
अहंभाव मिटि जाय जो कौन बद्ध कौ मुक्त

तब उसकी स्थिति जीवन मुक्त की होती है—

बाहर हूँ अति शुद्ध हिये हूँ। जाहि न लागत कर्म किये हूँ
बाहर मूढ़ सु अंतस मानो। ताकहँ जीवनमुक्त बखानो

जीवन-मुक्त का स्थाई भाव होता है—

जानि सबै गुण दोष न छंडै। जीवनमुक्तन के पद मंडै

(त्याग)

(२) परन्तु केशव भक्ति-वाद से भी अपरिचित नहीं हैं। वशिष्ठ राम-भक्ति का मूल स्वरूप जानते हैं—

जग जिनको मन तव चरणलीन। तन तिनको मृत्यु न करषि छीन

तेहि छनही छन दुख छीन होत। जिय करत समित आनँद उदोत
(भक्तिवाद)

(४) वे योग को एक महत्त्वपूर्ण साधन मानते हैं—

जो चाहैं जीवन अति अनंत। सो साधैं प्राणायाम संत
शुभ पूरक कुम्भक मान जानि। अरु रेचकादि सुखदानि आनि
जो क्रमक्रम साधै साधु धीर। सो तुमहि मिले याही शरीर
(योगवाद)

केशव पूजा-उपासना को भी एक स्वतन्त्र साधना के अन्तर्गत रखते हैं। पूजा की विधि क्या है, राम के सगुण रूप का ध्यान। परन्तु यह ध्यान किस प्रकार हो, यह कवि स्वयं शिव के मुख से कहलाता है—

पूजा यहै उर आनु। निर्व्याज करिये ध्यानु
यों पूजि घटिका एक। मनु किये याज्ञ अनेक
जिय जान यहई योग। सब धर्म कर्म प्रयोग
तेहि ते यही उर लाव। मन अनत कहुँ न चलाव
यह रूप पूजि प्रकास। तब भये हम से दास
(२५वाँ प्रकाश, ६२३-३३)

उपासक अन्य प्राकृत देवताओं को छोड़ दे, निष्कपट होकर राम का ध्यान करे, इस मानसिक अनन्य पूजा से शुभाशुभ वासनाएँ जल जाती हैं। जीव भक्तिरस को प्राप्त कर महाकर्त्ता, महात्यागी, महायोगी होकर ईश्वर में लीन हो जाता है—

यहि भाँति पूजा पूजि जीव जु भक्त परम कहाय
भव भक्ति रस भागीरथी महँ देइ दुखनि बहाय
पुनि महाकर्त्ता महात्यागी महायोगी होय
अति शुद्धभाव रमै रमापति पूजिहै सब कोय
(छं० ३५-३८)

केशव के अनुसार भक्ति-साधना के लिए घर-बार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है—

> कहि केशव योग जगै हिय भीतर, बाहर भोगन स्यों तनु है
> मनु हाथ सदा जिनके, तिनको वनही घरु है घरुही वनु है
> (छं० ३१)

अन्त में नाम ही एक मात्र मुक्ति का उपाय है—

> कहै नाम आधो सो आधो नसावै
> कहै नाम पूरो सो वैकुंठ पावै
> सुधारै दुहूँ लोक को वर्ण दोऊ
> हिये छद्म छोड़ै कहै वर्ण कोऊ
> सुनावै सुनै साधु संगी कहावै। कहावै कहै पाप पुंजै नसावै
> जपावै जपै वासना जारि डारै। तजै छद्म को देव लोकै सिधारै
> (प्रकाश २६, छं० ४-११)

तुलसी ने भी इसी प्रकार कहा है—

> कलि में केवल नाम अधारा

स्पष्ट है कि केशव अपने समय के सभी प्रचलित अध्यात्मवादों को स्वीकार करते हुए भी अन्त में भक्तिवाद (मानसिक पूजा, अनन्य भाव से अनुरक्ति और नाम स्मरण) को ही श्रेय देते हैं। परन्तु उनको यह सिद्धान्त आध्यात्मिक आत्मानुभव के द्वारा प्राप्त नहीं हुआ है; अतः इसमें वह बल नहीं है जो तुलसी के अध्यात्म में है। केशवदास—'प्राकृत कवि' ही रह गए हैं। रामचंद्रिका जैसी पुस्तक से अर्थसिद्धि किये बग़ैर जो न रह सके, वह प्राकृत कवि नहीं तो और क्या है?—इक्कीसवें प्रकाश में सनाढ्यों की दैवी उत्पत्ति बताकर उन्हें दान देने का नियोजन किया गया है। इसी प्रकार ३३वें प्रकाश में ब्रह्मा सनाढ्यों को दान देने की बात कहते हैं। उस पर एक नया ही प्रसंग गढ़ लिया गया है।

केशव राम के उस रूप से परिचित हैं, जिसे तुलसी उनके पहले ही स्थापित कर चुके थे—

जाके रूप न रेख गुण, जानत वेद न गाथ
रंगमहल रघुनाथ गे राजश्री के साथ
(२६वां प्रकाश, छं० ४५)

ग्रन्थ की अवतारणा और भूमिका से भी यही बात जान पड़ती है। ग्रन्थ के आरम्भ में श्री राम-वंदना है—

पूरण पुराण अरु पुरुष पुराण परिपूरण बतावै न बतावैं और उक्ति को। दरशन देत जिन्हें दरशन समुझै न, नेति नेति कहै, वेद छाँडि आन युक्ति को॥ जानि यह केशोदास अनुदिन राम राम रटत रहत न डरत पुनरुक्ति को। रूप देहि अणिमाहि, गुण देहिं गरिमाहिं, भक्ति देहि महिमाहि, नाम देहि मुक्ति को।

फिर

राम नाम, सत्यधाम
और नाम कौन काम

और

सोई परब्रह्म श्रीराम हैं अवतारी अवतारमणि

वे प्रस्तावना में राम-भक्ति का संकल्प भी करते हैं—

रामचद्रपद पालं, वृन्दारक वृन्दानि वंदनीयम्
केशवमति भूतनया लोचनं चचरीकायते

और ग्रन्थ की समाप्ति पर पौराणिकों की भाँति फल भी दे देते हैं—

अशेष पुन्य पाप के कलाप आपने बहाय
विदेहराज ज्यों सदेह भक्त राम को कहाय
लहै सुमुक्ति लोक लोक अंत मुक्ति होहिं ताहि
कहै सुनै पढ़ै गुनै जु रामचद्र चन्द्रकाहि

जिस प्रकार तुलसी अपनी रामकथा की परिणति में कहते हैं—

रघुवंसमनि भूषन चरित नर कहहि सुनहि जे गावहीं
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं

परन्तु रामचरित मानस की भाँति रामचन्द्रिका में भक्ति की व्याप्ति नहीं है—उसकी मात्रा, वास्तव में, बहुत न्यून है। केशव के सामने लक्ष्य साफ है—कवित्वशक्ति और पांडित्य का प्रदर्शन। इसी कारण उनके धर्मनीति और अध्यात्म के उपदेश संदेश के रूप कथा में मिल नहीं सके हैं। वे जिस सकल्प को लेकर चले हैं, उसकी रक्षा उनसे नहीं हो सकी है।

आध्यात्मिक विचारों पर लिखते हुए कवि की जीव, ब्रह्म, माया, संसार आदि विषयक धारणाओं पर भी विचार होता है। केशव ने इन विषयों पर विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया है; परन्तु यहाँ-वहाँ तत्सम्बन्धी उक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं। इन्हें ही समेट कर हम इन विषयों पर इनके विचार निर्धारित कर सकते हैं।

१—ब्रह्म

केशव के मतानुसार ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, जो रामरूप में अवतरित हुई है—

सब जानि बूझियति मोहिं राम,
सुनिए सो कहौ जग ब्रह्मनाम
जिनके अशेष प्रतिबिंब जाल
तेइ जीव जाम जग में कृपाल

हम ऊपर बता चुके हैं कि केशव ने राम को ब्रह्म ही माना है।

२—जीव

ऊपर उद्धृत पद से पता लगता है कि केशव जीव को ब्रह्म का प्रतिबिंब मानते हैं।

३–माया

केशव ने कहीं भी माया का वर्णन नहीं किया है, न माया-सम्बन्धी विचार का ही कहीं प्रकाशन किया है। जान पड़ता है, माया-सिद्धांत उन्हें मान्य नहीं है।

४–जगत (नाम-रूप)

यह नाम-रूप जगत एक समस्या है—न झूठा है, न सच्चा है। पारमार्थिक दृष्टि से तो यह झूठ है; परन्तु लौकिक दृष्टि से सच्चा है या सच्चा लगता है—

> झूठो है रे झूठौ जग राम की दोहाई
> काहू साँचे को कियो ताते साँचो सो लगत है

जब यह जग झूठा है, तो सच्चा क्यों लगता है—केशव कहते हैं, जो 'सच्चा' है, जिसका अस्तित्व है, उसकी रचना 'असत्य' झूठी कैसे होगी? कर्ता सत्य है, तो कर्म भी सत्य होना चाहिये। केशव इसे सत्य ही 'ब्रह्म' की रचना बताते हैं; परन्तु इसकी क्षण-भंगुरता और इसके असत्य सुखों को देखकर वे इसे सत्य भी कहना नहीं चाहते। सचमुच, वे उलझन में पड़े हैं—

> तुम्ह ही जु रची रचना विचारि
> तेहि कौन भाँति समझौं मुरारि

तुलसीदास भी कभी इस प्रकार के असमंजस्य में पड़ गये थे, जब विनयपत्रिका में उन्होंने लिखा था—

> माधव कहि न जाय का कहिये
> देखत तव रचना विचित्र अति समुझि मनहिं मन रहिए
> × × ×
> कोउ कह सत्य,झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल करि मानै
> तुलसिदास परिहरे तीन भ्रम सो आपुन पहिचानै

(१) यह 'जगत' सत्य है।

(२) यह 'जगत' झूठ है।

(३) यह जगत झूठ भी है, सत्य भी है।

तुलसी को ये तीनों मत मान्य नहीं हैं, वह 'अनिर्वचनीयवाद' में समाप्त करते हैं—"जैसा है वैसा है, हम नहीं जान सकते कैसा है, जान भी सकें तो बता तो सकते नहीं।" केशवदास ने भी उनकी भाँति इन तीनों झंझटों से बचने का एक तर्क सोच लिया—"यह जगत झूठ है, सत्य नहीं है, परन्तु यह सच्चा-सा लगता है।" कदाचित् वे यहाँ भी उस 'प्रतिबिंबवाद' को स्थापित कर रहे हैं जो उन्होंने जीव-ब्रह्म के संबंध में स्थापित किया है। प्रतिबिंब झूठ नहीं होता, परन्तु वह वास्तविक वस्तु न होकर उसका प्रतिरूप-मात्र होने के कारण झूठ ही कहा जायगा। इस प्रकार केशव द्वैतवादी नहीं ठहरते, उन्हें पूरा-पूरा अद्वैतवादी भी नहीं कह सकते, उन्हें "प्रतिबिंबवादी" कहा जा सकता है, जो अद्वैतवाद के बहुत करीब है। इस सिद्धांत के द्वारा वे माया की मध्यस्थता के जाल से छूट गये हैं।

केशवदास ने 'जगत' को ही 'संसार' माना है। यह 'जगत' (जग) मन के हाथ है—

> जग को कारन सब मन
>
> मन को जीत अजीत

यह सारे 'प्रपञ्च' झूठ हैं; परन्तु सच लग रहे हैं—कैसे? मन के कारण न! अद्वैतमत के मूल-प्रवर्त्तक, शंकराचार्य के गुरु-गुरु श्री गौड़पादाचार्य भी इसी तरह कहते हैं—

> मनोदृश्यमिह द्वैतमद्वैत परमार्थतः
>
> मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते।

(यह जितना द्वैत है, मन का ही दृश्य है, परमार्थतः तो अद्वैत

ही है; क्योंकि मन के गमनशून्य हो जाने पर अद्वैत की उपलब्धि नहीं होती।)

१०—रामचंद्रिका में राजनीति

केशव ने अपने सामने राजा राम का दृष्टिकोण रखा है। कुछ इसलिए, कुछ उनके दरबार से संबन्धित होने के कारण रामचंद्रिका में राजनीति का विशद वर्णन है। उसके कई रूप हैं, (१) वह राजव्यवहार और राजकीय शिष्टाचार के रूप में प्रकट हुआ है। (२) रामराज्य के आदर्श वर्णन में (३) स्वयं राम के व्यवहार में। (४) रामचन्द्र के राजनीति-उपदेश में।

३६वें प्रकाश में रामकृत राजनीति का उपदेश इस प्रकार है—

बोलिये न झूठ ईठि मूढ़ पै न कीजियै
दीजिये जु वस्तु हाथ भूलिहू न लीजियै
नेहु तोरिये न देहु दुःख मत्रि मित्र को
यत्रतत्र जाहु पै पत्याहु जौ अमित्र को
जुवा न खेलिये कहूँ, जुवान वेद रक्षिये
अमित्र भूमि माहिं जै अभक्ष भक्ष भक्षिये
करौ न मन्त्र मूढ़ सों न गूढ़ मन्त्र खोलिये
सुपुत्र होहु जै हठी मठीन सौंन बोलिये
वृथा न पीड़िये प्रजादि पुत्र मान पारिये
असाधु साधु बूझि के यथापराध मारिये
कुदेवदेव नारि को न बाल पित लीजिये
विरोध विप्र वंश सों सु स्वप्नहू न कीजिये

परद्रव्य को तो विष प्राय लेखो
परस्त्रीन को ज्यों गुरुस्त्रीन देखो
तजौ काम क्रोधौ महामोह लोभौ
तजौ गर्व को सर्वदा चित्त छोभौ

यहौ संग्रहौ निग्रहौ युद्ध योद्धा। करो साधु संसर्ग जो बुद्धि बोद्धा

हितू होय जे देइ जो धर्म शिक्षा। अधर्मीन को देहु जै बाक भिक्षा

कृतघ्नी कुवादी परस्त्री विहारी
करौ विप्र लोभी न धर्माधिकारी
सदा द्रव्य संकल्प को रक्षि लीजै
द्विजातीन को आपुही दान दीजै

तेरह मंडल मंडित भूतल भूपति जो क्रम ही क्रम साधै
कैसुहुँ ताकहँ शत्रुन मित्रसु केशवदास उदास न बाधै
शत्रु समीप, परे तेहि मित्र, सुलासु परेजु उदास कै जोवै
विग्रह, संधिनि दाननि, सिन्धु लौं ले चहुँ ओरनि तो सुख सोवै

राजश्री बश कैसहूँ, होहु न उर अवदात
जैसे तैसे आपु वश ताकहँ कीजै तात

(झूठ न बोलना, मूर्ख से मित्रता न करना, जो वस्तु किसी को दे देना, फिर भूल कर न लेना। किसी से स्नेह करके फिर उसे तोड़ना न, मन्त्री और मित्र को दुख न देना। देशांतर में जाने पर शत्रु का विश्वास न करना। जुआ न खेलना। वेद-वचन की रक्षा करना। शत्रु देश में जाकर अनजानी वस्तु न खाना। मूढ़ से सलाह न लेना और अपना गूढ़ तात्पर्य किसी पर प्रकट न करना। हठ न करना और मठधारियों से छेड़छाड़ न करना। वृथा प्रजा को न सताना, उसे पुत्रवत पालना। दोषी समझ कर जैसा अपराध हो, वैसा दंड देना। ब्राह्मण, देवता, स्त्री और बालक का धन न लेना और ब्राह्मणवंश से स्वप्न में भी विरोध न करना।

परधन को विष ही समझो। परस्त्री को मातावत् मानो। काम, क्रोध, मोह, लोभ, गर्व और चित्तक्षोभ को सदा त्यागो। यश-संग्रह करो, युद्ध में शत्रु को दमन करो। ज्ञानदाता साधुओं की संगति करो। जो धर्मयुक्त शिक्षा दे, उसे ही हितैषी समझो

और अधर्मियों से बात मत करो। कृतघ्नी, झूठे, परस्त्रीगामी तथा लोभी ब्राह्मण को दान-द्रव्य के बाँटने का अधिकारी मत बनाओ। संकल्प किए हुए द्रव्य की यत्नपूर्वक रक्षा करके ब्राह्मणों को अपने हाथ से दो। जो राजा क्रमशः अपने राज्य-सहित १३ राज्यों की सुव्यवस्था कर लेता है, उसको शत्रु, मित्र वा उदासीन कोई भी हानि नहीं पहुँचा सकता है। शत्रु-राज्य से युद्ध करे, मित्र-राज्य से संधि करे और उदासीन राज्य से दान-नीति बरते। फिर भी किसी प्रकार राजवैभव के वश न हो। इस दृष्टि से राम का राज्य आदर्श था; यद्यपि केशव ने इस राम राज्य के वर्णन के समय श्लेष-पुष्ट-परिसंख्या और अतिशयोक्ति का सहारा लिया है, परंतु उनका आदर्श अवश्य ही स्पष्ट है कि—

"पृथ्वी धनधान्य से पूर्ण हो, न राजा-प्रजा में युद्ध हो, न विदेशी आक्रमण हो, गौ-अश्व-हाथी तेजवान और पुष्ट हों, प्रजा क्षमतावान और उद्योगी हो, साधु और विद्या-विलासी हो। राम-राज्य में सभी जन चिरजीवी हों, संयोगी हों, सदा एकपत्नी-व्रती हों, आठों भोग भोगते हों,। सब शीलवान्, गुणवान और सुन्दर सुगंधयुक्त शरीर वाले हों। सब ब्रह्म ज्ञानी, गुणवान तथा धर्म से चलने वाले हों। प्रजा दानादि कर्म कर सके, चित्त चिन्ता-रहित हो, चातुर्यपूर्ण हो, एक पुत्र-पौत्रादि के सुख देखें। सब माता-पिता के भक्त हों। प्रजा ज्ञानी हो, अशोक हो, धर्मी हो, यशी हो, सुखी हो, त्रिताप से रहित हो, कोई भिक्षुक न हो। सब ऋजुगामी हों। कोई किसी की वृत्ति हरण न करे। लोग लज्जालु हों, द्यूत-व्यसनी न हों। व्यभिचार और परपीड़ा का नाम न हो। सब सम्मान युक्त रहें, मर्यादा-पूर्वक रहें। जन-धन-सपन्न नगर में लूट-खसोट न हो। सर्वदा शांति का राज हो। अपवित्र कोई न हो। गुण-संग्रह की ओर जनता की दृष्टि हो। सब कीर्तिवान हों।" (देखिये, प्रकाश २४)

इतना होते हुए भी राजा राज्य के धन का उपयोग प्रजा के हित करे, जिससे उनका मन विकृत न हो जाय। इस दृष्टिकोण को लेकर केशव ने २६वें प्रकाश में राम द्वारा राज्यश्री की निंदा कराई है (छंद १२—४०) और उपभोक्ता को सावधान किया है—

जोई अति हित की कहै, सोई परम अमित्र
सुखवक्ता ई जानिये, संतत मत्री मित्र ॥३८॥
सावधान ह्वै सेवै याहि। साँचो देत परमपद ताहि
जितने नृप याके वश भये। पेलि स्वर्ग मग ना वहि गये

(राजश्री के प्रभाव से राजा का ऐसा स्वभाव हो जाता है जो जन परमहित की बात करता है वही परमशत्रु माना जाता है और चापलूस लोग सदा ही मन्त्री और मित्र माने जाते हैं। इसलिए सावधान होकर जो इस राजश्री की सेवा करता है उन्हें यह सच्ची मुक्ति देती है, असावधानी करने वाले राजा नरक को प्राप्त हुए हैं।)

केशव राज-व्यवहार के बड़े मर्मज्ञ ज्ञाता थे। इसी से उन्होंने उसका बड़ा सुन्दर चित्रण किया है।

तुलसी की भाँति केशव ने भी राम-राज्य का चित्रण किया; परन्तु वे अलंकारों के बिना तो बात ही नहीं कर सकते—"जिसके राज में आज कोई वर्णसंकर नहीं है, केवल नाममात्र की वर्णों की सकरता (रंगों का मिश्रण) चित्रों में ही देखी जाती है, विवाह के मय ही स्त्रियाँ कुछ अपशब्द बकती हैं, (अन्यथा कोई किसी को गाली नहीं देता), नाममात्र को ध्वजापट ही जहाँ काँपता (अन्य कोई डर से काँपता नहीं), जहाँ रात्रि में चक्रवाकों को ही वियोग दुःख है (अन्य को नहीं), जिस राज्य में ब्राह्मणों और मित्रों से कोई द्वेष नहीं करता (नाममात्र को द्विजराज चन्द्रमा और मित्र सूर्य के द्वेषी केवल बादल हैं), मेघ ही नगर घेर कर आकाश से बरसते हैं (अन्य कोई नगर शत्रुओं से नहीं

घेरा जाता है) अपयश ही से लोग डरते हैं (अन्य किसी से नहीं डरते) यश ही का सब को लोभ है (अन्य किसी बात के लोभी नहीं) दुख ही का जहाँ खंडन होता है (अन्य किसी सिद्धांत का खंडन नहीं) और जो राजा समस्त ससार के भूषण रूप हैं, ऐसे राजा राम चिरकाल तक सानंद राज करें।

(सत्ताईसवाँ प्रकाश, छंद ६)

केशवदास ने जो बात अलकार में कही है, वही बात तुलसी ने सहज निरलंकार भाषा में उससे कहीं अधिक प्रभावशाली ढग पर कह दी है—

राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका
बयरु न कर काहू सन कोई। रामप्रताप बिषमता खोई

बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग
चलहिं सदा पावहिं सुखहिं नहिं भय सोक न रोग

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा
सब नर करहि परस्पर प्रीती। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीती
चारिउ चरन धर्म जग माहीं। पूरि रहा सपनेहुँ अघ नाहीं
अल्प मृत्यु नहिं कवनिउ पीरा। सब सुन्दर सब बिरुज सरीरा
नहि दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीनो
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहि कपट सयानी
सब उदार सब पर उपकारी। बिप्र-चरन सेवक नरनारी
एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी

दड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचन्द्र के राज

इत्यादि

ऊपर के अवतरण से प्रकट हो जायगा कि तुलसी प्रसादपूर्ण काव्य से ही जो बात प्रकट कर देते हैं, केशव को उसके लिए

अलंकार चाहिये। सहजोक्ति की अपेक्षा वक्रोक्ति ही उन्हें अधिक पसन्द है। उनकी कल्पना भी समाज के कुछ क्षेत्रों को ही छूकर नहीं रह जाती, वे धर्म, कुटुम्ब, भौतिक सुख सभी में क्रांति देखते हैं। केशव ने चाहे यह लिखा हो कि सुखी आदर्श राज्य में शत्रु नगर को नहीं घेरते; परन्तु उससे किसी ऊँचे राजनीतिक सिद्धांत की स्थापन नहीं हो जाती। तुलसी तो सामाजिकों का ही ऐश्वर्य नहीं दिखाते, वे प्राकृतिक ऐश्वर्य में भी अतुलनीय वृद्धि दिखाकर रामराज के अलौकिक प्रभाव को व्यंजित करते हैं, जैसे :—

प्रगटीं गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी
सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा
बिधु महि पूर मयूखन्हि रबि तप जेतनेहि काज
माँगें बारिद देहिं जल रामचन्द्र के राज

केशव ने रावण का जो ऐश्वर्य व्यंजित किया है (देखिये, अंगद-प्रसंग) उससे उनका राजकीय व्यवहार-ज्ञान सिद्ध होता है; परन्तु यह बात नहीं है कि तुलसी यदि चाहते तो ऐसा राजैश्वर्य-[illegible]न नहीं कर सकते थे। वे इस प्रसंग की ग्रामीणता के लिए [illegible] हैं; परन्तु यह तो वास्तव में उनकी अतुल राजभक्ति का फल था। उन्होंने रामविमुख रावण को अपमानित करने के लिए ही इस प्रसंग में राजनीतिकता नहीं बरती।

११—तुलसीदास और केशवदास

तुलसी मूलतः भक्त-कवि थे और केशव मूलतः रसिक पंडित कवि थे। राजदरबारों से उनका सम्बन्ध था। आश्रयदाताओं की प्रशंसा करने में उनकी काव्य-प्रतिभा चमक उठती थी और उन्हीं के मनोविनोद के लिए वे लिखते थे। सुधी राजसभागण

उनके श्रोता थे। श्रोतागणों में संस्कृत का ज्ञान भी अपेक्षित था। ऐसे वातावरण में उन्होंने अपने संस्कृत के पांडित्य और कवि-प्रतिभा से चमत्कार उत्पन्न किये, यह उनकी प्रतिभा का परिचायक है। वास्तव में जिस विलासपूर्ण राज-वातावरण में केशव रह रहे थे, उसमें रहकर इससे अच्छी कविता नहीं हो सकती थी। सच तो यह है कि प्रत्येक कवि प्रभावित होता है (१) अपने वातावरण से, (२) अपने कुटुम्ब और शिक्षा-दीक्षा से, (३) अपनी अभिरुचि से और (४) अपने श्रोताओं की अभिरुचि से। कबीर, तुलसी और सूर इन सबके श्रोता अध्यात्म-तत्त्व के जिज्ञासु और श्रद्धालु भक्त थे। केशव के श्रोता थे राजदरबारी विलासी पुरुष जो वारांगनाओं को गृहणियों से भी अधिक प्रिय समझते थे। दूसरा श्रोता था संस्कृतज्ञ पंडितवर्ग जिसे माघ, भारवि, बाण और श्रीहर्ष से विशेष प्रेम था। शृङ्गार-प्राण, विदग्ध सूक्तियों से महाराज को भुलाना ही उनका काम था। केशव भी इन्हें पंडितों में से थे। तीसरा था समान-कर्मा कवि-वर्ग। कविप्रिया और रसिकप्रिया स्पष्टतया उस वर्ग के लिए लिखी गई थीं और राचन्द्रिका में पग-पग पर छंद बदलने का रहस्य भी यही है। केशव ने कविता सीखने-सिखाने का विषय बना दिया। और पहले पहल वह शिष्यगुरु परम्परा शुरू हुई जो आज तक सीमित क्षेत्रों में चलती है। चौथा श्रोता उनकी प्रसिद्ध वारांगना-मित्र है जिसका केशव पर बड़ा प्रभाव था। कुटुम्ब संस्कृत पण्डितों का था ही। इससे भाषा में कविता करना तो हेय ही समझते थे, जैसे-तैसे कुछ लिखकर रसिकों को प्रसन्न करने की बात थी। वातावरण, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रत्येक क्षेत्र में शिथिलता और विलासिता, उच्छृङ्खलता और अनाचार से पूर्ण था। केशव अपनी अभिरुचि के लिए प्रसिद्ध हैं ही। बुढ़ापे में भी उन्हें मलाल था कि उनके श्वेत केशों को देखकर

'चन्द्रमुखी मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाँय।' इन सबने केशव को इनका विशिष्ट क्षेत्र दिया। तीन पुस्तकें राजाश्रय से सम्बन्धित हैं। दो रस और अलंकार के ग्रन्थ और एक छंद-ग्रन्थ (रामचन्द्रिका) उन्हें आचार्य बना देते हैं। रहे रामचन्द्रिका और विज्ञान-गीता। वास्तव में ये केशव के प्रतिभा-क्षेत्र के बाहर जाकर लिखी रचनाएँ हैं। विज्ञान-गीता संत-काव्य की परम्परा में आती है और रामचन्द्रिका राम-काव्य की श्रेणी में, यद्यपि शृङ्गार, पांडित्य-प्रदर्शन और आचार्यत्व वहाँ भी बड़ी मात्रा में उपस्थित हैं। कदाचित् तुलसी के 'मानस' की मान्यता होते देख केशव ने रामकथा पर लिखने की बात सोची; परन्तु जिन ग्रन्थों की ओर उनकी प्रतिभा सहारे के लिए झुक सकती थी (प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक) वे तुलसी ने पहले ही अपना लिये थे। अतः केशवदास को इन ग्रन्थों का वही अंश लेना पड़ा जो तुलसी ने नहीं लिया था, जैसे जनक की स्वयंवर-सभा में बाण-रावण। शेष के लिए उन्हें मौलिक बनना पड़ा। तुलसी ने रामकथा को कई बार कहा और रामकथा के सभी क्षेत्र खोज डाले थे। अतः केशव ने भक्त-वत्सल भगवान राम की जगह महाराज रामचन्द्र को विषय बनाया। इस नवीनता के लिए धन्यवाद! परन्तु तुलसी पहले ही गीतावली में राम का यह रूप रख चुके थे। उनकी दास्य-भावना की भक्ति का आश्रय भी यही रूप था। अतः केशव ने इस महाराज-राम-रूप के भी अछूते ही अंगों को विकसित किया। सभी बातों में मौलिक होने के प्रयत्न में वे विचित्र हो गये हैं। वे रामचन्द्रिका में रामकथा भी कहेंगे, नये कवियों को छन्द लिखना भी सिखायेंगे; राम को महाराज, ब्रह्म और अवतार एक साथ बनायेंगे, शृङ्गार और भक्ति की विरोधी धाराएँ एक साथ ही प्रवाहित करेंगे। यह है रामचन्द्रिका की विडंबना! केशव ने सोचा होगा कि इतने विभिन्न, असम्बद्ध

पहलुओं से पुष्ट उनकी रामकथा तुलसी की लोकप्रियता को पीछे छोड़ जायगी ; परन्तु वे इसी भ्रम में रह गये। तुलसी की राम कथा का जो स्थान है, वह केशव की रामचन्द्रिका को नहीं मिलेगा, न मिला ही है। आज पंडित-वर्ग मात्र में उनकी चर्चा है और पाठ्य-पुस्तक होने की कारण उसका अध्ययन-अध्यापन हो जाता है; परन्तु साधारण जनता के भाव क्षेत्र अथवा उसके विचार-क्षेत्र में उसका कोई स्थान नहीं। आज न हम कविता सीखने के लिए उसे पढ़ेंगे, न रामकथा सुनने के लिए। कला की सर्वोत्कृष्ट रचना होकर भी सहज कवि-अनुभूति से स्फुरित न होने के कारण रामचन्द्रिका असफल रहा। कहाँ तुलसीदास की कविता-धारा स्रोतस्विनी सी उमड़ी पड़ती हैं, कहाँ पग-पग पर विलास-कटाक्ष करके ठहरने, मुड़ने, हाव-भाव दिखाने वाले केशव की रामधारा !

१२वीं शताब्दी से १५वीं शताब्दी तक रामकथा लेकर मुख्यतः ऐसे ही ग्रन्थों की रचना हुई है, जिनमें कथा में काव्य-कौशल का प्रदर्शन ही मिलता है। कहीं सम्वाद पर बल है जैसे हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव में, कहीं कथा को ही विचित्र रूप से गूँथा है जैसे सेतु-बंधन और प्रसन्नराघव एवं अनर्घराघव में। प्रसन्नराघव में राम-सीता के पूर्वराग की नवीन कल्पना है। इस प्रकार राम-कथा पर शृंगार का आरोप हुआ और बाद के संस्कृत कवियों ने राम की मर्यादा की रक्षा का प्रयत्न नहीं किया। सुन्दर सूक्तियों, सुभाषितों, मुक्तक-काव्यों आदि से सहारा लेकर राम-कथा में विचित्रता लाने की हास्यास्पद चेष्टा की गई। केशव इसी कड़ी में आते हैं। तुलसी भी इन तीन-चार शताब्दियों के संस्कृत काव्य के प्रभाव से नहीं बचे हैं, प्रसन्नराघव से उन्होंने 'सीता-राम का पूर्वराग' लिया है और बरवै रामायण में सीता का शृंगार वर्णन है, एवं रामाज्ञा प्रश्न में ज्योतिष-ग्रन्थ (मंगल)

लिखकर राम-कथा कहने की चेष्टा है। परन्तु अपने सर्वोत्तम ग्रंथ। मानस में उन्होंने राम-कथा को भक्तिरस में डुबो कर ही उपस्थित किया है और चन्द्र-वर्णन जैसे एकाध स्थलों को छोड़ कर ऊहा-प्रधान काव्य उन्होंने नहीं रचा। रसोद्रेक और मनोविज्ञान पर उनकी दृष्टि सदैव ही रही है। उन्होंने विवाह का सांगोपांग नवीन पक्ष ढूंढ़ निकाला और उत्तरकांड को दर्शन और राम-भक्ति की इंद्रमणि बना दिया। परन्तु केशव की अंतःर्दृष्टि इतनी पैनी न थी, वह संस्कृत कवियों के राम-ग्रन्थों के चमत्कार की चौंध में आ गये और सामान्य काव्य से हटकर उन्होंने प्रेत-काव्य की सृष्टि की। उसके समय के राज-कवि और कवि-कर्मी उनके इस महान् पांडित्य से चकित होकर मुक्तकंठ से उनके प्रशंसक हुए, यह ठीक है। परन्तु रस का स्रोत तो समसामयिकों ने तुलसी से ही ग्रहण किया।

केवल संस्कृत के परवर्ती राम-काव्यों से ही नहीं केशव ने, माघ, बाण, श्रीहर्ष, शूद्रक,, कालिदास और भवभूति की सामग्री से लाभ उठाने की चेष्टा की, कहीं-कहीं सफल अनुवाद ही प्रस्तुत कर दिया। 'कादम्बरी' में एक वर्णन है—

"ताल तिलक तमाल हिंताल वकुल बहुलैः एलालता कुटिल नारिकेल कलपैः लोललोध्रवली लवंगपल्लवैः उल्लसित चूतरेणु पटले अलिकुल झंकारेः उन्मद कोकिलकुलकलापकोल हालानि, इत्यादि।

(कथामुख)

केशव ने इसी की हिन्दी कर दी है—

तरु तालीस तमाल ताल हिताल मनोहर
मञ्जुल बंजुल तिलक लकुच कुल नारिकेलवर
एला ललित लवङ्ग संङ्ग पुङ्गीफल सोहै
सारी शुककुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै

(प्रकाश ३, छन्द १)

इसी तरह शूद्रक के मृच्छकटिक में हैं—

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीव व्यञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिः निष्फलतां गता॥

से हम रामचन्द्रिका में पाते हैं—

बरनत केशव सकल कवि विषम गाढ़ तम सृष्टि
कुपुरुष-सेवा ज्यों भई संतत मिथ्या दृष्टि
(प्रकाश १३, छंद २१)

यह पता लगाना दिलचस्प होगा कि केशव पर तुलसी का प्रभाव है या नहीं। हम कह चुके हैं कि केशव की कथा-वस्तु का ढाँचा वाल्मीकि पर खड़ा है और कितने ही प्रसंगों के लिये वे स्पष्ट रूप से उसी के ऋणी हैं, जैसे लक्ष्मण की आत्म हत्या करने की धमकी, विवाह से लौटते समय मार्ग में परशुराम का मिलना इत्यादि। दूसरे स्थान पर इस प्रभाव की विशद एवं विस्तृत विवेचना कर चुके हैं। यहाँ हमें यह बताना है कि कथा को वाल्मीकि के क्रम से उपस्थित करते हुए भी काव्य-प्रसंगों के लिए रामचन्द्रिका का कवि वाल्मीकि का ऋणी नहीं है। वर्षा-शरद्-वर्णन, राम का विवाह, पम्पासरोवर वर्णन, सभी में वह मौलिक है।

परन्तु दो प्रसंग ऐसे हैं जो हमारे काम में यह सन्देह उठा देते हैं कि शायद केशव ने 'मानस' से उन्हें लिया हो—पूर्ववर्ती राम-कथा में उनको कोई स्थान नहीं मिलता है और स्वयं केशवदास की कल्पना उनकी ओर जा ही नहीं सकती थी। वे प्रसंग हैं।

१—राम के विवाह का विशद वर्णन
२—वन-पथ की झाँकी

यदि समीक्षात्मक रूप से अध्ययन किया जाय तो रामचरितमानस और रामचन्द्रिका के इन दोनों प्रसंगों में बड़ा

साम्य दिखलाई देगा। यह साम्य-भावना में मिलेगा, वस्तु-निरूपण और वर्णन में तो मौलिकता का आग्रह यहाँ भी है। जब हम देखते हैं कि यही दो तुलसी के अत्यन्त मौलिक सुन्दर अंग हैं तो इस अनुमान को ही बल देना होता है कि कम-से-कम ये प्रसग वहीं से लिये गये हैं, यद्यपि प्रसंग-विधान स्वयं केशव का है। पलकाचार, ज्यौनार, गाली, दूलह-दुलहिन, एवं मंडप की शोभा—ये बातें इसी ढंग पर तुलसो में भी हैं; परन्तु जहाँ तुलसी ने गालियों का निर्देश किया है, वहाँ केशव वाग्विलास में पटु हैं; अतः भूमि को वारांगना बनाकर राम पर श्लेष व्यंग करते हैं। एक बात और है, इन प्रसंगों में अनायास ही रामभक्ति की योजना हो गई है। हो सकता है, तुलसी ही इसके लिए जिम्मेवार हों। तुलसी कहते हैं—

> बैठे बरासन रामजानकि मुदित मन दशरथ भये

केशवदास का कहना है—

> बैठे जराय जरे पलिका पर रामसिया सब कौ मन मोहैं
> ज्योतिसमूह रहो मढ़िकै सुर भूलि रहे वपुरो नर को है
> केशव तीनहु लोकन की अवलोकि वृथा उपमा कवि टोहैं
> सोभन सूरज मण्डल माँझ मनो कमला कमलापति सोहैं

इसी प्रकार बन-पथ-प्रसंग में, तुलसी की भाँति, यहाँ भी लोग संभ्रम-वश पूछते हैं—

> कौन हो कितते चले कित जात हौ केहि काम जू
> कौन की दुहिता बहू कहि कौन की यह बाम जू
> किधौं यह राजपुत्री बरही बरी है
> किधौं उपदि बर्यो है यह सोभा अभिरत हौ।
> किधौ रति रतिनाथ जस साथ केसो.।स
> जात तपोवन, सिव बैर सुमिरत हौ।

किधौं मुनि साप हत, किधौं ब्रह्मदोषरत
किधौं सिद्धियुत सिद्ध परम विरत हौ
किधौं कोऊ ठग हौ ठगौरी लीन्हे किधौं तुम
हरिहर श्री हौ सिवा चाहत फिरत है

जो हो, प्रसंग का निर्देश अवश्य तुलसी ने किया होगा; यद्यपि उनकी तत्सम्बन्धी रचना केशव के ऊहात्मक उक्ति-वैचित्र्य से कहीं अधिक सुन्दर है।

केशव और तुलसी की रामकथा में मूल अन्तर यही है कि जहाँ केशव अधिकांश स्थलों पर प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक का अनुवाद ही प्रस्तुत कर रहे हैं, वहाँ तुलसीदास इन ग्रंथों से सहारा मात्र लेते हैं, यही नहीं इनसे ली हुई सामग्री को काव्य और मनोविज्ञान से पूर्णतः पुष्ट करके पाठक के सामने रखते हैं। केशव मूल का सौन्दर्य भी समाप्त कर देते हैं—उन्हें न अनुपात का ध्यान रहता है, न काव्यगत सौन्दर्य का, न मनोविज्ञान का। वे "संस्कृत कवियों और नाटककारों की प्रतिभा के इतने नीचे दब गये हैं कि स्वयं उनका स्वरूप विकृत और उनका स्वर अस्वस्थ हो गया है।"

———

३

रसिकप्रिया

केशवदास के ग्रंथों में रसिकप्रिया सर्वश्रेष्ठ है। आचार्यत्व की दृष्टि से चाहे कविप्रिया का कितना ही महत्त्व रहा हो और पांडित्य की दृष्टि से रामचन्द्रिका चाहे जितनी भी स्तुत्य हो, केशव की काव्य-प्रतिभा और सहृदयता के सर्वोच्च दर्शन रसिकप्रिया में ही होते हैं। जैसा अन्यत्र लिखा है, रसिकप्रिया रस-ग्रन्थ है। उसमें कवित्त-सवैयों का संग्रह है जो केवल उदाहरण रूप में उपस्थित हैं। ये उदाहरण लक्षण के कितने निकट पहुँचते हैं, यह हम पहले देख चुके हैं। यहाँ हमें इन उदाहरणों के स्वरूप उपस्थित सामग्री की काव्य-परीक्षा करनी है।

रीति-ग्रन्थकारों के सम्बन्ध में श्री रामचन्द्र शुक्ल ने सत्य ही कहा है—"इन रीति ग्रन्थों में कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। इनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः इनके द्वारा बड़ा भारी कार्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृङ्गार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस उदाहरण अत्यन्त प्रचुर परिमाण में उपस्थित हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रन्थों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २८६)। केशव के सम्बन्ध में यही बात लागू होती है।

रसिकप्रिया के नायक हैं कृष्ण, राधा नायिका हैं। यद्यपि केशव ने ग्रंथारंभ में कृष्ण में नवरसों की स्थापना की है—

श्री वृषभानु कुमारि हेतु शृंगार रूपमय
वास हास रस हरे मात बंधन करुना:मय
केशीप्रति अति रौद्र वीर मारो वत्सासुर
भय दावानल पान पियो वीभत्स बकीउर
अति अद्भुत वच विरचि मति शत संतत नित शोच चित
कहि केशव सेवहु रसिक नवरस में ब्रजराज नित

परन्तु वे स्वयं शृङ्गार रस को ही लेकर रह गये और उनके इस मौलिक नवरस-स्थापन का आगे के कवियों ने भी उपयोग नहीं किया। यदि किया होता तो हिन्दी साहित्य का भंडार अत्यन्त सुन्दर कवित्त और सवैयों से पूर्ण होता और रसवैभिन्य का अच्छा अवसर मिलता।

इसी मान्यता को लेकर केशव ने अधिकांश पदों में स्पष्ट रूप से कान्ह, राधिका आदि शब्द रखे हैं और जहाँ नहीं रखे हैं, वहाँ भी वे व्यंग्य हैं। इस प्रकार सारे नायिका-भेद को राधा-कृष्ण पर घटा दिया गया है। प्रकाशों के अन्त में वे बराबर लिखते आये हैं कि वे राधा-कृष्ण का शृङ्गार-वर्णन कर रहे हैं। इससे कई विशेषताएँ उनके काव्य में आ गई हैं—

(१) निर्वैयक्तिकता—कवि को आत्म-व्यंजना नहीं करनी पड़ी। उसने सारी भावनाओं का आरोप राधा-कृष्ण पर कर दिया और वह जैसे तटस्थ खड़ा रहा। यद्यपि अन्त में वह परम्परानुसार अपना नाम डाल देता है, जैसे वह यह कह रहा हो कि बात चाहे किसी की हो, मूल में व्यक्तित्व उसका ही है, यह भुला देना ठीक नहीं होगा। रीतिकाव्य में जो तटस्थता, परव्यंजकता, आत्म-व्यंजना को दबाने की प्रवृत्ति है, वह इसी कारण है कि कवि ने अपने को अपने काव्य से दूर रखा है।

(२) कृष्ण का नायक रूप—इस प्रकार के सवैयों में कृष्ण

लौकिक नायक के स्तर पर उतर आते हैं, राधा लौकिक नायिका के। इस प्रकार रीति-काव्य में पौराणिक राधा-कृष्ण और भक्ति-काव्य के राधा-कृष्ण का साधारणीकरण हो गया है। यदि हम विश्लेषण करें तो पता लगेगा कि यह साधारणीकरण की प्रवृत्ति कई शताब्दियों से चली आई थी। भागवत में कृष्ण ब्रह्म हैं। राधा का उल्लेख नहीं है; परन्तु वे गोपियों के साथ प्रेम-लीलाएँ रचते हैं। व्यास पद-पद पर बता देते हैं कि यह प्रेमलीला ब्रह्म जीव के अनन्य सम्बन्ध का रूपक है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में गोलोकवासी की प्रेयसी के रूप में राधा भी प्रतिष्ठित हैं। आलिंगन, परिरम्भण, संयोग आदि का स्पष्ट उल्लेख है। कृष्ण को 'कामकलानिधि' कहा गया है; यद्यपि रीतिशास्त्र का सहारा नहीं लिया गया है। जयदेव के काव्य में ब्रह्मवैवर्त्त पुराण से सूत्र लेकर कृष्ण को धीर ललित नायक के रूप में चित्रित किया गया है। यहाँ भी कृष्ण उसी रूप में उपस्थित हैं, परन्तु कवि प्रकृति के उद्दीपन, मान, दूती, अभिसार—इनका भी सहारा लेता है। ये स्पष्टतया शृंगार-शास्त्र में मान्य हैं; परन्तु यहाँ यह खण्ड-काव्य के विषय बना दिये गये हैं। विद्यापति के काव्य में कृष्ण-राधा को एकदम नायक-नायिका के रूप में खण्ड-काव्य बनाकर उपस्थित किया गया है। विद्यापति के विषय हैं—राधा-कृष्ण का पूर्वराग, मिलन, अभिसार, मान, दूती, मानमोचन, पुनर्मिलन, विरह, मानसिक मिलन। यहाँ मानसिक मिलन के आध्यात्मिक सकेत को छोड़ कर शेष लौकिक प्रेम-काव्य ही है। सूरदास ने राधा-कृष्ण के प्रेम-विकास को रीति-शास्त्र के भीतर से नहीं देखा; यद्यपि 'साहित्यलहरी' के पदों में अलंकार-निरूपण और नायिका-भेद का प्रयत्न है। सूर-सागर के राधा-कृष्ण का प्रेमविकास अत्यन्त स्वाभाविक है। फिर भी शृङ्गार काव्यों से उन्होंने सहारा लिया है। उनके ग्रंथ

पर ब्रह्मवैवर्त्त पुराण और जयदेव का प्रभाव ही अधिक है। उनके पदों में आध्यात्मिक अर्थ लौकिक शृङ्गार से पुष्ट होता हुआ आगे बढ़ता है। परन्तु कवि ने प्रेमविकास को अत्यन्त मानवीय धरातल पर उतारा है।

केशव के काव्य में राधा-कृष्ण नायक-नायिकाओं की शृङ्गार रसांतर्गत सभी परिस्थितियों के भीतर से गुजरते हैं। इसका कारण यह है कि उन्हें उन पदों में आना है, जो शृङ्गार की अनेक परिस्थितियों के उदाहरण-स्वरूप हैं। रीति-काव्य में कृष्ण का यही रूप मान्य हो गया है। रीति-काव्य में भक्ति का समावेश भी है; यद्यपि लक्ष्य सहृदय पाठक ही है, भक्त नहीं। दृष्टिकोण यह है—

आगे के कवि रीझिहैं तो कविताई
न तो राधिका गुविंद सुमिरन को बहानो है

यह स्पष्ट है कि रीति-काव्य की इस प्रकार कवित्त सवैयों की परम्परा केशव से ही चली। उन्होंने अत्यन्त शक्तिशाली रूप से नई रूढ़ियों का निर्माण किया है। 'रसिकप्रिया' में कवि ने प्रसादगुण को हाथ से नहीं जाने दिया है और माधुर्यवृत्ति का भी ध्यान रखा है। इससे अनेक स्थानों पर वह सुन्दर काव्य की सृष्टि कर सका है। जैसे—

आजु विराजत है कहि केशव श्री वृषभानु कुमार कन्हाई
बानि बिरंचि वही रस काम रची जो बरी सो बधू न बनाई
अंग विलोकि त्रिलोक में ऐसी को नारि निहारिन बार लगाई
मूरतिवंत शृङ्गार समीप शृङ्गार किये जनु सुन्दरताई

यहाँ कवि ने बानी (सरस्वती) को कामदेव के हाथों से रचाया है, यह अत्यन्त असाधारण कल्पना है। नारी-सौन्दर्य के आदर्श के लिए रति की कल्पना हुई है, वाणी की नहीं। एक दूसरा कवित्त है—

कोमल विमल मन विमला सी सखी साथ
कमला ज्यों लीन हाथ कमल सनाल के
नूपुर की ध्वनि सुनि भोरे कलहंसन के
चौंकि चौंकि परैं चारु चेटवा मराल के
कंचन के भार कुचभारनि सकुच भार
लचकि लचकि जात कटि तट बालके
हरैं हरैं बोलत विलोकत हरैंई हरैं
हरैं हरैं चलत हरत मन लाल के

ऊपर के पद में 'विमल' 'विमला' 'कमला' 'कमल' आदि में अनुप्रास का आग्रह स्पष्ट है। इसी प्रकार 'कञ्चन के भार कुच भारनि सकुच भार' कहकर कवि ने अपनी नायिका को अत्यन्त ऐश्वर्यवती, सौन्दर्यवती और लज्जावती चित्रित किया है। भाषा-सौन्दर्य ने सौन्दर्य का एक मूर्त्त चित्र उपस्थित कर दिया है—

चौंकि चौंकि परैं चारु चेटवा मराल के

वास्तव में, भक्त कवियों ने ब्रजभाषा को काफी माँज दिया था। रीति-कवियों ने उनके इस भाषा-संस्कार से काफी फायदा उठाया है। नन्ददास का एक पद है—प्यारी पग हरैं हरैं धर। केशवदास ने इस हरैं शब्द का चमत्कार ही उपस्थित कर दिया है।

एक छंद में केशव ने सांगरूपक द्वारा कृष्ण के सौन्दर्य का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है—

चपला पट मोर किरीट लसै मघवा धनु शोभ बढ़ावत है
मृदु गावत आवत वेणु बजावत मित्र मयूर नचावत है
उठि देखि भटू भरि लोचन चातक चित्त की ताप बुझावत है
घनश्याम घने घन वेष धरे जु बने बन ते ब्रज आवत है

परन्तु अधिकांश कवित्त-सवैयों में केशव यमक का मोह नहीं छोड़ पाते—

हरित हरित हार हेरत हियो हरत
हारी हूँ हरिननैनी हरि न कहूँ लहो
बनमाली ब्रज पर बरषत बनमाली
बनमाली दूर दुख केशव कैसे सहों
हृदय कमलनैन देखि कै कमलनैन
होहुँगी कमलनैनि और हों कहा कहो
आप घने घनश्याम घनही ते होत घम
श्याम के दिवस घनश्याम बिन क्यों रहों

इस प्रकार के काव्य की तह तक पहुँचना कठिन काम है। पाठक को पहली ही पौर पर दंडधारी यमक का सामना करना पड़ता है, जिसका भेद कोष की सहायता के बिना खुल ही नहीं सकता। तब उसे स्त्री-अंगों के प्रति रूढ़ काव्यालंकारों का भेद जानना होता है। इसके बाद ही उसे केशव की "हरिण नेत्री" नायिका के दर्शन होते हैं,।

कहीं-कहीं केशव कल्पना की अत्यंत तीव्र उड़ान को रूपक में बाँध देते हैं, जैसे

है तरुणाई तरंगनि पूर अपूरब पूरब राग रँगे पथ
केशवदास जहाज मनोरथ संभ्रम विभ्रम भूरि भरे मथ
तर्क तरंग तरंगित तुग तिमिंगल शूल विशालनि के नथ
कान्ह कछू करुणामय हे सखि तेही किए करुणा वरुणालय

इसमें तरुणाई को समुद्र बनाया गया है, प्रेम या काम मिलनेच्छा का जहाज है, तर्क की तरंगों से यह जहाज टकरा रहा है, हृदयवेदना रूपी तिमिंगल उसे नष्ट करने पर तुले ही हैं। कृष्ण ही इस जहाज को करुणा कर पार लगाते हैं। साधारणतया इस प्रकार की कल्पना भक्ति काव्य को ही विशेष शोभित करती है, परन्तु यहाँ उससे शृंगाररस की वृद्धि ही अभीष्ट हो गई है।

फिर भी ऐसी उत्प्रेक्षाएँ उच्च कवि-प्रतिभा प्रकट करती हैं। इसी कोटि की एक उत्प्रेक्षा यह है—

> बन में वृषभानु कमारि मुरारि रमें रुचि सों रस रूप पिये
> कहूँ कूजत पूजत कामकला विपरीति रची रति केलि लिए
> मणि सोहत श्याम जराइ जरी अति चौकी चलै चहु चार हिये
> मखतूल के झूल झुलावत केशव भानु मनो शशि अंक लिये

कहीं-कहीं यह कल्पना की उड़ान इतनी ऊँची और असंगत हो जाती है कि साधारण चिन्ता उसे पकड़ भी नहीं सकती, जैसे यहाँ पर—

> भाल गुही गुन लाल लटैं लपटी कर मोतिन की सुखदैनी
> ताहि विलोकत आरसी लै कर आरस सो करुनारस नैनी
> केशव कान्ह दुरे दरसी परसी उपमा मति को अति पैनी
> सूरजमंडल में शशिमंडल मध्य धँसी जनु ताल-त्रिवेणी

इस छन्द में नायक-नायिका की प्रतिबिंब-भेंट का वर्णन है। नायिका ने माला पहरी है, उसका तागा लाल रङ्ग का है, मोतियों की लर उस पर लिपटी है। वह आरसी लेकर उस हार को अपने हृदय पर तरंगित देख रही है। इतने में कृष्ण (नायक) आ गये। पीछे से छिप कर उसे देखने लगे। परन्तु नायिका की आरसी में उनकी झाँई पड़ी और नायिका ने उन्हें पकड़ लिया। लाल गुण में गूँथी हुई माला जैसे सूरजमण्डल है, नायिका का मुख शशिमण्डल है, कृष्ण जैसे त्रिवेणी हैं; या नायक की वेणी माला और मुख की परछाईं के बीच आ पड़ी है और कृष्ण उसे छिप कर देखते हैं।

केशव ने बोधमाल के अंतर्गत कुछ प्रेमकूट भी लिखा है, जो एक प्रकार से सूरदास के दृष्टकूटों की ही श्रेणी का है। अंतर यह है कि उनके खोलने के लिए एक शब्द के अनेक अर्थ जानने

और अर्थ की परंपरा लगाने की आवश्यकता है और यहाँ रस-शास्त्र की रूढ़ियों और कवि-परम्परा का ज्ञान अनिवार्य है—
नायिका सखियों में बैठी है—

बैठी हुती वृषभानु कुमारि सखीन की मण्डली मण्डि प्रवीनी
लै कुम्हिलानो सो कंज परी इक पायन आइ गुवारिन धीनी
चंदन सों छिरकी वह पाकहँ पान दये करुणारस भीनी
चंदन चित्र कपोलन लोपिकै अञ्जन आँजि बिदा कर दीनी

ग्वालिनी ने कुम्हलाया हुआ जो कमल सामने पैरों पर रखा, इसका अर्थ यह है कि नायक इसी भाँति तेरे विरह में कुम्हला रहा है। नायिका ने उस कमल पर चदन छिड़का, अर्थ बताया कि मैं उसके हृदय की विरहतपन शांत करूँगी। पान दिया—कि मैं भी उससे अनुराग करती हूँ। उस ग्वालिन के गालों पर चन्दन लेप कर और आँखों में अंजन लगा कर बिदा किया, अर्थात् नायक जान ले जब चाँदनी फैलेगी और सब सो जायेंगे, तब मिलूँगी। इसी प्रकार यह दूसरा पद है—

सखि सोहत गोप सभा महँ गोविंद बैठे हुते द्युति को धरिकै
जनु केशव पूरण चद्र लसै चित चोर चकोरन को हरिकै
तिन को उलटौ करि आन दियो किहु नीरज नीर नए भरिकै
कहि काहे तैं नेकु निहार मनोहर फेर दियो कलिका करिकै

गोविंद गोपसभा में बैठे थे, इससे नायिका का आदेश दूती स्पष्ट तो कह नहीं सकती थी। अतः इशारा हुआ। उसने पानी से भरा हुआ कमल लाकर उलटा कर उन्हें दिया—तात्पर्य यह है कि नायिका उनके वियोग में इस तरह रो रही है। कमल नेत्रों के उपमान हैं ही। नायक ने उसको थोड़ा देखा और उसके फैले हुए दलों को संकुचित कर, उसे कली का रूप बनाकर दूती को लौटा दिया। यहाँ व्यग्य है कि जब कमल संकुचित हो जायगा, तब

मिलूँगा। काव्य-प्रसिद्धि है कि रात होने पर कमल संकुचित हो जाते हैं। सारे छंद का ढाँचा इसी रूढ़ि-प्रसिद्धि पर खड़ा है और इसे समझे बिना पाठक छंद का अर्थ नहीं जान सकता। कवि ने इन प्रेमकूटों को बोधमाल के उदाहरण में रखा है; परन्तु हम जानते हैं कि बाद में उन पर स्वतंत्र रूप से कविता का प्रासाद खड़ा किया गया।

रसिकप्रिया की विशेषता उसकी सुन्दर भाषा और उसका प्रसादगुण है, जैसे

चंदन विटप वपु कोमल अमल दल
कलित ललित तालपरी है लवङ्ग की
केशोदास तामैं दुरी दीप की सिखा-सी दौरि
दुरवत नीलवास द्युति अंग अंग की
पौनथान पच्छीपद शब्द जित तित होत
तित तित चौंकि चौंकि चाहै चोप संगकी
नंदलाल आगम विलोकै कुञ्ज जाल बाल
लीन्ही गति तेही काल पजर पतंग की

परन्तु कहीं-कहीं लोकज्ञान को आवश्यक अंग बनाकर भाव को क्लिष्ट भी बना दिया गया, जैसे इस शतरञ्ज के रूपक में—

प्रेममय भूप रूप सचिव सँकोच शोच
विरद विनोद फील मेलियत पचि कै
तरल तुरंग अवलोकनि अनन्त गति
रथ मनोरथ रहै प्यादे गुन गचि कै
दुहूँ ओर परी जोर घोर घनी केशोदास
होइ जीत कौन की को हारे हिय लचि कै
देखत तुम्हें गुपाल तिहि काल डरि बाल
उर शतरञ्ज कैसी बाजी राखी रचि कै

कृष्ण को देखते ही नायिका ने अपने हृदय रूपी शतरंज पर बाजी रच दी—खूब ? सूरदास ने भी अपने भक्तिकाव्य में शतरंज-ज्ञान का प्रमाण दिया है; परन्तु उन्होंने संसार के माया प्रपंच को ही शतरंज बनाया है। केशवदास ने नायिका के हृदय के भावों को ही शतरंज की चालें बना डाला। स्थान-स्थान पर केवल नामावली रूप में नायिका के अंगों के प्रतीक रख दिये गये हैं, जैसे

> कञ्ज कैमे फूले नैन दारों से दशन एन
>
> बिंब से अधर इक सुधा सो सुधार्‌यो है
>
> वेनी पिक वेनी की त्रिवेनी की बनाइ गुही
>
> बरनी बारीक कटि हाॅ को करि हार्‌यो है
>
> कीने कुच अमल कलपतरु के से फल
>
> केशोदास भो बिटिप मुगुध विचार्‌यो है
>
> देख्यो न गुपाल सखि मेरी को शरीर सब
>
> सोने से सँवारि सब सोंधे सों सुधार्‌यो है

इस प्रकार के पदों ने काव्यशास्त्र-ज्ञान की एक रूढ़ि ही पैदा कर दी, जिसने परवर्ती सारे काव्य को प्रभावित किया।

'रसिकप्रिया' में अनेक ऐसे कुरुचिपूर्ण स्थल भी हैं जिनके लिए केशव सत्य ही लांछित हैं। राधाकृष्ण का प्रेम एकांकी प्रेम है, कम से कम रीतिकवियों में, वहाॅ गोपियाॅ, राधा और कृष्ण यही तीन व्यक्तित्व प्रधान हैं। नन्द, यशोदा, वृषभानु और उनकी पत्नी, सास-ससुर, मा-बाप के रूप में नहीं आते। इस एकांतनिष्ठ लीलाविलास के दर्शन हमें भक्त-कवियों में ही होते हैं। बाद को तो इस एकांतिक प्रेम के चित्रण में एकदम मर्यादा का अभाव हो गया। केशवदास ने अपने काव्य में प्रसंगवश नायक-नायिका के मिलन की योजना की है। एक पद में धाय के घर मिलने की

व्यवस्था है, दूसरे पद में घर में आग लग गई है, भाग-दौड़ मची है; परन्तु कृष्ण इस हड़बड़ में सोती राधिका को जगाकर,

'लोचन विशाल चारुचिबुक कपोल चूमि
चांपे की सी माला लाल लीनी उर लाय कै,

एक पद में उत्सव के दिन मिलना होता है, एक पद में न्योते के मिस। वास्तव में केशव की कल्पना लोक-व्यवहार के साथ चलती थी; अतः उन्होंने ये भेद कर दिये। इनसे ही 'देव' जैसे कवियों को कुरुचिपूर्ण कवित्त लिखने का उत्साह मिला।

रसिकप्रिया में केशव भाव-व्यंजना पर इतना बल देते हैं कि वे अस्वाभाविक हो जाते हैं। सच तो यह है कि परवर्ती रीतिकाल की शृङ्गार रस विवेचन की सभी प्रवृत्तियाँ केशवदास की इस रचना में पूर्ण विकसित रूप से मिलती हैं। इन प्रवृत्तियों को उपस्थित करने का श्रेय कुछ उन्हें है, कुछ उनके वातावरण को, कुछ उस रीतिशास्त्र को जिसका सहारा उन्होंने लिया। परन्तु स्वयं युग की चेतनाधारा भी उसी ओर दौड़ रही थी, नहीं तो परवर्ती कवियों को केशव का काव्य एक बड़ी आवश्यक रूढ़ि न बन पाता।

४

केशव का प्रकृति-वर्णन

जैसा हम कह चुके हैं, केशव ने प्रकृति-वर्णन को 'अलंकार' के अन्दर रखा है। कविप्रिया के प्रकृति सम्बन्धी स्थलों को पढ़ने से यह पता चलता है कि वे वस्तु-निरूपण मात्र को वर्णन मानते हैं। इससे हमें आशा करनी चाहिये कि उनके प्रकृति-वर्णन नामोल्लेख मात्र होंगे। परन्तु केशव जैसा कवि नामोल्लेख में भी पांडित्य दिखाए बिना नहीं रह सकता, इसलिए वह श्लेष का सहारा लेकर चमत्कार की सृष्टि करता है। नामोल्लेख मात्र से प्रकृति का कोई रूप सामने नहीं आ सकता, श्लेष के प्रयोग से तो प्रकृति-सौन्दर्य कोसों दूर भाग जाता है। दंडकवन का वर्णन करते हुए केशव लिखते हैं—

बेर भयानक सी अति लगैं
अर्कसमूह तहाँ जगमगैं

× × ×

पाडव की प्रतिमा सम लेखो
अर्जुन भीम महामति देखो

यहाँ बेर, अर्क, अर्जुन और भीम शब्दों में श्लेष है—

बेर=(१) बेरफल (२) काल।
अर्क=(१) धतूरा (२) सूर्य।
अर्जुन=(१) कुकुभ वृक्ष (२) पांडुपुत्र।
भीम=(१) अम्लवेतसवृक्ष (२) पांडुपुत्र।

कुकुम को अर्जुन और अम्लवेतस को भीम केवल शब्द-साम्य की दृष्टि से कहा गया है, नहीं तो इनमें समानता ही क्या है ? इस प्रकार कोई प्रकृति-चित्र उपस्थित नहीं हो सकता।

इसी प्रकार जहाँ उद्दीपन भाव के अन्तर्गत प्रकृति का वर्णन है, वहाँ वह अलंकार-प्रतिष्ठा के पीछे छिप जाता है। वर्षा और कालिका दोनों का एक साथ वर्णन करते हुए केशवदास लिखते हैं—

भौंहैं सुर चाप चारु प्रमुदित पयोधर
भूखण जराय ज्योति तड़ित रलाई है
दूरि करी सुख मुख सुखमा ससी की नैन
अमल कमलदल दलित निकाई है
केसोदास प्रबल करेनुका गमन हर
मुकुत सुहंसक—सबद सुखदाई है
अम्बर बलित मति मोहै नीलकण्ठ जू की
कालिका कि बरषा हरषि हिय आई है

(इन्द्र-धनुष ही जिसकी सुन्दर भौंहें हैं, बादल ही जिसके उन्नत कुच हैं, विद्युच्छटा ही जिसके जड़ाऊ जेवर हैं, जिसने अपने मुख से सहज ही में चंद्रमा के मुख की शोभा दूर कर दी है, जो नीलकंठ महादेव की मति को मोहित करती है, वही कालिका या पार्वती है या यह वर्षा है।)

निम्नलिखित सूर्य का यह वर्णन उत्प्रेक्षा अलंकार के कारण उद्दीपन विभाव को ढक देता है—

अरुणगात अति प्रात, पद्मिनी प्राणनाथ भय
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेममय
परिपूरण सिंदूरपुर कैधौं मंगलघट
किधौं इन्द्र को छत्र मढ्यो माणिक मयूखपट

कै शोणित कलित कपाल यह, किल कापालिक काल को
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग्भामिनि के भाल को

(सूर्य प्रातःकाल अति लाल होकर उदय हुए हैं, मानो कमल और चक्रवाक का प्रेम जो हृदय में है, बाहर निकल आया है। या कोई सिंदूर से रँगा मङ्गल घट है। या इंद्र का छत्र है जो माणिक की किरणों से बने हुए कपड़े से बनाया गया है। या निश्चय-पूर्वक काल रूपी कापालिक के हाथ में यह किसी का रक्त भरा सिर है, या पूर्व दिशा रूपी स्त्री के मस्तक का माणिक है।)

राम-काव्य में पुराणों की भाँति वर्षा और शरद के वर्णन का बड़ा महत्त्व है। केशवदास ने भी उनका वर्णन किया है। वर्णन उद्दीपन के भीतर रखा जा सकता है। वह अनेक अलंकारों से पुष्ट है। वर्षा का वर्णन इस प्रकार है—

देखि राम बरषा ऋतु आई। रोम रोम बहुधा दुखदाई
आसपास तम की छवि छाई। राति द्यौस कछु जानि न जाई
मन्द मन्द धुनि सों घन गाजे। तूर तार जनु आवझ बाजै
ठौर ठौर चपला चमकै यों। इन्द्रलोक तिय नाचति है ज्यों

(देखो राम, वर्षा ऋतु आ गई। इससे उद्दीपन के कारण रोम-रोम को दुःख होता है। चारों ओर अँधेरा इतना है कि रात-दिन कुछ जाना नहीं जाता। मन्द-मन्द ध्वनि से बादल गरजते हैं। उनका शब्द ऐसा लगता है मानो तुरही, मँजीरा और ताशे बजते हों और जगह जगह बिजली चमकती है जैसे इन्द्रपुरी की अप्सराएँ नाचती हों)

सोहैं घन स्यामल घोर घने। मोहैं तिनमें बकपांति मनौ
संखावलि पी बहुधा जल स्यों। मानों तिनको उगिलै बल स्यों
शोभा अति शक्रसरासन में। नाना द्युति दीखति है घन में
रत्नावलि सी दिवि द्वार भनो। वर्षागम बाँधिय देव मनो

घन घोर घने दसहू दिसि छाये। मघवा जनु सूरज पै चढ़ि आये
अपराध बिना छिति के तन ताये। तिन पीड़न पीड़ित ह्वै उठि धाये
अति गाजत बाजत दुंदुभि मानों। निरघात सबै पविपात बखानों
धनु है, यह गौरमदाइन नाहीं। सरजाल बहै जलधार वृथाहीं
भट चातक दादुर मोर न बोले। चपला चमकै न फिरै खँग खोले
दुतिवंतन को विपदा बहु कीन्ही। धरती कहँ चन्द्रबधू धरि दीन्ही

(घोर काले बादल सोहते हैं, उनमें उड़ती हुई वक-पंक्तियाँ मन को सोहती हैं—जैसे बादल समुद्र से जल पीते समय एक साथ बहुत से शंख भी पी गए थे, जो वे बलपूर्वक उगल रहे हैं। इन्द्र का धनुष अत्यधिक शोभा दे रहा है, जैसे वर्षा के स्वागत में देवताओं ने सुरपुर के द्वार पर रत्नों की बन्दनवार बाँधी हो। सब ओर घने बादल छाये हुए हैं, मानों इन्द्र ने सूर्य पर चढ़ाई की है—सूर्य ने बिना अपराध पृथ्वी को संतप्त किया; अतः पृथ्वी के दुख से दुखित होकर सूर्य को दंड देने के लिए इन्द्रदेव दौड़ पड़े। बादल गरज रहे हैं जैसे रण के नगारे बज रहे हों और बिजली की कड़क जैसे वज्रपात की ध्वनि हो। यह इन्द्र-धनुष नहीं है, सुरपति का चाप है, बूँदें नहीं हैं, बाणवर्षा है। पपीहे, मेंढक और मोर नहीं बोलते, इन्द्र के भट सूर्य को ललकार रहे हैं। यह बिजली नहीं है, वरन् इन्द्र महाराज तलवार खोले घूम रहे हैं।)

यहाँ तक तो ठीक है; परन्तु जब केशव पौराणिक गाथाओं का आश्रय लेते हैं और उसके बल पर चमत्कार उत्पन्न करते हैं, तो वे अपने प्रकृत रूप में हमारे सामने आते हैं—

तरुनी यह अत्रि ऋषीश्वर की सी। उर में हम चंद्रप्रभा सम नीसी
बरषा न सुनौ किलकै कल काली। सब जानत हैं महिमा अहिमाली

(यह वर्षा अत्रिपत्नी अनुसूया-सी है; क्योंकि जैसे अनुसूया के गर्भ में सोम की प्रभा थी वैसी ही इस बादल में भी चन्द्रप्रभा छिपी है।

वर्षा के शब्द नहीं हैं, वरन् काली सुन्दर शब्दों से हँस रही है। जैसे काली की समस्त महिमा महादेव ही जानते हैं, वैसे ही वर्षा की समस्त महिमा सर्प-समूह ही जानता है।)

परन्तु वर्षाकाल की नालियों को अभिसारिका बनाना तो कल्पना की विडंबना ही होगी—

अभिसारिनी सी समझै परनारी। सतमारग मेटन की अधिकारी
मति लोभ महामद मोह छई है। द्विजराज सुमित्र प्रदोष मई है

(इस वर्षा से बनी हुई नालियाँ परकीयाभिसारिका-सी हैं। जैसे वे स्वधर्म को मेटती हैं, वैसी ही इस वर्षा में बड़ी-बड़ी नालियों ने अच्छे मार्गों के मिटाने का अधिकार पाया है। यह वर्षा पापी की लोभमद से भ्रष्ट बुद्धि है जो ब्राह्मण और अच्छे मित्रों को दोष देती है—यह चन्द्रमा और सूर्य को अंधकार में छिपाये रहती है) शरदवर्णन भी अलंकारों पर आश्रित है। शरद के चार रूपकों का प्रयोग किया गया है—सुन्दरी युवती, नारद की मति, पतिव्रता स्त्रियों का सच्चा प्रेम और वृद्ध दासी। यहाँ उद्दीपन विभाव की पुष्टि की ओर से भी ध्यान हटा लिया गया है।

दन्तावलि कुंद समान गनो। चंद्रानन कुंतल भौंर घनो
भौंहें धनु खंजन नैन मनो। राजीवनि ज्यों पदपानि मनौ
हारावलि नीरज हीय रमैं। जनु लीन पयोधर अम्बर में
पाटीर जुन्हाइहि अंग धरे। हँसी गति केशव चित्त हरे

(इस शरद सुन्दरी के कुन्द पुष्प दाँत हैं, चन्द्रमा मुख, केश भ्रमर-समूह। नवीन बने हुए धनुष भौंहें हैं, खंजन नेत्र, हाथ-पाँव लाल कमल हैं। कुमुद पुष्प या मोतियों का हृदय पर पड़ा हार समझो—कुचों का कपड़ा में छिपाए हैं। चाँदनी ही का चन्दन तन पर लगाए हुए मन को हरती है।)

श्री नारद की दरसै मति सी। लोपै तम तार अकीरति सी

(जैसे नारद की बुद्धि से अज्ञानांधकार, त्रिताप और अपयश का लोप होता है, वैसे ही इस शरद से भी वर्षा का अंधकार, सिंह के सूर्य का ताप और अकर्तव्यता का लोप होता है।)

मानौ पतिदेवन की रति सी। सन्मारग की समझौ गति सी

(यह शरद पतिव्रताओं के सच्चे प्रेम के समान है। जैसे उनके कारण अन्य स्त्रियों को भी सन्मार्ग सूझ पड़ता है, वैसे ही शरद के आने से ही मार्ग चलने योग्य हो गये हैं।)

लक्ष्मण दासी वृद्ध-सी आई सरद सुजाति
मनहु जगावन को हमहिं बीते बरषा राति

(यहाँ शरद की उपमा वृद्ध दासी से दी गई है। जैसे वृद्ध दासी प्रभात में आकर राजकुमारों को जगाती है, वैसे ही यह शरद भी हमें वर्षारूपी रात बीतने पर जगा कर कर्म-रत करने आई है।)

सूर्योदय का वर्णन भी देखिये—

कछु राजत सूरज अरुन खरे। जनु लक्ष्मण के अनुराग भरे
चितवत चित्त कुमुदिनी त्रसै। चोर चकोर चिता सी लसै

पसरे कर कुमुदिनी काज मनो
किधौं पद्मिनी को सुख देन घनौ
जनु ऋक्ष सबै यहि त्रास भगे
जिय जानि चकोर फँदानि ठगे

व्योम में मुनि देखिये अति लालश्री मुख साजहीं
सिंधु में बड़वाग्नि की जनु ज्वालमाल बिराजहीं
पद्मरागिनि की किधौं दिवि धूरि पूरित सी भई
सूर-बाजिन की खुरी अति तिक्षता तिनकी हई

(लाल सूर्य इस तरह शोभा देते हैं मानों लक्ष्मण के अनुराग से भरे हैं। सूर्य को देखते ही कुमुदिनी अपने चित्त में डरती है

और चारों ओर चकोरों के लिए तो चिता के ही समान है। सूर्य की फैली किरणें ऐसी लगती हैं मानों उसने कुमुदिनी को पकड़ने के लिए या कमलिनी को अति सुख देने के लिए हाथ फैलाये हैं। सूर्य की किरणों के जाल में फँसने के डर से तारे भाग गये हैं और चकोर भी ठगा-सा हो रहा है। आकाश में लाल सूर्य ऐसा लगता है मानों समुद्र में बड़वाग्नि की ज्वालाओं का समूह एकत्र होकर विराज रहा है अथवा सूर्य के घोड़ों के अति तीक्ष्ण सुमों से चूर्ण की हुई पद्मराग मणियों की धूल से सारा आकाश पूरित-सा हो गया है।)

केशव का पंपासर-वर्णन है—

अति सुंदर शीतल सोम बसै। जहँ रूप अनेकनि लोभ लसै
बहु पंकज पक्षि विराजत हैं। रघुनाथ विलोकत लाजत हैं
सिगरी ऋतु सोभित शुभ्र जहीं। लहै ग्रीषम पै न प्रवेश सही
नव नीरज नीर तहाँ सरसैं। सिय के सुभ लोचन से दरसैं

सुन्दर सेत सरोरुह में करहाटक हाटक की दुति को है
तापर भौंर भलो मनरोचन लोक विलोचन की रुचि रोहै
देखि दई उपमा जलदेविन दीरघ देवन के मन मोहै
केशव केशवराय मनो कमलासन के सिर ऊपर सोहै

मिलि चक्किन चंदन वात बहै, अति मोहत न्यायन ही मति को
मृगमित्र विलोकत चित्त जरै लिये चंद्र निशाचर-पद्धति को
प्रतिकूल शुकादिक होहिं सबै जिय जानै नहीं इनकी गति को
दुख देत तड़ाग तुम्हैं न बनै कमलाकर है कमलापति को

(पंपासर सुन्दर और शीतल है और वहाँ अनेक रूप से लोभ लगता है। वहाँ बहुत प्रकार के कमल और पक्षी हैं, पर वे सब श्री रघुनाथ को देखकर लज्जित होते हैं। वहाँ समस्त ऋतुएँ शोभती हैं, पर ग्रीष्म ऋतु नहीं होती। जल में नवीन खिले कमल

सीता के सुन्दर नेत्रों के समान दिखलाई पड़ते हैं। सुन्दर सफेद कमल में पीली छतरी है। उस पर सुन्दर भौंरा बैठा है। इसको देख कर जलदेवियों ने ऐसी उपमा दी जिसे सुनकर बड़े-बड़े देवताओं के मन मोहित हो गए—कि इस पीली छतरी पर काला भौंरा ऐसा जान पड़ता है मानो ब्रह्मा के सिर पर विष्णु विराजमान हों। हे कमलाकर पंपासर, कमलापति श्रीराम को तुम क्यों दुःख देते हो, यह बात तुम्हारे योग्य नहीं; क्योंकि तुम कमलाकर हो, ये कमलापति, इससे तुम्हारे दामाद हुए। यदि कहो कि मलय पवन दुःख देता है, तो वह तो जड़ है, दुष्ट सर्प के संग से वह विषैला है। चन्द्रमा जो उनके चित्त को दग्ध करता है, सो भी ठीक, है तो आखिर वह रात्रिचर! शुकपिकादि पक्षी मधुर स्वर से सीता की याद दिलाकर उन्हें दुःख देते हैं, पर वे जड़ हैं, इनकी विरह दशा को नहीं जानते। परन्तु तुम सम्बन्धी होकर क्यों ऐसी बात करते हो, जो भगवान श्रीराम को दुखित करती है। यदि हम इस वर्णन का विश्लेषण करें, तो हमें केशव की प्रकृति सम्बन्धी धारणा का पता चलेगा।)

१ली पंक्ति—इसमें ध्वनि से सरोवर की शीतलता और मनसोहकता का वर्णन है।

२री पंक्ति—यहाँ रूढ़ि से सहारा लिया गया है जहाँ कमलों और पक्षियों की उपमा अंगों से दी जाती है। यहाँ भी अभिधा का सहारा न लेकर लक्षणा का सहारा लिया गया है।

३री—प्रकृति के सम्बन्ध में रूढ़ि—शीतलता की व्यंजना—क्लिष्ट कल्पना द्वारा अभिधेय की पूर्ति।

४थी—उपमा

पद १—यहाँ उत्प्रेक्षा ही ध्येय है, वह भी कल्पना की खींचा-तानी से सिद्ध की गई है। सारे सरोवर में से केवल कमल पर ही दृष्टि गड़ा दी गई है।

पद २—इसमें वक्रोक्ति का सहारा लेकर (कमलाकर= पपासर, कमला का जो राम को व्याही है पिता) राम को पंपासर का दामाद बताया है। एक अत्यन्त क्लिष्ट कल्पना—राम तुम्हारे दामाद हैं, तुम इन्हें दुःख क्यों देते हो ?

सक्षेप में हम कह सकते हैं कि (१) केशव ने प्रकृति को काव्य रूढ़ियों और अलंकारों के भीतर से देखा है, (२)अलंकारो और विशेषतया श्लेष के कारण उनके प्रकृति वर्णन में प्रकृति का कोई सौन्दर्य प्रस्फुटित नहीं होता, (३) इन्होंने प्रकृति के निम्न प्रयोग किये हैं—(१) नामोल्लेख-प्रणाली, जैसे तीसरे प्रकाश के वन-वर्णन मे—

तरु तालीस तमाल ताल हिताल मनोहर
मंजुल बंजुल लकुच बकुल कुल केर नारियर
एला ललित लवङ्ग सङ्ग पुगीफल सोहै
सारी शुककुल कलित चित्त कोकिल अलि मोहै
शुभ राजहंस कलहंस कुल नाचत मत्त मयूर गन
अति प्रफुलित फलित सदा रहै केशवदास विचित्र वन

(२) उद्दीपन विभाव के लिए प्रकृति का वर्णन, (३) श्लेष, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि के साथ क्लिष्ट कल्पना, (४) प्रकृति को द्रष्टा के दृष्टिकोण से देखना, जैसे

कछु राजत सूरज अरुण खरे
जनु लक्ष्मण के अनुराग भरे

यहाँ प्रकृति मानसिक अवस्था का प्रतीक है (५) प्रकृति में कल्पनात्मक सौन्दर्य-निरीक्षण, जैसे

चल्यो गगनचर धाय दिनकर वानर अरुण मुख
कीन्हो झुकि झहराय, सकल तारका कुसुम बिन

(६) नीति आदि की दृष्टि के साथ जैसे भागवत अथवा मानस में, परन्तु यह प्रयोग बहुत कम है, जैसे—

१—बरनत केशव सकल कवि विषम गाढ़ तम सृष्टि
कुपुरुष केवा ज्यों भई सन्तत मिथ्या दृष्टि
२—जहीं वारुणी की करी रचक रुचि द्विजराज
तहीं कियो भगवंत बिन संपति सोभा साज

अधिकांश प्रकृतिवर्ण (२) (३) के अंतर्गत है। ३०वें प्रकाश का चंद्रवर्णन (३) का उदाहरण है—

(सीता)

फूलन की शुभ गेंद नई है। सूंघि शची जनु रची दई है
दर्पण शशि श्री रति को है। आसव काय महीपति को है
मोतिन को श्रुति भूषण जानो। भूलि गई रवि की तिय मानो
(उत्प्रेक्षा)

(राम)

अङ्गद को पितु सो सुनिये जू। सोहत कण्ठ सङ्ग लिए जू

(केवल श्लेष के बल पर)

(सीता)

भूप मनोमय छत्र धर्‌यो ज्यों। सोक वियोगिनि को दियो ज्यों
देव नदी जल राम कह्यौ जू। मानहु फूलि सरोज रह्यौ जू
शङ्ख किधौं हरि के कर सोहै। अम्बर सागर ते निकसो है

(राम)

चारु चंद्रिका सिंधु में शीतल स्वच्छ सतेज
मनो शेषमय शोभित है हरिधिष्ठित सेज

(केशोदास)

केशोदास है उदास कमलाकर सो कर
शोषक प्रदोष ताप तमोगुण तारिये
अमृत अशेष के विशेष भाव बरसत
कोकनद मोद चद्र खजन विचारिये

परम पुरुष यह त्रिभुव पत्ष सब
सुमुख सुखद विदूषक उर धारिये
हरि हैं री हिये में न हरिख हरिणनैनी
चन्द्रमा न चन्द्रमुखी नारद निहारिये

ऊपर के अवतरण में उत्प्रेक्षाएँ इस प्रकार हैं—

१—शची की फूल की गेंद है चंद्रमा

२—रति का दर्पण है

३—सूर्यपत्नी का कर्णाभूषण है

४—तारा उसके साथ है, इससे वह अंगद का पिता वालि जान पड़ता है

५—छत्रयुत कामदेव है

६—स्वर्गंगा का कमल है

७—अंबररूपी समुद्र से निकलता हुआ भगवान का आयुध शंख, है

८—इस चंद्रमारूपी क्षीरसागर में शेषशय्या पर मृगांक के मिस स्वयं विष्णु विराज रहे हैं

९—यह चन्द्रमा नहीं है, ऋषि नारद हैं

यह स्पष्ट है कि केशव का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण अधिकांश में क्लिष्ट है। वह श्रीहर्ष से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। यह हर्ष का विषय है कि रीतिकाल के कवियों ने उनके दृष्टिकोण को संपूर्णतया नहीं अपनाया, नहीं तो हमें प्रकृति के सारे वर्णन श्लेष और उत्प्रेक्षा से भरे हुए ही मिलते। रीतिकाल का भी अधिकांश वर्णन उद्दीपन विभाव की पुष्टि के लिए हुआ है और सेनापति जैसे एक दो कवियों को छोड़कर दूसरे कवियों ने रूढ़ि का ही अधिक पालन किया है। उनका प्रकृति से सीधा आत्मानुभव का संबन्ध नहीं जान पड़ता। परन्तु फिर भी वहाँ वह विकृति नहीं है, जो केशव के काव्य में दिखलाई पड़ती है। पांडित्य के भीतर

से प्रकृति को देखने का वही फल हो सकता था। वाल्मीकि में 'प्रवर्षण' पर्वत का अत्यन्त सुन्दर वर्णन है। इसे केशव के वर्णन से मिलाइये—

देख्यो सुभ गिरिवर, सकल सोभधर, फूल बरन बहु फरनि फरे
सँग सरभ ऋच्छ जन, केसरि के गन, मनहु चरन सुग्रीव परे
सँग सिवा विराजै, गजमुख गाजै, परभृत बोलै चित्त हरे
सिर सुभ चन्द्रक धर, परम दिगम्बर, मानो हर अहिराज धरे

इसमें श्लेष से पुष्ट उल्लेख अलंकार है। श्लेष इस प्रकार है—

१—सरभ (१) पशु (२) बानरों की एक जाति
२—ऋच्छ (१) रीछ (२) जामवंत
३—केसरी (१) सिंह (२) बानरों की एक जाति
४—सिवा (१) शृगाली (२) पार्वती
५—गजमुख (१) गणेश (२) मुख्य-मुख्य जाति के हाथी
६—परभृत (१) कोयल (२) बड़े-बड़े सेवक, अर्थात् नन्दी, भृंगी, इत्यादि
७—चंद्रक (१) जल (२) चंद्रमा
८—दिगम्बर (१) दिशाएँ जिसका परिधान हों, बहुत बड़ा नंगा, (२) वस्त्ररहित
९—अहिराज (१) बड़े सर्प, (२) वासुकि।

पहली दो पंक्तियाँ

अर्थ

श्रीरामजी ने उस पवित्र पहाड़ को देखा कि सब प्रकार की शोभा से युक्त है, अनेक रङ्ग के फूल फूले हैं और बहुत प्रकार के फल भी लगे हैं। वह पहाड़ अनेक वनपशु, रीछ और सिंहों से युक्त है। ऐसा जान पड़ता जैसे सुग्रीव, जामवन्त और केशरी जाति के बानरों को लिए हुए राम के चरणों में पड़े हैं।

अंतिम दो पंक्तियाँ

इस पर्वत में शृगाल भी हैं, बड़े बड़े हाथी भी गजरते हैं, कोयल की बोली चित्त हरती है। इस पर्वत पर जलाशय भी हैं और यह अति विस्तृत है। यहाँ बड़े-बड़े सर्प रहते हैं।

यह पर्वत शिव हैं, साथ में शिवा (पार्वती) और गणेश हैं। नन्दी-भृङ्गी आदि हैं जो स्तुति-गान से उनको प्रसन्न करते हैं। शिवजी के शिर पर चन्द्रमा है। वे परम दिगम्बर हैं और वासुकि को धारण किए हुए हैं।

इस प्रकार मस्तिष्क पर बल देकर साम्यवाची शब्दों के सहारे या श्लेष से कविता को क्लिष्ट बना देना, केशव के बायें हाथ का खेल है। इससे प्रकृति का सारा सौन्दर्य ताश के महल की भाँति ढह पड़ता है।

अंत में डा० बड़थ्वाल के शब्दों में—"प्रकृति के जितने भी वर्णन उन्होंने (केशव ने) दिये हैं, वे प्रकृति-निरीक्षण का जरा भी परिचय नहीं देते। ×× उन्होंने × प्रकृति का परिचय कवि-परम्परा से पाया है ××× मालूम होता है कि प्रकृति के बीच में वे आँखें बन्द करके जाते थे। क्योंकि प्रकृति-दर्शन से प्रकृति कवि के हृदय की भाँति उनका हृदय आनन्द से नाच नहीं उठता। प्रकृति के सौन्दर्य से उनका हृदय द्रवीभूत नहीं होता। उनके हृदय का वह विस्तार नहीं है जो प्रकृति में भी मनुष्य के सुख दुख के लिए सहानुभूति ढूँढ सकता है, जीवन का स्पंदन देख सकता है, परमात्मा के अंतर्हित स्वरूप का आभास पा सकता है। फूल उनके लिए निरुद्देश्य खिलते हैं, नदियाँ बेमतलब बहती हैं, वायु निरर्थक चलती है। प्रकृति में वे कोई सौन्दर्य नहीं देखते, वे उन्हें भयानक लगती हैं, वर्षा काली का स्वरूप सामने लाती है और उदीयमान अरुणिमामय सूर्य कापालिक के शोणित भरे खप्पर का स्वरूप उपस्थित करता है। प्रकृति की सुन्दरता केवल पुस्तकों

अपनी बात

मई १६४४ में 'प्रेमचंद : एक अध्ययन' का पहला संस्करण निकला था। पुस्तक मेरी अनुपस्थिति में छपी थी—फिर प्रेस के भूतों की कृपा न होना आश्चर्य की बात होती। इस नये संस्करण में वे सब भूलें सुधार दी गई हैं और जहाँ आवश्यक समझा गया है, यथोचित परिवर्तन और परिवर्द्धन भी कर दिया गया है। इन परिवर्तनों और परिवर्द्धनों से प्रेमचन्द के मूल्यांकन में कोई अंतर नहीं पड़ा है, परन्तु ग्रंथ की उपादेयता बढ़ गई है।

प्रेमचन्द आधुनिक भारत के चार-पाँच प्रमुख कथाकारों में से हैं। पिछले ३०-३५ वर्षों की राजनैतिक और सामाजिक हलचलों तथा किसानों-मजदूरों और शहर के मध्यवित्तों का जैसा सफल चित्रण उन्होंने किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। आज १२ वर्ष बाद भी उन जैसी प्रभावशाली क़लम की बादशाहत दिखलाई नहीं पड़ती। उनका साहित्य ही हमारे राष्ट्रीय जीवन का इतिहास बन गया है। आज की पीढ़ी के लिए तो वह अपने युग का अत्यंत स्पष्ट दर्पण है ही, कल की स्वतंत्र भारत की संतानों को भी उसमें बीते युगों की प्राणदायी प्रेरणा मिलती रहेगी, इसमें संदेह नहीं। इस एक कलाकार ने हमें पंद्रह-बीस हज़ार पृष्ठ दिये हैं और उनमें हमारे जीवन के सारे क्षेत्रों को छू लिया है। इतनी युग-व्यापक

साहित्य-साधना की समीक्षा के लिए भी एक हजार पृष्ठ चाहिये। प्रस्तुत पुस्तक 'रूप रेखा'-मात्र ही बन पाई है।

परंतु इस 'रूपरेखा' से भी प्रेमचन्द के जीवन संघर्ष, उनके कलात्मक विकास और उनके साहित्य के संबंध में बहुत कुछ जाना जा सकेगा। प्रेमचन्द गाधीवादी कम हैं या अधिक, उनकी समाजवादी प्रेरणा का स्रोत क्या है, इत्यादि प्रश्न इसमें नहीं उठाये गये हैं, परंतु शुद्ध साहित्यिक समीक्षा के साथ-साथ प्रेमचंद के राजनैतिक और सामाजिक प्रगतिशील दृष्टिकोण की चर्चा अनिवार्यतः आ गई है।

—आशा है, इस दूसरे संस्करण में यह पुस्तक पाठकों को और भी अधिक रुचेगी।

सं० २००५, आषाढ़ कृष्ण १
२२ जून, १९४८

रामरतन भटनागर

१

प्रेमचन्द

प्रेमचंद का जन्म १९३७ संवत् (१८८० ई०) में हुआ। पिता डाकख़ाने के क्लर्क थे, माता मरीज़। एक बड़ी बहन भी थीं। पिता २०) रु० पाते थे। ४०) रु० तक पहुँचते उनकी मृत्यु हो गई। उन्होंने १५ वर्ष की अवस्था में प्रेमचंद का विवाह कर दिया और विवाह करने के साल भर बाद ही परलोक सिधार गये। प्रेमचंद उस समय नवें दर्जे में पढ़ते थे। अब घर में उनकी स्त्री, विमाता और दो सौतेले भाई रह गये। घर में जो कुछ पूँजी थी, वह पिता जी की छः महीने की बीमारी और क्रिया-कर्म में स्वाहा हो चुकी थी। आगे पढ़ने को धुन थी। काशी के क्वीन्स कालिज में पढ़ते थे। फीस माफ थी। स्कूल से पढ़कर बाँस के फाटक पर एक लड़के को पढ़ाने जाते और छः बजे छुट्टी पाकर पाँच मील चलकर देहात तक पहुँचते। पहुँचते-पहुँचते आठ बज जाते। प्रातःकाल आठ ही बजे फिर घर से चलना पड़ता था। सैकिंड डिवीजन में मैट्रिक पास हुए। उसी साल हिन्दू कालिज खुला था। उसमें पढ़ने का निश्चय किया। फीस माफ कराने का बड़ा प्रयत्न करने पर भी फीस माफ न हुई। परन्तु किसी तरह पढ़ाई जारी रखी। इंडर में कई बार हिसाब में फेल

हुये और अन्त में इम्तहान देना छोड़ दिया। १०-१२ साल के बाद जब हिसाब अख़्तियारी हो गया तो इण्टर पास किया और फिर बी० ए०।

कालिज छोड़ने पर एक वकील के यहाँ ट्यूशन मिल गई थी। 'जीवनसार' नामक आत्म-कहानी में जो १९३३ के हंस के आत्मकथांक में छपी है, प्रेमचंद ने उन दिनों का मार्मिक वर्णन किया है। वेतन ५) रु० था। २) रु०-२॥) रु० अपने आप पर ख़र्च करते, दो-ढ़ाई घर दे आते। वकील साहब के अस्तबल में एक कच्ची कोठरी थी, उसी में रहते। एक वक़्त खाना पका लेते। फ़ुर्सत के समय लाइब्रेरी जाकर उपन्यास आदि पढ़ते। वकील साहब के भाई मैट्रिकुलेशन में साथ पढ़े थे, उनसे उधार लेकर काम चलाते और वेतन से कटा देते। एक बार एक दुकान पर एक पुरानी किताब बेचने गये, वहाँ एक सज्जन से भेंट हो गई। एक छोटे-से स्कूल के हेडमास्टर थे। उन्हें सहकारी अध्यापक की ज़रूरत थी। १८) रु० के वेतन पर इन्हें रख लिया। यह १८९९ ई० की बात है। बढ़ते-बढ़ते १९०८ ई० में सब-डिप्टी इसपेक्टर हो गये और १९२० के असहयोग आन्दोलन तक शिक्षा विभाग में ही काम करते रहे। उन दिनों वे गोरखपुर थे। सारे देश का दौरा करते हुए गांधी जी वहाँ आये। उनके व्यक्तित्व से प्रभावित होकर दो ही चार दिन बाद अपनी २० साल की नौकरी से इस्तीफा दे दिया और देहात में जाकर प्रचार और साहित्य-सेवा को अपने जीवन का उद्देश्य बनाया।

प्रेमचंद की पहली रचना एक ड्रामा थी जिसमें उन्होंने अपने मामू साहब के चमारी-प्रेम की खिल्ली उड़ाई थी। "मेरी पहली रचना" मे उन्होने जो लिखा है उससे उनके बचपन के अध्ययन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है—"उस समय मेरी उम्र

कोई १३ साल की रही होगी। हिन्दी बिलकुल न जानता था। उर्दू के उपन्यास पढ़ने का उन्माद था। मौलाना शरर, पं० रतननाथ सरशार, मिर्जा रुसवा, मौलवी मुहम्मद अली (हरदोई-निवासी) उस वक़्त के सर्वप्रिय उपन्यासकार थे। इनकी रचनाएँ जहाँ मिल जाती थीं, स्कूल की याद भूल जाती थी और पुस्तक समाप्त करके ही दम लेता था। उस जमाने में रेनाल्ड के उपन्यासों की धूम थी। उर्दू में उनके अनुवाद धड़ाधड़ निकल रहे थे और हाथों-हाथ बिकते थे। मैं भी उनका आशिक़ था स्व० हज़रत रियाज़ ने, जो उर्दू के प्रसिद्ध कवि हैं और जिनका हाल में देहांत हुआ है, रेनाल्ड की एक रचना का अनुवाद 'हरमसरा' के नाम से किया था। उसी जमाने में लखनऊ के साप्ताहिक 'अवधपंच' के सम्पादक स्व० मौलाना सज्जाद हुसैन ने, जो हास्य-रस के अमर कलाकार हैं, रेनाल्ड के एक दूसरे उपन्यास का अनुवाद "धोखा" या 'तिलस्मी फानूस' के नाम से किया था। ये सारी पुस्तकें मैंने उसी जमाने में पढ़ीं और पं० रतननाथ सरशार से तो मुझे तृप्ति ही नहीं होती थी। उनकी सारी रचनायें मैंने पढ़ डालीं"। "दो-तीन वर्षों में मैंने सैकड़ों ही उपन्यास पढ़ डाले होंगे। जब उपन्यासों का स्टाक समाप्त हो गया, तो मैंने नवलकिशोर प्रेस से निकले हुये पुराणों के उर्दू अनुवाद भी पढ़े। 'तिलिस्म होशरुबा' नामक तिलिस्मी ग्रंथ के १७ भाग उस वक़्त निकल चुके थे और एक-एक भाग बड़े सुन्दर रायल के आकार के दो-दो हज़ार पृष्ठों से कम न होगा। और इन १७ भागों के उपरांत उसी पुस्तक के अलग-अलग प्रसङ्गों पर पच्चीस भाग छप चुके थे। इनमें से भी मैंने कई पढ़े।"

अपने लेखक जीवन के आरम्भ के सम्बन्ध में प्रेमचंद ने इस प्रकार लिखा है—"मैंने पहले पहल १९०७ में गल्पें लिखनी

शुरू की। डाक्टर रवीन्द्रनाथ की कई गल्पें मैंने अंग्रेजी में पढ़ी थीं और उनका उर्दू अनुवाद उर्दू पत्रिकाओं में छपवाया था। उपन्यास तो मैंने १६०१ से ही लिखना शुरू किया। मेरा एक उपन्यास १६०२ में निकला और दूसरा १६०४ में, लेकिन गल्प १६०७ के पहले मैंने एक भी न लिखी। मेरी पहली कहानी का नाम था 'संसार का सबसे अनमोल रत्न'। वह १६०० में 'ज़माने' में छपी। उसके बाद मैंने चार-पाँच कहानियाँ और लिखीं। पाँच कहानियों का संग्रह 'सोज़े वतन' के नाम से १६०८ में छपा उस समय बंग-भंग का आन्दोलन हो रहा था। काँग्रेस में गर्मदल की सृष्टि हो चुकी थी। इन पाँचों कहानियों में स्वदेश प्रेम की महिमा गाई गई थी।"

('जीवनसार' से)

इस पुस्तक पर अधिकारियों की दृष्टि गई। पुस्तक छपने के छः महीने बाद उनके नाम ज़िलाधीश का परवाना पहुँचा। मिलने पर उन्हें बताया गया कि इन कहानियों में राजद्रोह भरा है। फैसला हुआ कि सारी प्रतियाँ साहब के हवाले हों और उनकी अनुमति के बिना कुछ न लिखा जाय। ७०० प्रतियाँ 'ज़माने' के कार्यालय से मँगाकर दे दीं। जब पेचिश की बीमारी की वजह से दौरे की नौकरी छोड़ दी तो बस्ती और फिर गोरखपुर पहुँचे। वहाँ महावीरप्रसाद पोद्दार से परिचय हुआ। इन्होंने बस्ती में आकर 'सरस्वती' में कई गल्पें छपवाईं। पोद्दार जी के प्रेरणा से 'सेवासदन' (१६१६) लिखा। इससे पहले उर्दू में 'हम खुरमा और हम सवाब' (१६०६) लिखा था। वहीं प्राइवेट बी० ए० किया। 'सेवासदन' के आदर से उत्साहित होकर 'प्रेमाश्रम' (१६२२) लिख डाला और कहानियाँ भी बराबर लिखते रहे।

परंतु इतने विवरण से ही प्रेमचंद के जीवन और उनकी साहित्यिक साधना पर पूरा पूरा प्रकाश नहीं पड़ता। प्रेमचंद के साहित्य में मध्यवित के कायस्थ घराने की समस्याओं का जो अन्यतम चित्रण है, उसे समझने के लिए उनके जीवन की विशद भूमिका की आवश्यकता पड़ेगी। प्रेमचंद का जन्म मध्यवित्त श्रेणी के एक ग़रीब घर में हुआ। पांडेपुर मौज़े की थोड़ी-सी ज़मीन के सिवा और कोई स्थायी सम्पत्ति नहीं था। इसलिए पिता डाकख़ाने में नौकरी करके काम चलाते थे। परिवार था बड़ा, इसलिए इतने से चलना कठिन था। फलतः प्रेमचंद ग़रीबी में जन्मे और ग़रीबी में उनका लालन-पालन हुआ। सम्मिलित परिवार की सारी कठिनाइयों से वह परिचित थे। अपने बचपन में विषय में लिखते हुए प्रेमचंद लिखते हैं—"ॲधरा के पुल का चमरौधा जूता मैंने बहुत दिन तक पहना है। जब तक मेरे पिता जी जीवित रहे, तब तक उन्होंने मेरे लिए बारह आने से ज्यादा का जूता कभी नहीं ख़रीदा।" आठ वर्ष के थे कि माता चल बसी। प्रेमचंद लिखते हैं—"जब मैं आठ साल का था, तभी मेरी माँ बीमार पड़ी। छ. महीने तक वे बीमार रहीं। मैं उनके सिरहाने बैठा पंखा हाँका करता था। मेरे चचेरे भाई जो मुझसे बड़े थे, दवा के प्रबंध में रहते थे। मेरी बहिन सुसराल में थी। उनका गौना भी हो गया था। माँ के सिरहाने एक बोतल शक्कर से भरी रहती थी। माँ के सो जाने पर मैं उसे खा लेता था। माँ के मरने के आठ-दस दिन पहले मेरी बहिन आई। घर से मेरी दादी भी आईं। जब मेरी माँ मरने लगीं, तो मेरा, मेरी बहिन का तथा बड़े भाई का हाथ मेरे पिता के हाथ में देकर बोलीं—ये तीनों बच्चे तुम्हारे हैं। बहिन, पिता तथा बड़े भाई सब रो रहे थे। पर मैं कुछ भी

नहीं समझ रहा था। माँ के मरने के कुछ दिन बाद बहिन अपने घर चली गई। दादी, भैया और पिता जी रह गये। दो-तीन दिन बाद दादी भी बीमार होकर लमही चली गई। मैं, भैया और पिता जी रह गये। भैया दूध में शक्कर डाल कर मुझे खुद पिलाते थे। पर माँ का वह प्यार कहाँ? मैं एकांत में बैठ कर खूब रोता था। पाँच-छः महीनों के बाद मेरे पिता भी बीमार पड़े। वे लमही आये। मैं भी आया। मेरा काम मौलवी साहेब के यहाँ पढ़ना, गुल्ली-डंडा खेलना, ईख तोड़ कर चूसना और मटर की फली तोड़ कर खाना—चलने लगा।" इस प्रकार की ग़रीबी में पलने वाले भावुक बालक के लिए बड़े होकर ग़रीबी का अत्यंत मार्मिक चित्रण आश्चर्य की बात नहीं है। पिता के मरने के बाद तो उन्हें इकेले इस ग़रीबी से लड़ना पड़ा और विमाता और भाइयों का बोझ वर्षों उठाना पड़ा।

पिता जी ने दुबारा विवाह कर लिया। विमाता आई। डाक़ख़ाने की तबादले की नौकरी। पिता जी बराबर कभी इधर, कभी उधर बदलते रहते। उधर विमाता के कारण घर में नये संघर्ष शुरू हुए। प्रेमचंद की ज़बान से ही सुनिये—"पिता जी डाकख़ाने से जो भी चीज़ खाने के लिए लाते, चाची की इच्छा रहती कि वे खुद खा जायँ। वे उनकी लाई हुई चीज़ों को पिता के सामने रखतीं तो पिता जी बोलते—'मैं ये चीजें बच्चों के लिए लाता हूँ।' जब चाची न मानतीं तो पिता जी झल्ला कर बाहर चले जाते।" सौतेली माँ का अनेक प्रकार का अनुभव प्रेमचंद साहित्य की महत्वपूर्ण सम्पत्ति है। इसका कारण यही है कि यह उनका अपना निजी अनुभव था, किताबों में पढ़ा-पढ़ाया नहीं। अनेक कहानियों और 'निर्मला' में उन्होंने सौतेली माँ

के विशद चित्र उपस्थित किये हैं। 'सौतेली माँ' कहानी में तो बहुत-कुछ आत्मकथात्मक है।

प्रेमचंद के अनुभव का एक नया क्षेत्र प्रेम और विवाह है। कई उपन्यासों में उन्होंने प्रेम और विवाह की समस्याओं को उठाया है। बरदान, प्रतिज्ञा, सेवासदन, निर्मला और कायाकल्प (रोमांचक प्रसंग) में उन्होंने आधुनिक नारी-जीवन की अनेक विडंबनाओं का चित्रण किया है। सच तो यह है कि इन सब का संबंध नारी के अधिकारों और प्रेम-विवाह-संबंधी उसके दृष्टिकोण से है। 'वरदान' में अनमेल विवाह, 'प्रतिज्ञा' में विधवाविवाह, 'सेवासदन' में वेश्या, 'निर्मला' में दोहाजू और 'कायाकल्प' में प्रेम, वासना और विवाह की समस्यायें उठाई गई हैं। इन समस्याओं से प्रेमचंद स्वतः परिचित थे। इससे वे इन्हें अपनी अनुभूति का बल देकर उपस्थित कर सके हैं।

प्रेमचंद ने दो विवाह किये और दूसरी पत्नी शिवरानी देवी जब ब्याह कर घर आईं तब वह एक रखेली रखे हुए थे—उनकी पहली पत्नी तो उस समय जीवित थी ही—और कुछ दिनों बाद तक उसे रखे रहे। किस मनोविज्ञान् के आश्रित उन्होंने ऐसा किया, यह जानना उपादेय होगा। पहले विवाह के संबंध में वे लिखते हैं—"मेरा विवाह बस्ती ज़िले के मेहदावल तहसील में रामापुर गाँव में ठीक हुआ। वे भी अपने घर के ज़मींदार थे। कुछ पूरब का रीति-रिवाज ऐसा है कि जब मुझे घर में लोगों ने बुलाया तब सैकड़ों स्त्रियाँ घर में थीं। हँसी-मज़ाक़ का बाज़ार गरम था। पुरुषों के नाते तो मैं ही एक था। मुझे हँसी-मज़ाक़ अच्छा भी लगता था। सब मुझसे हँसी-मज़ाक़ करती थीं, मैं अकेला उनसे परेशान था। ख़ैर, किसी तरह उनसे उबरा। फिर मेरी स्त्री की बिदाई का समय आया। कई रोज़ का

अरसा हो गया था। ऊँट-गाड़ी से आना पड़ा। जब हम ऊँट-गाड़ी से उतरे तो मेरी स्त्री ने मेरा हाथ पकड़ कर चलना शुरू किया। मैं इसके लिए तैयार नहीं था। मुझे झिझक मालूम हो रही थी। उम्रमें वे मुझसे ज्यादा थीं। जब मैंने उनकी सूरत देखी, तो मेरा ख़ून सूख गया।" इस कुरूप और कर्कशा स्त्री से प्रेमचंद जैसे भावुक-हृदय पति की पटना मुश्किल थी। प्रेमचंद ने इसका हल सोच लिया और उसे ख़ूब निबाहा। वह हल कहाँ तक नैतिक और न्यायोचित है, यह दूसरी बात है। उन्होने पत्नी को बराबर मायके रखा और उसे ख़र्च भेजते रहे। जिस हिन्दू समाज में स्त्री-पुरुष के बीच में तलाक़ की कोई व्यवस्था नहीं है। नहीं पटने पर इसके सिवा और चारा ही क्या है? इस अनमेल विवाह ने प्रेमचन्द के मन पर अमिट छाप छोड़ी और उनके उपन्यासों के अनेक पात्र इस दुख से ही दुखी हैं। यौन-समस्या अनेक प्रकार से प्रेमचंद के उपन्यासों में आती है और यद्यपि ऊपर से उसका रूप समाज-सुधार का है, मूल समस्या काम-मनोविज्ञान भी है, इसमें संदेह नहीं। १६०५ ई० में प्रेमचन्द ने शिवरानी नाम की एक बाल-विधवा से विवाह कर लिया। इस समय तक प्रेमचन्द 'प्रेमा' लिख चुके थे जिसमें उन्होने विधवा-विवाह का समर्थन किया है। इस शादी के सम्बन्ध में लिखती हुई शिवरानी कहती हैं— "मेरी शादी में आपकी चाची वग़ैरह किसी की राय नहीं थी, मगर यह आपकी दिलेरी थी। आप समाज का बंधन तोड़ना चाहते थे। यहाँ तक कि आपने अपने घर वालो को भी ख़बर न दी।" आज से ४०-४२ वर्ष पहले इस तरह विधवा-विवाह करना सचमुच साहस का काम था। यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद प्राचीनता के उपासक नहीं थे। यदि होते तो पहली ही पत्नी को

किसी तरह निबाहते। उन्होंने साहस कर अपने को मुक्त कर लिया। समस्या का वैयक्तिक हल यही था। परन्तु उन्होंने अपनी पहली पत्नी की बात शिवरानी देवी से ९ वर्ष तक छिपाई। ऐसा करने की उन्हें क्या आवश्यकता पड़ी। इससे उनकी पारिवारिक जटिलताएँ ही बढ़ी होंगी। फिर इस बीच वे अवैध रीति से भी प्रेम-प्रसंग चला रहे थे। लौंगी के चरित्र में उन्होंने जिस सती-साध्वी रखेली की कल्पना की है, वह स्वय उनकी अनुभूत धारणा थी, ऐसा संभव है। यह निश्चित है कि वह जीवन-पर्यंत प्रेम और विवाह की समस्या का हल ढूँढ़ते रहे। जान पड़ता है इस समस्या के समाजवादी हल से वे परिचित नहीं थे, अतः उन्होंने कुछ व्यक्तिगत, कुछ आदर्शवादी, कुछ गाँधीवादी ढंग से एक हल सोच लिया। विवाह सामाजिक बंधन मात्र है। वह प्रेम से ऊँचा नहीं है। जहाँ प्रेम है, आत्मा का स्वच्छंद मिलन है, वहाँ भाँवरे पड़ने का प्रश्न ही नहीं रह जाता। सच्चा आत्म-समर्पण ही विवाह है। प्रेम और विवाह के इस द्वैत से उनके अनेक नायक-नायिका परिचित हैं।

यह सब समस्याएँ मध्यवित्त घराने से सबंध रखती हैं। वास्तव में प्रेमचंद अपने वर्ग से पूर्णतः परिचित थे। इस वर्ग का बड़ा सुन्दर चित्रण उनके उपन्यासों में हुआ है। परन्तु 'ग़बन' में तो उन्होंने मध्यवित्त स्त्री-पुरुषों के मनोविज्ञान और उनकी दुर्बलताओं का अभूतपूर्व चित्र उतारा है।

हमने बताया है कि छोटे से प्राइमरी स्कूल की मास्टरी से शुरू करके प्रेमचंद अंत में सब डिपुटी इंस्पेक्टर हो गये। १९०० ई० के लगभग उन्होंने 'कृष्णा' उपन्यास लिखा था जो इंडियन प्रेस ने प्रकाशित किया। १९०२ ई० में 'वरदान' निकला। १९०५ में उनका दूसरा विवाह हुआ और इसी वर्ष उनका दूसरा

उपन्यास 'प्रेमा' निकला। विवाह के एक वर्ष बाद 'सोजे वतन' नाम से उनकी एक कहानियों का संग्रह 'ज़माना' प्रेस से प्रकाशित हुआ। सरकार की कृपा से इस संग्रह को उन्हें आग की भेंट करना पड़ा। कुछ दिनों बाद उन्होंने दौरे की नौकरी छोड़ दी और बस्ती और फिर गोरखपुर में स्कूल-मास्टर रहे। वहीं उन्होंने अनेक कहानियों और 'सेवासदन' की रचना की। यह रचना १९१६ ई० में प्रकाशित हुई और इसने उन्हें एकदम लोकप्रिय बना दिया। इस उपन्यास में जिस प्रतिभा का उद्घाटन हुआ था उसने साहित्य-रसिकों को चकित कर दिया। इस लोकप्रियता का प्रभाव भी उन पर पड़ा और वह नौकरी छोड़ कर साहित्य-सेवा की कल्पना करने लगे। उन्होंने राष्ट्रीय जीवन को चित्रित करने का भी प्रयत्न किया और 'प्रेमाश्रम' (१९२२) इसी प्रयत्न का परिणाम है। असहयोग आंदोलन के सिलसिले में उन्होंने नौकरी छोड़ दी और देहात में जाकर चरखाप्रचार और साहित्य-सेवा का काम शुरू किया। यह सिलसिला बहुत दिनों नहीं चल सका। तब वे लमही (बनारस) चले आये। अब लेख और कहानियाँ ही एक मात्र सहारा थीं। अंत में जून १९२१ में श्री गणेशशंकर विद्यार्थी की सिफ़ारिश से वह कानपुर के मारवाड़ी विद्यालय के हेड-मास्टर हो गये। कुछ दिनों बाद इस विद्यालय के अधिकारियों से कुछ झगड़ा हो गया और उन्होंने नौकरी से इस्तीफा दे दिया। वे 'मर्यादा' (बनारस) में काम करने लगे और डेढ़ वर्ष वहीं रहे। इसके बाद वे काशी विद्यापीठ के विद्यालय-विभाग के हेडमास्टर हो गये। बाद में उन्होंने यह नौकरी भी छोड़ दी और कुछ दिनों अपने गाँव में जाकर रहे। १९२४ ई० के लगभग वे 'माधुरी' (लखनऊ) के संपादन-विभाग में आ

गये और यहीं उन्होंने रंगभूमि (१६२४), निर्मला (१६२७), कायाकल्प (१६२८) और ग़बन (१६३१) की रचना की। इसी बीच में उन्होने सैकड़ों कहानियाँ भी लिखीं जो 'माधुरी' और अन्य मासिक-पत्रों में प्रकाशित हुईं।

१६३१ में प्रेमचंद लखनऊ छोड़ कर बनारस आ गये। वहाँ उन्होंने एक छोटा-सा प्रेस खरीद लिया और 'हंस' (मासिक) और 'जागरण' (साप्ताहिक) नाम के पत्र निकालने लगे। अपने इस प्रेस से उन्होंने केवल अपने दो अंतिम उपन्यास छपवाये—कर्मभूमि (१६३२) और गोदान (१६३६)। कुछ अन्य पुस्तकों का प्रकाशन भी उनके सामने हुआ। पत्रों के कारण उन्हें बड़ा घाटा हुआ और प्रेस चलना कठिन हो गया। फ़िक्र हुई, यह घाटा कैसे पूरा किया जाय। इसी समय बम्बई की एक कम्पनी की ओर से बुलावा आया। ८०००) साल के कन्ट्रेक्ट की बात दी। प्रेस का गरम निवाला न उगला जाता था, न निगला जाता है। इसके सिवाय कोई उपाय नहीं रह गया था कि या तो बम्बई चले जायें या अपने उपन्यास बाजार में बेचें। प्रेमचन्द ने बम्बई का रास्ता पकड़ा। दो-तीन कहानियाँ भी उन्होंने लिखी परन्तु वहाँ कहानीकार पर इतने प्रतिबन्ध थे, उसका स्थान इतना नगण्य था, कि प्रेमचंद घबड़ा उठे। अंत में उन्होंने इस क्षेत्र से हट जाना ही अच्छा समझा। वह बनारस लौट आये और वहीं उन्होंने 'गोदान' को समाप्त किया। बम्बई से लौटने के एक वर्ष बाद ही वह चल दिये। १६३६ ई० की सोलह जून को उनके पेट में दर्द उठा और खून की कै हुई। तब से जो बीमार पड़े कि हज़ार इलाज कराने पर भी बिस्तर से उठ न सके। इसी वर्ष अक्टूबर के महीने में उनका देहान्त हो गया। उस समय वे चारपाई पकड़े हुए ही

'मंगलसूत्र' लिख रहे थे। दुर्भाग्यवश यह उपन्यास अधूरा ही रह गया। उनके पीछे उनके पुत्र अमृतराय और श्रीपतराय रह गये। एक बेट थी जिसकी शादी उनके जीवनकाल में ही हो चुकी थी। उनकी मृत्यु ने हिंदी संसार के सर्वश्रेष्ठ औपन्यासिक और जनता के पहले कलाकार को काम के बीच में ही उठा लिया। आज एक युग बीत रहा था, परन्तु उनका सिंहासन उसी तरह खाली पड़ा है।

यदि हम २०वी शताब्दी के हिन्दी साहित्य के इतिहास का अध्ययन करें तो यह मालूम हो जायगा कि १६००—१६२० तक साहित्य की भाषा का सस्कार ही होता रहा और यद्यपि कई शक्तियों का प्रवेश उसी समय साहित्य में हुआ, जैसे कहानी, परन्तु उनका विकास १६२० के बाद हुआ। द्विवेदीकाल (१६०० —१६२०) का सारा प्रयास भाषा के मार्जन में ही लग गया। मौलिक साहित्य की सृष्टि के लिये न उपयुक्त वातावरण तैयार हो सका था, न ठीक-ठीक भाषा। इस युग के साहित्य पर संस्कृत, अंग्रेजी और बँगला के प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। मौलिक साहित्य बहुत कम है। गद्य में या तो अनुवाद मिलते हैं या उनकी छाया लेकर लिखी गई पुस्तकें सामने आती हैं। भाषा पर संस्कृत का प्रभाव अधिक है। एक प्रकार से यह युग बहुत महत्वपूर्ण है। इसी युग में धीरे-धीरे हमारी खड़ी बोली की कविता का जन्म हो रहा था और आज पद्य में भाव और भाषा की सफाई के लिए जो चेष्टायें दीख पड़ती हैं, वैसा ही काम उस समय पद्य के क्षेत्र में हो रहा था। हिंदी पद्य अभी तक ठीक-ठीक भाषा नही पा सका था। गद्य में प्रेमचन्दी भाषा के रूप में हमें चुस्त, मुहावरों से सजा, करुण भावना से भरा भाषा का स्वरूप मिला। प्रेमचन्द की देन यही भाषा है।

परन्तु भाषा से भी कहीं अधिक प्रेमचन्द ने कथा-साहित्य को दिया। प्रेमचन्द के पहले हिन्दी जनता बंकिमचंद्र के उपन्यास, रवीन्द्र नाथ की कहानियाँ, रेनाल्ड के अनुवाद, देवकीनंदन खत्री, गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल के उपन्यास और कहानियाँ पढ़ती थी। इनमें प्रतिदिन की समस्याओं को सुलझाने का या उन्हें जनता के सामने उपस्थित करने की कोई भावना ही नहीं थी। प्रेमचन्द ने हिन्दी प्रदेश की कौटुम्बिक, सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं को साहित्य का विषय बनाया और उसे बङ्गाली लेखकों के रोमांस और उनकी अतिभावुकता से छुड़ाया। उन्होंने देश की राजनीति के साथ तो योग दिया ही, ग्रामीण जनता को वाणी भी दी और उसके सुख-दुःख से राजनीति-चतुर मध्यवर्ग को परिचित कराया। उनका साहित्य उनके युग का पूरा-पूरा दर्पण है यद्यपि 'गोदान' (उपन्यास) और कितनी ही कहानियों में वे अपने युग को पीछे छोड़ कर मीलों आगे बढ़ गये हैं।

प्रेमचन्द का साहित्य कितना विशद है, विपुल है, विभिन्न है—इसका कदाचित् उनके पाठको को अनुमान नहीं होगा। कारण यह है कि उनका जो कुछ भी है वह अपने में इतना पूर्ण है कि दूसरे अंगों में उन्होने किस प्रकार कितना विचार-योग या सहयोग दिया, इसकी ओर लेखकों और पाठकों का ध्यान ही नही जाता। इसीलिये हम नीचे उनकी रचनाओं की तलिका उपस्थित करते हैं—

उपन्यास

प्रेमा, वरदान (१६०२), प्रतिज्ञा (मूल १६०६), सेवासदन (१६१६), प्रेमाश्रम (१६२२), रंगभूमि (१६२५) ग़बन (१६३१)

कर्मभूमि (१९३२), निर्मला (१९२३), गोदान (१९३६) कायाकल्प (१९२८) मंगलसूत्र (अधूरा छोड़ गये)

कहानी

सप्तसरोज, नवनिधि, प्रेमपूर्णिमा, प्रेमपचीसी, प्रेमतीर्थ, प्रेमद्वादशी, प्रेमप्रसून, प्रेरणा, पाँचफूल, ग्राम्यजीवन की कहानियाँ, नारी, नारी जीवन की कहानियाँ, समरयात्रा, मानसरोवर (४ भाग), अग्निसमाधि, कफ़न और शेष कहानियाँ।

नाटक

प्रेम की वेदी, कर्बला, संग्राम।

अनुवाद

सृष्टि का आरम्भ, फ़िसाने आज़ाद, सुखदास, अहङ्कार, हड़ताल, चाँदी की डिबिया, न्याय।

बालोपयोगी

मनमोदक, कुत्ते की कहानी, जंगल की कहानियाँ, टाल्सटाय की कहानियाँ, दुर्गादास, रामचर्चा।

निबन्ध

कुछ विचार; क़लम, तलवार और त्याग; मौ० शेख़ सादी।

पत्र

जागरण, हंस

२०वीं शताब्दी में महावीरप्रसाद द्विवेदी के काम को छोड़ कर किसी भी साहित्यकार का काम इतना बड़ा और इतना महत्वपूर्ण नहीं है। इस पर तुर्रा यह कि हमनें यहाँ केवल हिन्दी साहित्य में किया काम ही कहा है वैसे उर्दू साहित्य में कथा

और निवन्धों के क्षेत्र में उन्होंने अमूल्य सेवाये की हैं और वे उर्दू साहित्य के कथाकारों में अग्रगण्य माने जाते रहेंगे।

प्रेमचन्द की रचनाओं में आकार-प्रकार की बड़ी विभिन्नता है—बड़े-बड़े ४०० पृष्ठो से लेकर १००० पृष्ठों तक के उपन्यास और एक-दो पृष्ठों की कहानियाँ। उन्होंने कम भी नहीं लिखा है। उनकी रचनाओं के तीन विभाग किये जा सकते हैं—१ मौलिक रचनाएँ (उपन्यास, कहानियाँ, नाटक, बच्चों की चीजें) २ अनुवाद (उर्दू और अंग्रेजी से जिनमें टाल्सटाय, गैल्सवर्दी, अनातौले फ्रांस और रतननाथ सरशार के अनुवाद प्रमुख हैं) ३ लेख, भाषण, 'हंस' की सम्पादकीय टिप्पणियाँ आदि। यह सामग्री काल क्रम के अनुसार एक बड़े पिछले समय से १९०३-०४ की "जमाना" (उर्दू पत्र) से लेकर १९३६ तक के वीसियो, दैनिकों, मासिकों, साप्ताहिकों और पुस्तको के रूप मे उपलब्ध हैं। वे फिल्म में भी गये हैं और उनका "मजदूर" फिल्म नाटक हमारे सामने सरकारी कतरव्योंत के साथ आया। इस प्रकार प्रेमचन्द ने १०,००० पृष्ट से कम नहीं दिये हैं। किसी भी मनुष्य के लिये इतनी सामग्री का अध्ययन करना कठिन हो जाता है। अन्य भारतीय लेखकों में इतनी सामग्री रवीन्द्रनाथ की ही होगी। इस समस्त साहित्य पर ध्यान देने से हमें प्रेमचंद के विकास और उन पर पड़े प्रभावो का क्रम मालूम हो जायगा। इस समय हम केवल उनकी मोटी-मोटी विशेषताओं और सुलझी हुई बातों को ही ले सकते हैं।

बहुधा देखा जाता है कि मनुष्य पहले कुछ भावो मे आ जाता है, फिर अपना दृष्टिकोण विकसित कर लेता है और उसे पकड़ कर बैठ जाता है। जमाना उससे बदला लेता है, उसे छोड़कर आगे चला जाता है। प्रेमचंद किन्हीं सिद्धान्तों को पकड़

-कर नहीं बैठ गये। वे प्रगतिशील रहे। वे जमाने के आगे नहीं चलते। उतनी क्षमता उनमें नहीं थी, यह स्पष्ट है। परन्तु वे जमाने के साथ-साथ दौड़ लगा कर चले। "जमाना" (पत्र) में प्रकाशित उनके आरम्भ के लेखों, स्केचों, और कहानियों को देखिये और 'गोदान' और 'कफ़न' की कहानियों से इन्हें मिलाइये। दोनों प्रेमचंद की कृतियों के दो छोर हैं और बीच की डोर लम्बी है। अंतिम कृतियों की ओर संक्रमण करने में उन्हें कई वर्ष लगे और कितने ही दृष्टिकोणों और प्रभावों में होकर उन्हें जाना पड़ा। परंतु रहे वे बढ़ते-चलते। आग में तपकर वे सोना होकर ही निकले।

प्रेमचंद ने १९०८-०९ के आसपास जिस समय 'जमाना' में लिखना शुरू किया उस समय आर्य-समाज का आन्दोलन बहुत जोर पर था। यह हिंदू-समाज के मध्यवर्ग से सम्बंध रखता था। इसके सिवा इस समय मध्यवर्ग प्राचीन रूढ़ियों और नवीन विचारों के बीच में भटक रहा था। पुराने आदर्शों की हँसी उड़ाई जाती थी और उचित-अनुचित का विचार न किये बिना ही शासकवर्ग की देखा-देखी कुटुम्ब, समाज और संस्थाओं में परिवर्तन करने की चेष्टा की गई थी। प्रेमचंद की रचनाओं का एक बड़ा भाग इस सुधारवाद और नवीन एवं प्राचीन के आदर्श-संघात (संघर्ष) से सम्बन्ध रखता है।

उस समय समाज में विधवा-विवाह, बाल-विवाह, दहेज आदि कुप्रथाओं के विरुद्ध आन्दोलन हो रहे थे। राजनैतिक क्षेत्र में भी कांग्रेस का नरमदल सरकार से प्रार्थना के द्वारा कुछ विशेष सुधार पाने का आन्दोलन कर रहा था। १९१४ में महायुद्ध प्रारम्भ हुआ। इसके फलस्वरूप राजनैतिक वातावरण में बड़ी चेतनता आ गई। महायुद्ध की समाप्ति पर अंग्रेज-

सरकार ने 'रोलट एक्ट' पास किया। इसमें जो सुधार दिये गये थे वे नेताओं को मान्य नहीं थे। १६१६ ई० में महात्मा गांधी के राजनैतिक क्षेत्र में सक्रिय प्रवेश के साथ कांग्रेस के उग्रदल की भारी जीत हुई। सुधारों के प्रति असंतोष प्रगट करने के लिये देशव्यापी आन्दोलन किया गया। विदेशी का वायकाट, राष्ट्रीय संस्थाओं की स्थापना, खद्दर का प्रचार आदि इस आन्दोलन के कार्यक्रम थे। अहिंसा और सत्य के दो नैतिक तत्त्वों को महात्मा गांधी की प्रतिभा ने राजनीति का प्रधान अंग बनाकर सामने रखा था।

१६१६ में आन्दोलन के आरम्भ के कुछ ही समय बाद पंजाब में जलयानवाले बाग का हत्याकांड हुआ। इसने आन्दोलन की प्रगति में सहायता दी। यह आन्दोलन दो वर्ष तक उग्र रूप से चला। १६२१ में चौरी-चौरा कांड के बाद महात्माजी ने इसे स्वयम् स्थगित कर दिया। इसके बाद उन्होंने रचनात्मक कार्य की ओर अधिक ध्यान दिया। उनके सदेश को उनके प्रशंसको ने दूर गावो तक पहुँचाने का प्रयत्न किया।

आठ वर्ष पश्चात् १६३० ई० में दूसरा असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ। यह दो वर्ष तक चला। इसका उद्देश्य सायमन कमीशन का विरोध था। तीसरा आन्दोलन १६३५ में नमक कर के विरुद्ध था।

इन आन्दोलनों का यह प्रभाव हुआ कि मध्यवर्ग के लोग गॉव और उसके निवासियों में दिलचस्पी लेने लगे। प्रेमचंद इसी समय आये। १६१६ में ही उन्होने गाँवों को अपना विषय बनाया। उनकी दृष्टि मध्यवर्ग से हट कर गॉव के निवासियों तक गई। उन्होने अपनी कहानियो में उनकी समस्याए रक्खीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने जन-आन्दोलनों का ठीक-ठीक चित्रण

किया। उन्होंने गाँवों की आत्मा को समझा और हमारे साहित्य के इतिहास का एक महत्वपूर्ण पृष्ठ तैयार किया।

इसीलिये मोटे ढङ्ग से हम उनकी रचनाओं पर चार प्रभाव देखते हैं:—

१—आर्यसमाज के सुधारों का प्रभाव।

२—मॉडरेटों की सुधार प्रवृत्ति का प्रभाव।

३—गांधीजी के सत्याग्रह और असहयोग आन्दोलनों से जन-समाज में उत्पन्न चेतना का चित्रण।

४—साम्यवाद का प्रभाव। परन्तु उनकी दृष्टि ने किसी भी अन्य क्षेत्र को छोड़ा नहीं है। १६०२ से १६३५ तक क्रांतिकारियों के भिन्न-भिन्न दल बम, पिस्तौल और सशस्त्र क्रांति का मंत्र फूँकते रहे और बलि होते रहे। "खुदाई फ़ौजदार" जैसी कुछ कहानियों में प्रेमचंद ने अत्यन्त सहृदयता से इनका भी चित्रण किया है।

प्रेमचंद हिंदी-साहित्य में उपन्यास-सम्राट के नाम से प्रसिद्ध हैं। भारतेन्दु हरिश्चंद्र के बाद कोई भी ऐसा साहित्यकार नहीं हुआ जो इतना लोकप्रिय रहा हो, और जिसकी रचनाओं ने जीवन के इतने क्षेत्रों को देखा हो। लोकप्रियता की दृष्टि से तो वे भारतेन्दु से भी कहीं आगे बढ़ गये हैं। प्रेमचंद से पहले हिंदी उपन्यास-साहित्य को सुरुचिपूर्ण मध्यमवर्ग के पाठक कहाँ मिले थे? शिक्षित वर्ग उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। प्रेमचन्द ने साहित्य ही नहीं रचा, उन्होंने अपने लिये पाठक पैदा किए। उन पाठकों ने (जो उपन्यास की सार्वभौमिक गति-विधि से परिचित थे) मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा की और उन्हें उपन्यास-सम्राट कहा।

प्रेमचंद की इस लोकप्रियता का कारण क्या था? कारण एक नहीं था—कई कारण थे :—

(१) प्रेमचंद ने प्रथम बार समस्यामूलक सामाजिक उपन्यासों को उपस्थित किया। इनसे पहले सामाजिक उपन्यास लिखे गये थे और उनका विषय समाजसुधार (विधवा-विवाह आदि) भी था, परन्तु वहाँ समस्या के ठीक-ठीक व्यापक स्वरूप की पहचान नहीं मिलती, न रोग का कोई निदान ही हमारे सामने आता है।

(२) इसके साथ ही उन्होंने दी अत्यन्त रोचक, मनोरंजक कथावस्तु।

(३) साथ ही व्यक्ति, वर्ग और समूह का मनोविज्ञान।

(४) अत्यन्त नवीन, उत्कृष्ट शैली जो वर्णन, वार्तालाप, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, प्रकृति-चित्रण आदि में प्रकाशित हुई है।

(५) समस्या के हलों की ओर इंगित जो उनके सुधारवादी दृष्टिकोण का फल था। वस्तुवादी कलाकार समस्या को उपस्थित करके ही चुप रहता है—उसे यह नहीं कहना है कि समस्या का हल क्या है। सुधारवादी अंत को प्रति पल सामने रखता है। प्रेमचंद के सम्बन्ध में भी यही बात—कुछ हद तक—ठीक कही जा सकती है। परंतु प्रेमचंद समस्या को अंत के विचार से तोड़ते-मरोड़ते नहीं थे। वे उसे यथार्थरूप में, कभी नपे-तुले शब्दों में, कभी विस्तार से सामने रखते थे। उन्होंने समस्या का जो हल उपस्थित किया है, उससे असहमत होते हुये भी हम उनके समस्या के चित्रण से लाभ उठा सकते हैं। उनकी समस्या के हलों का अध्ययन करते हुए हम यह समझ सकते हैं कि सामयिक घटनाओं का एक अत्यन्त भावुक और क्रांतिदर्शी

कलाकार पर क्या प्रभाव पड़ता है। और कुछ नहीं तो इसीलिये हमें यह जानना जरूरी है कि उन्होंने समस्याओं का निराकरण किस प्रकार किया है।

अध्ययन शुरू करने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिये कि प्रेमचंद प्रगतिशील कलाकार थे। उन्होंने स्वयं लिखा है—"साहित्कार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है; अगर यह उसका स्वभाव न होता तो शायद वह साहित्यकार ही न होता।"

(प्रगतिशील सभा के अधिवेशन में प्रेमचन्द का भाषण)

इसी दृष्टिकोण के कारण वह निरन्तर समाज, देश और साहित्य की गतिविधि के पारखी रहे और उन्होंने इनमें से प्रत्येक की नवीन प्रगतियों को समझा और उन्हें आशीर्वाद दिया। साथ ही यह भी समझ लेना चाहिये कि वह मुख्यतः टाल्सटाय की श्रेणी के आदर्शवादी कलाकार थे। उन्हें लगभग अंत तक विश्वास था कि असत्य पर सत्य की विजय होती है, पुण्य पाप को परास्त करता है और लेखक को पाप और असत्य के पूरे बल को दिखाते हुए भी अत में उन्हे पराजित कराना है। जहाँ ये पराजित नहीं होते, वहाँ भी वे समझौता करा देते हैं। स्वयं उनका युग आदर्शवाद और यथार्थवाद के समझौते का युग था। राजनीति में गांधी-इर्विंग पेक्ट इसका प्रतीक है, काव्य में मैथिलीशरण गुप्त की रचनाएँ। प्रेमचन्द यथार्थवाद के अत्यंत निकट रहते हुए भी मूलतः आदर्शवादी थे। उन्होंने समझौता करके जो मार्ग निकाला था उसे उन्होंने "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" कहा है। इसका अर्थ यही है कि वे समस्याओं, परिस्थितियों, व्यक्ति की पतनोन्मुख प्रवृत्तियों के चित्रण में यथार्थवादी थे' यद्यपि सुरुचि का वे सदा ध्यान रखते थे। परन्तु वह प्रत्येक

समस्या का हल समझौते में ढूँढ लेते थे। परिस्थितियों पर मनुष्य की विजय वे इसी तरह घोषित करते हैं और उनके पात्रों की सद्वृत्तियाँ उनकी कुप्रवृत्तियों को परास्त कर देती थीं। कला और साहित्य के प्रति उनके कुछ विचार ये हैं—

(१) "साहित्य आदमी-आदमी के आपस के भेद को मिटा कर उनकी मौलिक एकता को व्यक्त करता है"। ('हंस' में)

(२) "उसका आधार सत्य-असत्य का संघर्ष है।"

(३) "यथार्थवाद स्तुत्य है, परन्तु नग्न यथार्थता घृणित है।" ('कायाकल्प' में चक्रधर)

(४) "साहित्य उस मानव-मन की संतुष्ठि है जो अपने चारों ओर के छल, क्षुद्रता और कपट से ऊपर उठ कर ऐसे लोक में पहुँचना चाहता है जहाँ उसे इनसे छुटकारा मिले।"

(५) "इतना होने पर वह यथार्थ को नहीं छोड़ सकता। वह यथार्थ के इतने निकट है कि उसकी रचनाओं से यथार्थ का ही भ्रम होता है।"

(६) "अनर्गल यथार्थ अग्राह्य है, मङ्गलमय यथार्थ संग्रहणीय है, यदि वह अपवाद-रूप भी हो।"

(७) "असुन्दर का साहित्य में उतना ही स्थान है जिससे उसमें जो सुंदर है उसकी सुन्दरता न बिगड़ने पावे, परन्तु सुन्दर क्या है, असुंदर क्या है, यह जाँचना कठिन है।"

(८) "उसमें बुद्धिवाद की अपेक्षा भावुकता को ही अधिक सम्मान मिलना चाहिये। बुद्धि का प्रयोग इतना ही कि रचना पागल का असम्बद्ध प्रलाप न हो जाय?"

(९) "साहित्य दुखावस्था की अनुभूति ही नहीं कराता, हमें दुखों के कारण से भी परिचित कराता है और हमें परिकर-बद्ध

करता है कि हम प्रयत्नशील हों और दुख के कारणों को दूर करें।

(१०) "साहित्य का मुख्य उद्देश्य आनन्द ही है परन्तु उस आनन्द के साथ, लगभग उतनी ही महत्ता की चीज़ है उसकी उपयोगिता। प्रेमचन्द स्वतः साहित्य को प्रचार (समाज-सुधार आदि) का साधन बनाते हैं। साहित्य का कोई विषय तो होगा ही, फिर उसमें प्रगतिशील दृष्टिकोण क्यों न रखें, परिस्थिति का आनन्द ही लेकर क्यों रह जायें, क्यों उससे ऊपर उठने की चेष्टा न करें? ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमचन्द को नग्न यथार्थवाद और निरर्थक (आनन्दवादी) यथार्थवाद से चिढ़ थी। वह यथार्थवाद भी उन्हें मान्य न था जो हमें हतोत्साह कर दे, हम को विष-रूप बना दे! वह यथार्थ-वाद को पूर्ण परंतु संयत रूप में ग्रहण करने और उसपर आदर्श-वाद की छाप छोड़ने के पक्षपाती थे। वह लिखते हैं—"यथार्थ-वादी अनुभव की बेड़ियो से जकड़ा होता है और चूँकि संसार मे बुरे चरित्रों की ही प्रधानता है—यहाँ तक कि उज्ज्वल से उज्ज्वल चरित्र में भी कुछ-न-कुछ दाग़-धब्बे रहते हैं, इसलिये यथार्थवाद हमारी दुर्बलताओं, हमारी विषमताओं और हमारी क्रूरताओं का नग्न चित्र होता है और इस तरह यथार्थवाद हमको निराशावादी बना देता है, मानव चरित्र पर से हमारा विश्वास उठ जाता है, हमको अपने चारों तरफ़ बुराई ही बुराई नज़र आने लगती है।"

इस अवतरण से उनकी चिढ़ स्पष्ट है। परंतु उन्होंने इस यथार्थवाद को परिष्कृत किया है—

(१) उसमें उपयोगिता का अंश जोड़ कर। "साहित्य का जन्म उपयोगिता की भावना का ऋणी है। जो चतुर कलाकार

है, वह उपयोगिता को गुप्त रखने में सफल होता है, जो इतना चतुर नहीं है, वह उपदेशक बन जाता है और अपनी हँसी उड़वाता है।"

"मेरा पक्का मत है कि परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सभी कलाएँ उपयोगिता के सामने घुटना टेकती हैं।"

(२) उसे आदर्शवादी और फलतः उत्साहवर्द्धक बनाकर

(३) उसे संयत कर

(४) उसमें बुद्धिवाद का मिश्रण कर

(५) उसमें सौन्दर्य और सहृदयता ढूँढ़ कर

(६) उसके मङ्गलमय अंगों पर बल देकर इस प्रकार वे अपने यथार्थवाद को आदर्शवाद की भित्ति बनाने में सफल हुए हैं।

प्रेमचंद के व्यक्तित्व में यथार्थ और आदर्श का संघर्ष संगम के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। फल-स्वरूप उनकी रचनाओं के पूर्वांग यथार्थवाद से प्रभावित हैं उत्तरांग आदर्शवाद से प्रेरित हैं। सभी बड़े उपन्यासों में यही बात दिखलाई देगी। उनकी आधार-वस्तु अत्यंत ठोस है, उनके निजी गहरे अनुभव और तीव्र पर्यवेक्षण की उपज है। परंतु उस आधार-वस्तु को ज्यों का त्यों रख कर प्रेमचंद स्वयं उपस्थित हो जाते हैं और सूत्र को अपनी आदर्शवादी प्रकृति के हाथ में दे देते हैं। यही उनकी सीमा है। वे मनुष्य की कमजोरियाँ दिखाते हैं और ख़ूब दिखाते हैं और कहीं-कहीं पात्र उन कमजोरियों के ही शिकार हैं जैसे प्रेमाश्रमका ज्ञानशङ्कर और गोदान का होरी। परंतु वे अधिकतः उन कमजोरियों की आँच में तपकर देवता होकर निकलते हैं। अमरकांत, विनय आदि कितने ही प्रमुख पात्रों की यही परिस्थिति है।

प्रेमचद का विस्तृत अध्ययन आरम्भ करने से पहले हमें आपके साहित्य, कला, उपन्यास और कहानी-सम्बंधी आदर्शों

और विचारों का समझना भी जरूरी है जिससे हम उनकी रचनाओं को उनके मापदंड से भी नाप सकें। ऐसी सामग्री "कुछ विचार" निबंध-संग्रह में संग्रहीत है :—

१—साहित्य

"मेरे विचार में उसकी (साहित्य की) सर्वोत्तम परिभाषा 'जीवन की आलोचना' है। चाहे वह निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के, उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिये।"......(साहित्य का उद्देश्य)

"नीतिशास्त्र और साहित्यशास्त्र का लक्ष्य एक ही है—केवल उपदेश की विधि में अंतर है। नीतिशास्त्र तर्कों और उपदेशों के द्वारा बुद्धि और मन पर प्रभाव डालने का यत्न करता है, साहित्य ने अपने लिये मानसिक अवस्थाओं और भावों को चुना है।"..... ...(वही)

"साहित्यकार या कलाकार स्वभावतः प्रगतिशील होता है; अगर वह उसका स्वभाव न होता, तो शायद वह साहित्यकार ही न होता। उसे अपने अंदर भी एक कमी महसूस होती है और बाहर भी। इसी कमी को पूरा करने के लिये उसकी आत्मा बेचैन रहती है। अपनी कल्पना में वह व्यक्ति और समाज को सुख और स्वच्छंदता की जिस अवस्था में देखना चाहता है, वह उसे दिखाई नहीं देती। इसीलिये वर्तमान मानसिक और सामाजिक अवस्थाओं से उसका दिल कुढ़ता रहता है। वह इन अप्रिय अवस्थाओं का अंत कर डालना चाहता है जिससे दुनिया जीने और मरने के लिये इससे अधिक अच्छा स्थान हो जाये। यही वेदना और यही भाव उसके हृदय और मस्तिष्क को सक्रिय बनाये रखता है।"........(वही)

"मुझे यह कहने में हिचक नहीं कि मैं और चीजों की तरह कला को भी उपयोगिता की तुला पर तोलता हूँ।"......(वही)

परंतु यह उपयोगिता ठीक रुपया आने पाई में आंकी जा सकती हो, प्रेमचंद का यह भाव नहीं है। वह उपयोगिता है सौन्दर्यवृत्ति की पुष्टि, सांसारिक सुख-दुख को सहन करने की शक्ति, बंधुत्व और समता का भाव अथवा सहृदयता का विकास एवं मानसिक और बौद्धिक विकास। इसीलिए उनके विचार में कलाकार के व्यक्तित्व का अंग है जीवन संग्राम में सौन्दर्य देखना और आज उसका काम है त्याग, श्रद्धा, कष्ट-सहिष्णुता की महिमा, आदर्शवाद, साहस, कठिनाई से मिलने की इच्छा और आत्मत्याग का जयशंख बजाना। इसी लेख में इन्हीं भावों की विशद व्याख्या प्रेमचन्द ने की है। "वह (साहित्य) देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सचाई ही नहीं, बल्कि उनके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।"

"यदि साहित्यकार ने अमीरो के याचक बनने को जीवन का सहारा बना लिया हो, और उन आन्दोलनों, हलचलों और क्रांतियो से बेखबर हो जो समाज में हो रही हैं—अपनी ही दुनिया बनाकर रोता और हँसता हो, तो इस दुनिया में उसके लिये जगह न होने मे कोई अन्याय नहीं है।"

"(अब) साहित्य की प्रवृत्ति अहंवाद या व्यक्तिवाद तक परिमित नहीं रही, बल्कि वह मनोवैज्ञानिक और सामाजिक होता जाता है। अब वह व्यक्ति को समाज से अलग नहीं देखता, किंतु उसे समाज के एक अङ्ग-रूप में देखता है।"

"जो दलित है, पीड़ित है, वंचित हैं—चाहे वह व्यक्ति हों या समूह, उनकी हिमायत और वकालत करना उसका (साहित्यकार का) फर्ज है।"

दूसरे स्थान पर वह लिखते हैं—

"साहित्य का आधार जीवन है। इसी नींव पर साहित्य की दीवारें खड़ी होती हैं, उसकी अट्टारियाँ, मीनार और गुम्बद बनते हैं लेकिन बुनियाद मिट्टी के नीचे दबी पड़ी है। उसे देखने को जी भी न चाहेगा। जीवन परमात्मा की सृष्टि है; इसलिए अनन्त है अबोध है, अगम्य है। साहित्य मनुष्य की सृष्टि है इसलिये सुबोध है, सुगम है और मर्यादाओं से परिमित है। जीवन परमात्मा को अपने कार्यों का जवाबदेह है या नहीं, हमें मालूम नहीं, लेकिन साहित्य तो मनुष्य के सामने जवाबदेह है। इसके लिए क़ानून हैं, जिनसे वह इधर-उधर नहीं हो सकता।"

"साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है। जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाज़ी ले जाता है।"

"साहित्यकार बहुधा अपने देशकाल से प्रभावित होता है। जब कोई लहर देश में उठती है, तो साहित्यकार के लिए उससे अविचलित रहना असम्भव हो जाता है। उसकी विशाल आत्मा अपने देशबन्धुओं के कष्टों से विकल हो उठती है और उस तीव्र विकलता में वह रो उठता है, पर उसके रुदन में भी व्यापकता होती है। वह स्वदेश का होकर भी सार्वभौमिक रहता है।"

"स्थायी साहित्य विध्वंस नहीं करता, निर्माण करता है। वह मानवचरित्र की कालिमाएँ नहीं दिखाता, उसकी उज्ज्वलता दिखाता है।"

(जीवन में साहित्य का स्थान)

"साहित्य की आत्मा आदर्श है और उसकी देह यथार्थ चित्रण।"

(एक भाषण)

२—साहित्यकार

"साहित्यकार का काम केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटों और मदारियों, विदूषकों और मसखरों का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊँचा है। वह हमारा पथ-प्रदर्शक होता है, वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है, हममें सद्भावों का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फैलाता है—कम से कम उसका यही उद्देश्य होना चाहिये।"

(उपन्यास)

३—कला

प्रेमचन्द "कला के लिये कला" के उपासक नहीं हैं। वे लिखते हैं—" 'कला के लिये कला' का समय वह होता है जब देश सम्पन्न और सुखी हो। जब हम देखते हैं कि हम भाँति भाँति के राजनीतिक और सामाजिक बन्धनों में जकड़े हुए हैं, जिधर निगाह उठती है, दुःख-दरिद्रता के भीषण दृश्य दिखाई देते हैं, विपत्ति का करुण क्रन्दन सुनाई पड़ता है, तो कैसे सम्भव है कि किसी विचारशील प्राणी का हृदय न दहल उठे ? हाँ, उपन्यासकार को इसका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये कि उसके विचार परोक्ष रूप में व्यक्त हों, उपन्यास की स्वाभाविकता में उस विचार के समावेश से कोई विघ्न न पड़ने पाये. अन्यथा उपन्यास नीरस हो जायगा।"

(उपन्यास)

४—उपन्यास और कहानी

"मैं उपन्यास को मानव जीवन का चित्रमात्र समझता हूँ। मानवचरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्त्व है।"

"चरित्र-सम्बन्धी समानता और विभिन्नता—अभिन्नत्व में भिन्नत्व और विभिन्नता में अभिन्नत्व दिखाना उपन्यास का मुख्य कर्तव्य है।"

(उपन्यास)

"उपन्यासकार का प्रधान गुण उसकी सृजन-शक्ति है। अगर उसमें इसका अभाव है, तो वह अपने काम में भी सफल नहीं हो सकता। उसमें और चाहे जितने अभाव हों, पर कल्पना-शक्ति की प्रखरता अनिवार्य है। अगर उसमें यह शक्ति मौजूद है, तो वह कितने ही दृश्यों, दशाओं और मनोभावों का चित्रण कर सकता है जिनका उसे प्रत्यक्ष अनुभव नहीं है।"

"उपन्यास की रचना शैली सजीव और प्रभावोत्पादक होनी चाहिये।"

"भविष्य उन्हीं उपन्यासों का है जो अनुभूति पर खड़े हैं।"

"भावी उपन्यास जीवन-चरित्र होगा चाहे किसी बड़े आदमी का या छोटे आदमी का। उसकी छोटाई-बड़ाई का फैसला उन कठिनाइयों से किया जायगा जिन पर उसने विजय पाई है।"

"यह जरूरी नहीं कि हमारे चरित्र-नायक ऊँची श्रेणी के मनुष्य हों। हर्ष और शोक, प्रेम और अनुराग, ईर्षा और द्वेष मनुष्य मात्र में व्यापक हैं।"

"खेद है कि आजकल के उपन्यासों में गहरे भावों के स्पर्श करने का बहुत कम मसाला रहता है। अधिकांश उपन्यास गहरे और प्रचण्ड भावों का प्रदर्शन नहीं करते। हम आये दिन की साधारण बातों में ही उलझ कर रह जाते हैं।"

"उपन्यासकार को इसका अधिकार है कि वह अपनी कथा को घटना-वैचित्र्य से रोचक बनाये, लेकिन शर्त यह है कि प्रत्येक

घटना असली ढाँचे से निकट संबंध रखती हो; इतना ही नहीं, बल्कि उसमें इस तरह घुलमिल गई हो कि कथा का आवश्यक अंग बन जाये, अन्यथा, उपन्यास की दशा उस घर की-सी होगी जिसके हरेक हिस्से अलग अलग हों। जब लेखक अपने मुख्य विषय से हटकर किसी दूसरे प्रश्न पर बहस करने लगता है तो वह पाठक के उस आनंद में बाधक हो जाता है जो उसे कथा में आ रहा था। उपन्यास मे वही घटनायें, वही विचार लाना चाहिये जिनसे कथा का माधुर्य बढ़ जाय, जो प्लाट मे सहायक हों अथवा चरित्रों के गुप्त मनोभावो का प्रदर्शन करते हो।"

"उपन्यास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकासपूर्ण होगा उतना ही पढ़ने वालों पर उसका असर पड़ेगा × ×"

"...उपन्यास चरित्रों के विकास का ही विषय है। अगर उसमें विकास-दोष है, तो वह उपन्यास कमजोर हो जायगा। कोई चरित्र अंत मे भी वैसी ही रहे जैसा वह पहले था—उसके बल-बुद्धि और भावों का विकास न हो, तो वह असफल चरित्र है।"

'जिस उपन्यास का समाप्त करने के बाद अपने अंदर उत्कर्ष का अनुभव करे, उसके सद्भाव जाग उठे, वही सफल उपन्यास है।"

(उपन्यास का विषय)

"रङ्गभूमि का बीजांकुर हमें एक अंधे भिखारी से मिला जो हमारे गाँव में रहता था।"

(उपन्यास)

"आख्यायिका केवल एक घटना है। अन्य सब घटनाए उसी घटना के अंतर्गत होती हैं।'

"आजकल कथा भिन्न-भिन्न रूप से आरम्भ की जाती है। कहीं दो मित्रों की बातचीत से कथा आरम्भ हो जाती है, कहीं पुलिसकोर्ट के एक दृश्य से। परिचय पीछे आता है। यह अंग्रेजी आख्यायिकाओं की नकल है। इससे कहानी अनायास ही जटिल और दुर्बोध हो जाती है। योरपवालों की देखा-देखी पत्रों द्वारा, डायरी या टिप्पणियों द्वारा भी कहानियाँ लिखी जाती हैं। मैंने स्वयं इन सभी कथाओ पर रचनाएँ की हैं, पर वास्तव में इससे कहानी की सरलता में बाधा पड़ती है। योरप के विज्ञ समालोचक कहानियो के लिये किसी अंत की भी जरूरत नहीं समझतेxxx"

(कहानी-कला १)

"वर्तमान आख्यायिका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और जीवन के यथार्थ और स्वाभाविक चित्रण को अपना ध्येय समझती है। उसमें कल्पना की मात्रा कम, अनुभूतियों की मात्रा अधिक होती है, इतना ही नहीं बल्कि अनुभूतियाँ ही रचनाशील भावना से अनुरंजित होकर कहानी बन जाती हैं।"

"सबसे उत्तम कहानी वह होती है, जिसका आधार किसी मनोवैज्ञानिक सत्य पर हो।"

"किसी समस्या का समावेश कहानी को आकर्षक बनाने का सबसे उत्तम साधन है। जीवन में ऐसी समस्याएँ नित्य ही उपस्थित रहती हैं और उनसे पैदा होने वाला द्वन्द्व आख्यायिका को चमका देता।"

"तत्वहीन कहानी से चाहे मनोरंजन भले ही हो जाय, मानसिक तृप्ति नहीं होती। यह सच है कि हम कहानियों में उपदेश नहीं चाहते, लेकिन विचारों को उत्तेजित करने के

लिए, मन में सुन्दर भावों को जाग्रत करने के लिये, कुछ-न-कुछ अवश्य चाहते हैं।"

(कहानी-कला २)

"आजकल के उपन्यासों और आख्यायिकाओं में अस्वाभाविक बातों के लिये गुञ्जाइश नहीं है। इनमें हम अपने जीवन का प्रतिबिंब देखना चाहते हैं। उसके एक-एक वाक्य को एक-एक पात्र को यथार्थ के रूप में देखना चाहते हैं। उनमें जो कुछ भी हो, वह इस तरह लिखा जाय कि साधारण बुद्धि उसे यथार्थ समझे। घटना वर्तमान कहानी या उपन्यास का मुख्य अंग नहीं है। उपन्यासों में पात्रों का केवल वाह्यरूप देखकर हम सन्तुष्ट नहीं होते। हम उनके मनोगत भावों तक पहुँचना चाहते हैं।"

"मानसिक द्वन्द्व वर्तमान उपन्यास या गल्प का खास अङ्ग है।"

"वर्तमान आख्यायिका या उपन्यास का आधार ही मनोविज्ञान है। घटनाएँ और पात्र तो उसी मनोवैज्ञानिक सत्य को स्थिर करने के निमित्त ही लाये जाते हैं। उनका स्थान बिलकुल गौण है।"

"यह तो सभी मानते हैं कि आख्यायिका का प्रधान धर्म मनोरंजन है, पर साहित्यिक मनोरंजन वह है जिससे हमारी कोमल और पवित्र भावनाओं को प्रोत्साहन मिले—इसमें सत्य, निस्स्वार्थ-सेवा, न्याय आदि देवत्व के जो अंश हैं, वे जाग्रत हों।"

(कहानी-कला ३)

(कथोपकथन और पात्रों की भाषा)

१—उपन्यास में वार्तालाप जितना अधिक हो और लेखक की क़लम से जितना भी कम लिखा जाय, उतना ही उपन्यास सुन्दर होगा।

२—वार्तालाप केवल रस्मी नहीं होना चाहिये। प्रत्येक वाक्य को—जो किसी चरित्र के मुँह से निकले—उसके मनोभावों और चरित्र पर कुछ न कुछ प्रकाश डालना चाहिये।

३—बातचीत का स्वाभाविक, परिस्थितियों के अनुकूल सरल और सूक्ष्म होना ज़रूरी है।

४—शिक्षित समाज की भाषा तो सर्वत्र एक ही है। हाँ, भिन्न-भिन्न जातियों की ज़बान पर उसका रूप कुछ न कुछ बदल जाता है। बङ्गाली, मारवाड़ी और ऐंग्लो-इंडियन भी कभी-कभी बहुत शुद्ध हिंदी बोलते पाये जाते हैं, लेकिन यह अपवाद है, नियम नहीं; पर ग्रामीण बातचीत कभी-हमें दुबिधा में डाल देती है। बिहार की ग्रामीण भाषा शायद दिल्ली के आस-पास का आदमी समझ ही न सकेगा।

(उपन्यास का विषय)

६—यथार्थवाद और आदर्शवाद

इस परिच्छेद के आरम्भ में हमने प्रेमचंदके आदर्शवादी दृष्टिकोण पर विस्तृत रूप से विचार किया है। यहाँ इस सम्बन्ध में प्रेमचंद के कुछ अन्य निश्चित विचारों को उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते।

"आदर्शवादी कहता है, यथार्थ का यथार्थ रूप दिखानेसे

फायदा ही क्या, वह तो हम अपनी आँखों से देखते ही हैं। कुछ देर के लिए तो हमें इन कुत्सित व्यवहारों से अलग रहना चाहिये; नहीं तो साहित्य का मुख्य उद्देश्य ही ग़ायब हो जाता है। वह साहित्य को समाज का दर्पण नहीं मानता, बल्कि दीपक मानता है जिसका काम प्रकाश फैलाना है। भारत का प्राचीन साहित्य आदर्शवाद ही का समर्थक है। हमें भी आदर्श ही की मर्यादा का पालन करना चाहिये।" (कहानी-कला १)

"वही उपन्यास उच्च कोटि के समझे जाते हैं, जहाँ यथार्थ और आदर्श का समावेश हो गया है। उसे आप 'आदर्शोन्मुख यथार्थवाद' कह सकते हैं। आदर्श को सजीव बनाने के लिए यथार्थ का उपयोग होना चाहिए और अच्छे उपन्यास की यही विशेषता है। उपन्यासकार की सबसे बड़ी विभूति ऐसे चरित्रों की सृष्टि है जो अपने सद्व्यवहार और सद्विचार से पाठक को मोहित कर लें।"

"अँधेरी गर्म कोठरी में काम करते-करते जब हम थक जाते हैं, तो इच्छा होती है कि किसी बाग़ में निकल कर निर्मल स्वच्छ वायु का आनंद उठायें—इस कमी को आदर्शवाद पूरा करता है।"

"यथार्थवाद यदि हमारी आँखे खोल देता है, तो आदर्शवाद हमें उठाकर किसी मनोरम स्थान में पहुँचा देता है। लेकिन जहाँ आदर्शवाद में यह गुण है, वहाँ इस बात की भी शङ्का है कि हम ऐसे चरित्रों को न चित्रित कर बैठें जो सिद्धान्तों की मूर्ति-मात्र हो—जिनमें जीवन न हो।"

(उपन्यास)

२

प्रेमचन्द के उपन्यासों की समस्याएँ

हम कह चुके हैं कि प्रेमचंद के सभी उपन्यास उपयोगिता के सिद्धान्त को लेकर आगे बढ़ते हैं। फलतः वे समस्या-मूलक हैं। ये समस्याएँ क्या हैं, हमें इस पर विचार करना है। एक शब्द में हम कथा के बीज या आधार की बात ले रहे हैं।

प्रेमचन्द ने सम-सामयिक जीवन के प्रत्येक अंग को देखा है। उनकी दृष्टि नगर, देहात और देहात से बाहर रहने वाले अछूतों और घुमक्कड़ों पर (देखिए 'कर्मभूमि') भी पड़ी है। नगर और देहात का कोई वर्ग उनसे छूटा नहीं है। सभी उनके लिए हस्तामलक हैं। इनके परस्पर के स्वार्थों के संघर्षों, इनकी प्रवृत्तियों, इनके गुण अवगुण, इनकी आकांक्षाएँ—सभी प्रेमचंद की रचनाओं में प्रतिफलित हैं। उनके चार उपन्यासों में (प्रतिज्ञा, निर्मला, ग़बन और सेवासदन में) उन्होंने समाज की कुप्रथाओं को अपना विषय बनाया है। प्रतिज्ञा में विधवा-विवाह है, निर्मला में वृद्ध विवाह (दोहाजू से विवाह), गबन में स्त्री का गहनों के प्रति मोह और उसके कारण होने वाले अनर्थ और सेवासदन में अनमेल विवाह, विधवा-जीवन की ग्लानि और वेश्या-जीवन—ये समस्याएँ प्रेमचन्द के समय में

जन-समाज को उद्वेगित कर रही थीं (अब भी ये एकदम मिट नहीं गई हैं)। अन्य उपन्यासों में कुछ और समस्याएँ भी सामने आती हैं जैसे समुद्र-यात्रा से धर्म का नाश (सेवाश्रम), समाज की दृढमर्यादा (गोदान में सुमित्रा के कारण होरी को जो दंड देना पड़ा)।

इन शुद्ध सामाजिक समस्याओं के अलावा कुछ ऐसी समस्याएँ भी हैं जो राजनीति से मिली हुई हैं जैसे अछूत समस्या (कर्मभूमि) और चमारों के सुधार की समस्या। इन समस्याओं को प्रेमचन्द ने केवल धार्मिक या सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रखा है, वरन् इन्हें ठीक-ठीक वीथिका में रखकर देखा है। इसी प्रकार की एक समस्या यतीमों या अनाथों की समस्या है (प्रेमाश्रम)। छोटी-छोटी ऐसी कितनी ही समस्याओं का निर्देश प्रेमचन्द के उपन्यासों में मिलेगा। इनसे हमें प्रेमचन्द के सामाजिक जीवन के विशद अध्ययन का पता चलता है।

परन्तु प्रेमचन्द समाज के अतिरिक्त राजनैतिक जीवन को भी लेकर चले हैं। इस राजनैतिक जीवन के कई पक्ष हैं। एक पक्ष का सम्बन्ध देहात से है। दूसरे का नगर से। देहात के राजनैतिक जीवन की समस्या किसान-हाकिम, किसान-महाजन और किसान-जमींदार की समस्या है। प्रेमचंद ने इन समस्याओं पर तीन बृहद उपन्यास खड़े किये हैं। १—प्रेमाश्रम, २—कायाकल्प, ३—गोदान। प्रेमाश्रम और कायाकल्प में मुख्यतः किसान-हाकिम और किसान-जमींदार की समस्याएँ हैं। गोदान में किसान-महाजन प्रमुख है। अपनी रचनाओं के प्रारंभिक काल में प्रेमचद इन वाह्य परिस्थितियों को ही किसान के दुःख का कारण समझते थे। अतः इन्हीं पर बल देते थे। अपने अंतिम

उपन्यास 'गोदान' में उन्होंने किसान की उन मनोवृत्तियों पर बल दिया है जो उसके दुखांत जीवन का कारण है, जो उसे वाह्य-परिस्थितियों से मुठभेड़ करने के लायक नहीं छोड़ती और जो शनैः-शनैः जीवन-शक्ति खींच कर उसे चिता तक पहुँचा देती है। वाह्य परिस्थितियाँ क्या हैं—

१. किसानों पर महाजनों का अत्याचार
२. ,, ,, हाकिम परगना के चपरासियों का अत्याचार
३. ,, ,, तहसील का अत्याचार
४. ,, ,, थानेदार का अत्याचार
५. ,, ,, कारिन्दा और पटवारी का अत्याचार
६. ,, ,, जमीदार का अत्याचार (ये जमीदार अपनी झूठी कुलमर्यादा रखने के लिये आसामी को मृत्यु-पर्यंत दुहते रहते हैं।

इनके अतिरिक्त वाढ़, भूकंप, अग्नि, हिम, महामारी आदि प्राकृतिक बाधाएँ तो हैं ही। इन वाह्य परिस्थितियों के भीतर स्वयं किसानों की कौटुम्बिक और वैयक्तिक ईर्ष्या द्वेष, लज्जा, भोलापन आदि भी आ जाते हैं। परंतु होरी की कथा में प्रेमचंद ने जिन अंतर्वृत्तियों का विवेचन किया है वे इन वाह्य परिस्थितियों से भी भयानक हैं। वे हैं १—रूढ़िवादिता, २—सम्मिलित कुटुंबी का भाव, ३—लोक-लज्जा का भाव जिससे कर्ज लेने की प्रवृत्ति को प्रश्रय मिलता है, ४—भीरुता। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचंद गाँव के रहने वालों की वाह्य-परिस्थितियों और उनकी मनोस्थिति से भली प्रकार परिचित थे। गाँव में होने वाले सहकारिता आन्दोलनों से भी वे परिचित हैं और ग्राम-सुधार के लिए सरकारी और ग़ैरसरकारी

संस्थाओं ने जो किया है, उस सब की उन्हें पहले दर्जे की जानकारी है।

यही नहीं, उन्होंने गाँवों को धीरे-धीरे उजड़ कर शहरों को आबाद करते देखा था और यद्यपि ये इसके विरोधी थे, परन्तु उन्होंने अत्यंत सहृदयता से उन परिस्थितियों का चित्रण किया जो ग्रामीणों को गाँव से बाहर ढकेल देती हैं। नगर के महाजन, सेठ-साहूकार किस प्रकार जनता का दम भरते-भरते बड़ी-बड़ी मिलें खड़ी करते हैं, किस प्रकार गाँव के खेतिहर मजदूर बन कर उनमें दाखिल होते है, कैसे उनके आचार-विचार भ्रष्ट होते हैं और वे शहर की आचारहीनता के शिकार होते हैं—यह सब मनोरजक कहानी तथ्य के साथ रंगभूमि और गोदान में उपस्थित है। प्रेमचंद की कहानियों से यह साफ है कि उन्होंने मजदूर आंदोलनों को अत्यंत निकट से देखा था और वे उद्योगीकरण की समस्याओं की तह में पहुँचे हुए थे।

नगर की एक दूसरी समस्या नागरिक जीवन की समस्या है जिसका केंद्र म्युनिसिपुलेटी है। प्रेमचन्द की कितनी ही कहानियों के पात्र इस संस्था से सम्बंधित हैं और कर्मभूमि में तो इसका विशद चित्रण किया गया है।

गाँव और नगर के किसी भी वर्ग को प्रेमचन्द ने छोड़ा नहीं। उनकी रचनाओं में विलासी राजा-नवाब हैं, सूदखोर महाजन हैं, मिल-मालिक सेठ हैं, नौकरीपेशा मध्यमवर्ग हैं और निम्नवर्ग के अछूत, चमार, कहार यहाँ तक कि किसी भी वर्ग-विशेष में न आने वाले कंजर-बंजारे भी हैं। सामयिक जीवन के सम्बन्ध में जो कुछ भी लिखा जा सकता था, वह प्रेमचन्द ने लिख दिया है। प्रत्येक वर्ग का प्रतिनिधित्व उनकी रचनाओं में मिलेगा। यहाँ तक कि उन्होंने सम्पादकों जैसी नई बनती

शक्तियों को भी अपनी रचनाओं में स्थान दिया है। उनकी रचनाओं में प्रत्येक वर्ग के स्त्री-पुरुष अपनी झाँकी दिखाते आते हैं।

अपनी कुछ कहानियों में प्रेमचन्द ने भारतीय संस्कृति की झलक दिखाने के लिये प्राचीन इतिहास के पन्नों को टटोला है, परन्तु वे बहुत दूर तक नहीं गये हैं। उन्होंने मुग़लों के पतनोन्मुख वैभव और राजपूत स्त्री-पुरुषों के बलिदान की कथाओं को मुखरित किया है। इनकी ओर उनके आकर्षण का कारण है उनका भारतीय आदर्शों के प्रति प्रेम। इस प्रेम ने ही उनकी सामयिक रचनाओं को भी पुरानेपन का आवरण दे दिया है और वे सामयिक होती हुई भी भारत की प्राचीन संस्कृति से सहस्रशः सूत्रों से सम्बंधित हैं। क्षमा, त्याग, दया, अतिथिप्रेम, आदर्शों पर बलिदान, पति-सेवा, आत्मसम्मान—में कुछ ऐसे आदर्श हैं जो सार्वभौमिक हैं, परन्तु इन आदर्शों को अक्षुण्य बनाये रखने का सबसे महत् प्रयत्न भारतवर्ष में ही हुआ था। प्रेमचन्द इस बात को ख़ूब जानते थे। उन्होंने अपने उपन्यासों को प्राचीन वैभव से मुक्त कर रखा है। उन्हें जैसे इससे चिढ़ है। इसीसे प्रसादजी के यथार्थवादी सामयिक उपन्यासों की बात करते हुये उन्होंने कहा है—

"मुझे अब तक आपसे यह शिकायत थी कि आप क्यों प्राचीन वैभव का राग अलापते हैं, ऐसी चीज़ें क्यों नहीं लिखते, जिनमें वर्तमान समस्याओं और गुत्थियों को सुलझाया गया हो।"

('हंस' में)

स्वयं उन्होंने वर्त्तमान समस्याओं और गुत्थियों को ही स्थान दिया है और उन्हें सुलझाने का प्रयत्न किया है। हो सकता है

कि उन्होंने समस्याओं के जो हल उपस्थित किये हैं, वे ठीक न हों, परन्तु इसमें ज़रा भी संदेह नहीं, कि उन्होंने समस्या को अत्यंत निकट से देखा है और उस पर हरेक पहलू से विचार किया है। यही उनका ध्येय है। समस्याओं के सम्यक्-रूप को पहचानना और उनके क्रान्तिकारी पहलुओं को उपस्थित करना प्रेमचन्द जैसे प्रगतिशील लेखक का ही काम हो सकता था।

साधारण राजनीति के अतिरिक्त प्रेमचंद ने सामयिक राजनैतिक आन्दोलनों को भी अपने उपन्यासों में स्थान दिया है। कहानियों की तो कोई बात ही नहीं है। "समर-यात्रा" की सारी कहानियाँ राजनीतिक आन्दोलनों का दर्पण हैं। आन्दोलनों का विशद चित्रण "रंगभूमि" और 'कर्मभूमि' में हुआ है।

अंत में, हम यह कह देना चाहते हैं कि प्रेमचंद ने अपनी रचनाओं में व्यक्ति और समाज के द्वन्द्व को भी भली प्रकार प्रगट किया है। हमारी जैसी परिस्थिति है, विशेषकर गाँव में, उस परिस्थिति में व्यक्ति समाज के ख़िलाफ जा ही नहीं सकता—जा कर या तो वह तिरस्कृत रहता है और उसका स्थान समाज के बाहर ही रहता है, भीतर नहीं, या उसे होरी की तरह डाँड़ भरना पड़ता है। समाज और व्यक्ति के इस द्वन्द में प्रेमचंद समाज को ही विजयी रख कर यथार्थ परिस्थिति का चित्रण करते हैं। उन्होंने ऐसे अपवाद-स्वरूप क्रांतिकारी चरित्रों की अवतारणा नहीं की जो समाज के नियमों से कभी भी समझौता न करें और प्राण देकर भी विरोध की आग सदा जलाये रखें।

२

वरदान

वरदान प्रेमचन्द के प्रारम्भिक उपन्यासों में से है यद्यपि वह सेवासदन और प्रेमाश्रम के बाद हमारे सामने आया है। इस प्रारम्भिक उपन्यास में भी हम प्रेमचन्द की वे सब विशेषताएँ पाते हैं जिसके कारण वे लोकप्रिय हो सके हैं जैसे वर्णन की कुशलता, मनोवैज्ञानिक अध्ययन की प्रौढ़ता और कथोपकथन की स्वाभाविकता।

उनके अन्य उपन्यासों की भाँति अवांतर वस्तु और घटनाओं का घटाटोप इस उपन्यास में भी मिलेगा, परन्तु फिर भी हम वस्तु को अलग करके उसकी आलोचना कर सकते हैं।

सुवामा के पति सन्यासी हो गए हैं। वह पुत्र प्रताप के साथ किसी तरह दिन काटती है। पड़ोस में सुशीला है, उसके पति मुंशी जी, पुत्री विरजन (वृजरानी)। विरजन और प्रताप में बालसुलभ मैत्री है। विरजन प्रताप को प्रश्नों में ढाँपे रहती है, उसकी पुस्तक पढ़ना चाहती है। सुवामा ने द्रव्याभाव के कारण महराजनि, कहार और महरी को जवाब दे दिया है, स्वयम् घर का सारा काम उठा कर बीमार पड़ जाती है। एक दिन प्रताप स्कूल से लौट कर आता है तो मूर्छित हो जाती है। प्रताप

विरजन को मा के पास बैठने को भेजता है, खुद डाक्टर को बुला लाता है। वृजरानी और उसकी माता दोनों सुश्रुषा के लिए उपस्थित रहती हैं। सुवामा वृजरानी को देखकर सोचती है कि यह प्रताप की बहू बने तो कैसा हो! विरजन तो अभी भोली बालिका ही है, परन्तु सोचती है कि जब प्रताप से मेरा विवाह हो जायगा तब मैं बड़े आनन्द से रहूँगी। ग़रज़ यह कि दोनों घराने स्नेह और प्रेम के सूत्रों में बधे हुए हैं परन्तु दैव को कुछ और दिखाना था! डिप्टी श्यामाचरण की पत्नी प्रेमवती सुवामा से मिलने जाती हैं और वृजरानी को देखकर अपने लड़के कमलाचरण के लिए उससे बात ठीक कर लेती हैं। कहाँ निर्धन विधवा का पुत्र प्रताप, कहाँ डिप्टी का लड़का कमलाचरण! प्रताप की उठती वय थी, कौमार्य की अधखिली यौनभावना में ठीक-ठीक परिस्थिति तो नहीं समझता था, परन्तु उसने विरजन के यहाँ जाना ही छोड़ दिया, विवाह में कोई भाग नहीं लिया, यहाँ तक कि विवाह के पश्चात् मुंशी जी के घर को भी कतरा कर निकल जाता। परन्तु फिर ईर्षा बलवती हुई। कमलाचरण आवारा लड़का था—पढ़ता उसी स्कूल में था, जिसमें प्रताप। जब प्रताप स्कूल से लौटत तो कमलाचरण के दुराचरण की कोई कथा मा को उस समय ज़रूर सुनाता जब सुशीला (वृजरानी की मा) भी बैठी रहती। सोचता जिन लोगों ने मेरी स्वप्नवत भावनाओं को नाश किया है और मेरे जीवन की आशाओं को मिट्टी में मिलाया है, उन्हें मैं भी जलाऊँ और सुलगाऊँ। कमला-चरण की करतूतों को सुनते-सुनते सुशीला क्षयरोग में ग्रसित हो गई और अंत में उसकी मृत्यु हो गई।

विरजन गौने होकर ससुराल गई परन्तु साथ में प्रताप की दुखद स्मृति लेती गई। उसे पंदरहवाँ वर्ष लग रहा था—प्रताप-

चंद और विरजन अब तक भाई-बहन की तरह रहे थे, परन्तु अब दोनों ने हृदय टटोल कर देखा तो वहाँ 'प्रेम" था। ससुराल आकर उसे आवारे, भीरु-हृदय कमलाचरण से वास्ता पड़ा। परन्तु कोई भी पुरुष स्त्री की दृष्टि में गिरना नहीं चाहता—इससे कमलाचरण ने सँभल कर छात्रालय जाना शुरू किया और यह भी प्रतिज्ञा कर बैठा कि पतंग नहीं उड़ाऊँगा, कभी नहीं। विरजन ने क्रोध में आकर कमला के कंकौए फाड़ डाले थे और चर्खियाँ तोड़ डाली थीं—बात इतनी थी, परन्तु इस बात ने कमलाचरण की काया पलट कर दी।

इधर प्रताप प्रयाग पढ़ने चला गया। कर्तव्य और प्रेम के संघर्ष में कर्तव्य की विजय हुई। वहाँ विरजन का सब कुछ भुला कर पढ़ने में जी लगाने लगा और खेला कूदा तो इतना कि कप्तान बन बैठा। वही काम-काज में विरजन को भुला डालना चाहता था। उधर विरजन प्रेम और कर्तव्य के इसी संघर्ष में बीमार पड़ गई। प्रताप खेल रहा था कि बीमारी का तार मिला। चल पड़ा। विरजन भी प्रेमातुरा हो मिली। परन्तु दोनों ने कर्तव्य के बंधन को ही निभाना उचित समझा। प्रताप प्रयाग लौट गया। कमला और वृजरानी में दिन-रात प्रीति बढ़ने लगी। एक प्रेम का दास था, दूसरी कर्तव्य की दासी। कमला के सारे घन्टे उसी के प्रेम में बीतते। वह चित्रकार बन गया था। वृजरानी के कितने ही चित्र उसने बनाये थे।

तीन वर्ष बीत गये। नगर में प्लेग का प्रकोप हुआ। डिप्टी साहेब ने प्रताप को प्रयाग भेजना चाहा परन्तु वह राजी न हुआ। अंत में वृजरानी के आग्रह से जाने को तैयार हुआ। वह उधर प्रयाग गया इधर डिप्टी साहब अपने मोल लिये गाँव

मभगाँव में घर-गृहस्थी उठा लाये। यहाँ से विरजन ने कमला के नाम कितने ही सुन्दर पत्र लिखे।

प्रयाग में प्रताप की प्रतिभा की धूम मच रही थी, उसने कमलाचरण का आदर किया। परन्तु प्रतापचन्द कुछ भी करे, कमलाचरण पढ़ने की ओर कितना बढ़ सकता था। उसे सौन्दर्य वाटिका में रमण करने की चाट पड़ गई। धीरे-धीरे माली की कुँवारी लड़की सरयूदेवी से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया परन्तु एक दिन जब वह चोरी से माली के घर था, माली आ गया और कमलाचरण भागा। ट्राम से गिरते-गिरते बचा। गाड़ी पर बैठा तो टिकट लेना भूल गया और पकड़े जाने के डर से रेल से कूद कर जान ही दे दी।

विरजन का सुहाग जाता रहा। प्रेमवती (सास) के ताने ऊपर से सुनने पड़े। डिप्टी साहब भी इस शोक में चल बसे। प्रेमवती आधी पागल हो गई। एक दिन चल बसी।

इधर कमला की मृत्यु से प्रतापचंद्र की आकांक्षा सजीव हो उठी। उसने विरजन को पाना चाहा। दो बजे रेल से उतरा और पापी की भाँति लुकछिप कर घर में घुसा। अचानक एक बन्द दरवाजे के दरारों से रोशनी छनती दिखाई दी। अंदर विरजन एक सफेद साड़ी पहिने, बाल खोले, हाथ में लेखनी लिए, भूमि पर बैठी थी। अंत में उसके हृदय में प्रायश्चित का विचार उदय हुआ। उसी समय लौट पड़ा और भागा। इस पाप के प्रायश्चित का क्या रूप हो—प्रताप ने मार्ग पकड़ लिय वह देश की सेवा करेगा। यही उसका प्रायश्चित होगा। इधर प्रताप की मा (सुवामा) ने उसके लोप होने का समाचार सुना तो जैसे वज्रपात हो गया।

विरजन ने कविता लिखना शुरू कर दिया और थोड़े

ही समय में वह सुप्रसिद्ध कवियित्री हो गई। "भारतमहिला" के नाम से छपी उसकी कविताएँ जनता का कंठहार हो गईं। सुवामा के यहाँ उसका आना-जाना हो गया। बात यह थी उसके हृदय का अर्घ कविताओं के माध्यम से प्रताप पर ही चढ़ रहा था। इधर माधवी भी अज्ञात रूप से प्रताप पर मुग्ध थी।

एक दिन वृजरानी ने "कमला" का पैकेट खोला तो उसमें एक महात्मा का चित्र था—यही तो प्रताप हैं! नाम था "स्वामी-बालाजी" अब सबको पता लग गया कि प्रताप ने सन्यास ले लिया है। वृजरानी ने "बालाजी" के स्वागत में कविता लिखी—अंत में काशी-वालों के आग्रह से वह आये! निरजन के मन में फिर प्रेम और कर्तव्य का संघर्ष उठ खड़ा हुआ। "बालाजी" का महान स्वागत भूलने की चीज़ नहीं थी। परन्तु माधवी, वृज-रानी और सुवामा तीनों इस त्यागी सन्यासी को लेकर अपने-अपने विचार में लगे थे। सुवामा मा है, चाहती है कि प्रताप वैराग्य त्याग दे, सन्यासीवेश में पुत्र को देखकर उसे दुःख होता है। चाहती है कि वह माधवी को लेकर घर बसाये। उसे १२ वर्ष प्रतीक्षा में ही हो गये हैं। वृजरानी भी त्याग के लिए आगे आती है और माधवी को प्रताप के परिणयसूत्र में बाँधना चाहती है। वह माधवी को सन्यासी प्रताप के शयनागार में भेजती है। प्रताप सो रहे हैं। अकस्मात् लालटेन उलटने से आग लग जाती है। बातों-बातों में प्रताप पर माधवी के गुप्त परिणय का पता लग जाता है—

"क्यों माधवी! तुम्हारा विवाह तो हो गया है न?"

माधवी के कलेजे में कटारी चुभ गई। सजल नेत्र होकर बोली—हाँ हो गया है।

बालाजी—और तुम्हारे पति?

माधवी—उन्हें मेरी कुछ सुध ही नहीं। उनका विवाह मुझसे नहीं हुआ ?

बालाजी विस्मित होकर बोले—तुम्हारा पति करता क्या है ?

माधवी—देश की सेवा।

बालाजी की आँखों के सामने से एक पर्दा-सा हट गया। वे माधवी का मनोरथ जान गये और बोले—माधवी, इस विवाह को कितने दिन हुए ?

माधवी—मुझे कुछ स्मरण नहीं। बहुत दिन हुये।

बालाजी के नेत्र सजल हो गये।

वे सन्यास और वैराग्य को उसके संयम पर न्यौछावर करने को तैयार हो जाते हैं परन्तु माधवी उन्हें सांसारिक बन्धनों में डालना नहीं चाहती। वह भी वैरागिनी बनेगी, भभूति रमाएगी।

दूसरे दिन गोशाला का शिलारोपण हो रहा था। लोग बालाजी की जय पुकारते थे। परन्तु यहाँ कुछ लोग शास्त्रार्थ के लिए तैयार ! ज़बानी शास्त्राथ नहीं, लाठियों और सङ्गीनों से मुड़भेड़ थी। परन्तु बालाजी के व्याख्यान से समूह शांत हो गया। घर पहुँचे तो समाचार मिला, सदिंया में नदी का बाँध फट गया है, दस सहस्र मनुष्य गृहहीन हो गये, प्रलय का राज्य है। सारी मोहममता को छोड़ प्रताप (बालाजी) वहाँ चलने लगे।

वरदान के सम्बन्ध में हम पीछे कह चुके हैं कि यह प्रेमचन्द्-की प्रारम्भिक रचना है। आगे जो कहेंगे, उससे इस बात की पुष्टि ही होगी।

इस उपन्यास की विशेपता है इसकी कथावस्तु। कथावस्तु की रोचकता और वर्णन-शैली इन्हीं दो वस्तुओं पर लेखक का ध्यान अधिक है। कथावस्तु एक ही है, प्रधान है, प्रासङ्गिक कथा-वस्तु को इसमें स्थान नहीं मिला है। वरदान, प्रतिज्ञा और

निर्मला—इन तीनों सामाजिक उपन्यासों में प्रेमचंद ने अधिकारी कथावस्तु ही हमें दी है। बड़े उपन्यासों में उनका क्षेत्र विस्तृत था, वे जीवन के अनेक पार्श्वों को एक ही साथ उलट-पुलट कर देखना चाहते हैं, अतः वहाँ अधिकारी कथावस्तु के साथ एक, दो या कई प्रासङ्गिक वस्तुएँ डाले बिना काम नहीं चल सकता। जहाँ उनका लक्ष्य अपेक्षाकृत सीमित है, वहाँ उनकी नज़र बँधी है, वहाँ प्रेमचन्द की क़लम कई कथावस्तुओं को साथ-साथ चलाने को तिलिस्मी जौहर नहीं दिखाती।

कथा को समाप्त करके हम पात्रों की रूप रेखा स्थिर करने लगते हैं, तो हमें प्रताप, विरजन और माधवी यही तीन पात्र प्रधान लगते हैं। कथा का तीव्र प्रवाह हमें इतने वेग से बहा ले जाता है कि हम चरित्रों की विशेषता को पूर्णतः प्रस्फुटित होते नहीं पाते—उनकी रूप-रेखायें दबी ही रहती हैं, उभरती नहीं।

प्रताप एक दुर्बल मनोवृत्ति का युवक है जो पहले तो यही नहीं जानता कि वह विरजन को किस रूप में चाहता है—बहिन या पत्नी; फिर जानने पर भागना चाहता है। विरजन के पति आवारे कमलाचरण के प्रति उसका द्वेष इस रूप में निकलता है कि वह उसकी बुराइयों का बिगुल उसकी मां सुशीला के सामने बराबर वजाता है और उसके मन पर विरजन के दुर्भाग्य की छाप बिठा देता है। परन्तु जब सुशीला घुलघुल कर मर जाती है, तो उसमें प्रतिक्रिया होती है—वही न उसकी मृत्यु का कारण है, उसकी आत्मग्लानि उसे सब कुछ भूल कर पहले और खेलों में लगाती है। वह कर्मठ युवा बनना चाहता है। आगे के सन्यासी-कर्मयोगी जीवन के लिए इस प्रकार भूमि तैयार होती है। फिर कमलाचरण की मृत्यु के बाद उसकी दुर्बलताएँ उस पर विजय पा लेती हैं। परन्तु आत्मा, जैसे पीछे कहा है, भीरु

है, सङ्कोची है, अतः प्रतिक्रिया होना आवश्यक है—प्रेमचन्द ने भी इस दुर्बलता की बात लिख दी है—

"धर्म ने इस समय प्रताप को उस खड्डे में गिरने से बचा लिया, जहाँ से आमरण उसे निकलने का सौभाग्य न होता, वरन् यह कहना उचित होगा कि पाप के खड्डे से बचाने वाला इस समय धर्म न था वरन् दुष्परिणाम का और लज्जा का भय था।"

इस दुर्बलता ने उसे प्रायश्चित की आग में तपा कर सोना बना लिया। जनसेवी हो गया—शायद संस्कारवश, क्योंकि उसका पिता भी सन्यासी हो गया था। पात्र के बदलने की प्रक्रिया प्रेमचन्द ने नहीं दी है उसका संकेत ही है। हम प्रताप के आत्म-संघर्ष को नहीं देखते—उसे पूर्ण मानव के रूप में पाते हैं। वह घर-बार के मोह को छोड़कर सन्यासीवेश में उपद्रव करने पर उतारू भीड़ को किस शक्ति, किस तेज के साथ शांत करता है। हमारा माथा झुक जाता है। उसके भीतर की भयंकर भूचाल से हिलती पृथ्वी प्रेमचन्द ने उस समय दिखला दी है जब वह सदिया जाने लगा है। परन्तु वह नीचे नहीं उतरता। उसका पतन असंभव है।

उधर विरजन (वृजरानी) है। प्रताप से बचपन का प्रेम है, किशोरी है, इससे पहले नहीं समझती परन्तु जब समझती है (विवाह हो जाने के बाद) तो समाज की मान्यताओं से उसके हाथ बंधे हैं। वह मुड़ नहीं सकती। पत्नी है। उसे किसी को अपनी देह देनी होगी, मन, आत्मा, सभी—इसी से वह कर्तव्य और प्रेम के संघर्ष में पड़ कर अंत में कर्तव्य को अपनाती है। इस कर्तव्य-पथ पर वह अडिग है। प्रेमचन्द ने विरजन में आदर्श भारतीय नारी का चित्रण किया है और वह प्रत्येक प्रकार से सफल है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने उसके सामने

से प्रलोभन हटा लिये—यदि रहते तो उसकी कड़ी परीक्षा हो जाती। अंत में प्रताप के प्रति माधवी की निष्ठा देखकर वह दोनों में परिणय-ग्रन्थि स्थापित करने का जो प्रयत्न करती है, वह उसके त्याग को और भी चमका देता है।

दोनों के बीच में माधवी है। प्रताप और विरजन की कथा आपमें पूर्ण है, माधवी न होती, तो वह अधूरी नहीं रह जाती। परन्तु प्रेमचन्द पर भारतीय नारी के त्याग का शुरू से ही अत्यंत महान प्रभाव था। विरजन में वे उसे पूर्णतः स्पष्ट नहीं कर सके तब उन्होंने माधवी को लिया। परन्तु इसी के कारण माधवी का चरित्र कुछ अस्पष्ट भी हो गया। हमारे देश में प्रेम-कथाएँ 'पूर्वराग' को लेकर खड़ी की जाती हैं—नायिका नायक का चित्र देखकर, या उसे ही देखकर या उसकी प्रशंसा सुनकर उस पर मोहित हो जाती है। फिर मिलन होता है। कुछ इसी प्रकार की परिस्थिति माधवी के संबन्ध में है। बहुत दूर तक तो यह पता ही नहीं चलता कि माधवी को प्रताप में इतनी दिलचस्पी क्यों है परंतु फिर प्रेमचन्द पूर्व कथा की झाकी देकर इस "पूर्वराग" को हमारे सामने खोल देते हैं:—

"कुछ काल और बीता, यौवन काल का उदय हुआ। विरजन ने उसके चित्त पर प्रतापचन्द का चित्र खींचना आरम्भ किया। उन दिनों इस चर्चा के अतिरिक्त उसे कोई बात अच्छी ही न लगती थी। निदान उसके हृदय से प्रतापचन्द की चेरी बनने की इच्छा उत्पन्न हुई। पड़े-पड़े हृदय से बातें किया करती। रात्रि में जागरण करके मन का मोदक खाती। इन विचारों से चित्त पर एक उन्माद-सा हो जाता, किन्तु प्रतापचन्द इसी बीच में गुप्त हो गये और उसी मिट्टी के घरौंदे की भाँति ये हवाई किले भी ढह गये। आशा के स्थान पर हृदय में शोक रह गया।

अब निराशा ने उसके हृदय में आशा का स्थान ही शेष न रक्खा। वह देवताओं की उपासना करने लगी कि प्रतापचन्द्र पर समय की कुदृष्टि न पड़ने पावे। इस प्रकार अपने जीवन के कई वर्ष उसने तपस्विनी बनकर व्यतीत किये। कल्पित प्रेम के उल्लास में चूर रहती ××।

(वरदान, पृ० २०८, २०६)

इस प्रकार का प्रेम का आदर्श चाहे जितना ऊँचा समझा जाये वह भ्रांतिपूर्ण है, इस जगत का नहीं है। इस काल्पनिक प्रेम के सम्बन्ध में जब हम यह सुनते हैं कि १२ वर्ष तक माधवी प्रतीक्षा करती रही तो हमारा मन उतने दुःख से नहीं भरता जितना विरजन की बात सोचकर या साकेत की "उर्मिला" की। बात यह है कि इस प्रकार के लम्बे प्रतीक्षा काल के पीछे परिणय की सार्थकता तो है, परस्पर परिचय तो हो। इसी से माधवी जब अवसर मिलने पर भी बालाजी (प्रताप) को ग्रहण नहीं करती।

प्रताप कहते हैं—"जिसके लिये तुमने अपने को मिटा दिया है, वह तुम्हारे लिये बड़े से बड़ा बलिदान करने से भी नहीं हिचकिचायेगा।"

माधवी कहती है—×× मेरे प्रेम का उद्देश्य वही था जो उसे आज प्राप्त हो गया। आज का दिन मेरे जीवन का सब से शुभ दिन है। आज मैं अपने प्राणनाथ के सम्मुख खड़ी हूँ और अपने कानों से उनकी अमृतमयी वाणी सुन रही हूँ। स्वामी जी! मुझे आशा न थी कि इस जीवन में मुझे यह दिन देखने का सौभाग्य प्राप्त होगा। यदि मेरे पास संसार का राज्य होता तो मैं इस आनन्द में उसे आपके चरणों में समर्पण कर देती। मैं हाथ जोड़ कर आपसे प्रार्थना करती हूँ कि मुझे इन चरणों

से अलग न कीजियेगा, मैं सन्यास ले लूँगी और आपके संग रहूँगी, तो हमें उसके थोथे आदर्शवाद पर जीवन के प्रति करुणा उत्पन्न होती है। इस प्रकार श्रवण मात्र से उत्पन्न हुए प्रेम को त्याग की इतनी ऊँची कसौटी तक कसना, पाठक के धैर्य्य की परीक्षा करना है।

जैसा ऊपर की पंक्तियों से प्रगट होगा, प्रेमचन्द के इस उपन्यास के तीनों प्रधान पात्रों का जीवन-सूत्र स्वयम् उनके आदर्शवाद के हाथ में है। लेखक परदे के पीछे छिपा बैठा है, वह साधारण पढ़ी लिखी बृजरानी से कविता कराने लगता है, इतनी ऊँची कि पश्चिम के समालोचक और कवि भी विभोर हो उठते हैं, जहाँ चाहता है मृत्यु का परदा खीच कर करुणाजनक परिस्थिति उत्पन्न कर देता है। प्रेमचंद के अन्य उपन्यासों की तरह इसके पूर्वार्द्ध में नायक की दुर्बलताओं का चित्रण है और उत्तरार्द्ध में उसे पहुँच के बाहर देवता बना दिया गया है।

परन्तु इन आदर्श प्राण पात्रों से हटकर जब हमारी दृष्टि अभागे कमलाचरण पर जाती है और हम उसे वास्तव में परिस्थितियों का शिकार पाते हैं, तो हमारी सहानुभूति उसी की ओर अधिक गहनता से उमड़ने लगती है। प्रेमचन्द के विशेष सहानुभूति से उसका चित्रण नहीं किया परन्तु पाठकों की सारी सहानुभूति उसी पर जाती है। यदि उसका जीवन समाप्त न होता तो प्रेमचन्द कथा की परिणति इस आदर्शवादी परिस्थिति में न कर पाते। तब क्या उन्होंने कमलाचरण को इतनी शीघ्रता से हटा कर उसके साथ विश्वाघात किया है—यह प्रश्न आता है। जीवन में हम देखते हैं तो ऐसे अभागे पात्रों की कमी नहीं है परन्तु वे हमारी सहानुभूति के ही पात्र हैं।

कथासंगठन और चरित्र चित्रण दोनों की दृष्टि से 'वरदान'

असफल उपन्यास ही कहा जायगा। जिस प्रकार की प्रेम कहानियों की धूम उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों और बीसवीं शताब्दी के पहले दशक में थी, उनसे यह उपन्यास जरा भी भिन्न नहीं है। कथासंगठन शिथिल है और उसमें कलात्मकता को विशेष स्थान नहीं मिल सका है। स्वयं कथा इतनी लंबी है कि पाठक ऊब जाता है। न कथारस का विकास ही सभव है, न चरित्र-चित्रण का। सामाजिक बाधाओं के कारण एक युवक और युवती का प्रेम विवाह-सूत्र में परिणित नहीं हो सकता। युवक सन्यासी बन जाता है, युवती एक दुश्चरित्र तरुण (कमलाशंकर) से विवाह दी जाती है। यह एक साधारण प्रेम-कहानी हुई। परन्तु विवाह के बाद युवती के मानसिक संघर्ष का चित्रण आवश्यक था। 'वरदान' की वृजरानी (विरजन) में इस प्रकार का मानसिक संघर्ष अधिक नहीं है। वह प्रताप को भूलकर कमला को ही प्यार करने लगती है और मन-वचन-कर्म से उसकी ही हो जाती है। इतना परिवर्तन कैसे संभव हुआ, उपन्यासकार इस संबंध में मौन है। इस परिवतन के लिए वह मनोवैज्ञानिक भूमि तैयार नहीं कर पाता।

फिर वृजरानी, प्रताप और कमलाशंकर को लेकर प्रेम का एक त्रिकोण बन ही गया था, उसमें माधवी को लाने की आवश्यकता न थी। वृजरानी प्रताप (अब बालाजी) को माधवी को सौंपना चाहती है। यह उसका महान त्याग है। परन्तु इस त्याग के बिना भी वह महान बनी रहती। हाँ, बालाजी जिस प्रकार माधवी से कुछ ही क्षणों की भेंट में विवाह को तैयार हो जाते हैं, उस प्रकार उनके चरित्र का पतन ही दिखलाई देता है। यद्यपि अंत में प्रताप (बालाजी) इस पतन से बच जाते हैं,

वह बाढ़ का समाचार सुनकर जन-सेवा का पथ ग्रहण कर लेते हैं, परन्तु चारित्रिक स्खलन तो है ही। जो हो, यह निश्चित है कि माधवी के कारण कथा में शिथिलता आ गई है। 'देवदास' में पार्वती, देवदास और यमुना को लेकर जितना सुगठित कथानक शरतचन्द्र ने गढ़ा है, उसका दशांश भी 'वरदान' में नहीं है।

परन्तु इस पहले ही उपन्यास में प्रेमचन्दजी की कथासंगठन-सम्बन्धी कई विशेषताएँ प्रगट हो जाती हैं। उनके पात्र अधिकांश दुर्बलचरित्र हैं और प्रेम में असफल होने पर वह समाजसेवा या राजनीति के क्षेत्र में उतरते हैं। इस क्षेत्र में वह इतनी प्रसिद्धि पा लेते हैं कि वह देवतुल्य हो जाते हैं। धीरे-धीरे जन-सेवा के प्रति उनकी आसक्ति ही सर्वोपरि हो जाती है और उनकी प्रेमपात्रियाँ उन्हें देवता मानकर संतुष्ट हो जाती हैं। शरतचन्द्र के 'देवदास' और अन्य उपन्यासों में असफल प्रेम नायक को आवारा और आत्मघाती बना देता है। प्रेमचन्द ने असफल प्रेम का समाजसेवा और राजनीति-निष्ठा में पर्यावसान किया [illegible]। मनोविज्ञान की दृष्टि से दोनों में कोई भेद नहीं है। परन्तु [illegible] की दृष्टि से समस्या का प्रेमचन्द द्वारा उपस्थित किया हल अधिक स्वस्थ है।

एक और बात जो प्रेमचन्द के पहले उपन्यास में स्पष्ट है वह है उनका आदर्शवादी दृष्टिकोण। इसी आदर्शवाद के फलस्वरूप वह विरजन और प्रताप को कमलाशंकर के मरने पर भी अलग-अलग रखते हैं। परन्तु इस प्रकार का अमनोवैज्ञानिक आदर्शवाद परिहास की वस्तु बन जाता है। देवता बनाते-बनाते प्रेमचन्द अपने नायक को उपहासात्मक दुर्बल मनुष्य ही बना डालते हैं।

सच तो यह है कि प्रेमचन्द के इस पहले उपन्यास में भाषा के अतिरिक्त नया कुछ भी नहीं है। शरद और रवींद्र की

प्रारम्भिक और अंतिम रचनाओं में उतना अंतर नहीं है जितना वरदान (१६०२) और गोदान (१६३६) में। अनेक प्रकार के घटनाचक्र (Coincidence), अनेक प्रकार की टेकनिक की गलतियाँ, बहुत तरह की अतिश्योक्तियाँ और भूलें 'वरदान' को प्रेमचन्द की रचनाओं में नगण्य बनाती हैं। न तो इलाहाबाद में ट्राम चलती है, न कोई थानेदार एक ही रस्सी में सारे गाँव को बाँध लाता है। इस तरह की बातें लेखक का शैशवकाल ही सूचित करती हैं।

४

प्रतिज्ञा (प्रेमा, १९०५)

प्रतिज्ञा प्रेमा का परिवर्द्धित रूप है जो पहले उर्दू में "हम खुर्मा व हम सवाब" नाम से प्रकाशित हुआ था। रचना १९०५ के लगभग की है। इसकी समस्या भी विधवा-विवाह है, परन्तु वास्तव में इसे यथार्थवादी सामाजिक व्यङ्ग कहा जा सकता है।

अमृतराय और दाननाथ मित्र हैं। अमृतराय वकील हैं, दाननाथ प्रोफेसर। एक दिन नगर के समाज-सुधारक पं० अमरनाथ ने विधवाविवाह के पक्ष में एक व्याख्यान दिया। जब पंडितजी ने उन साहसी युवकों को हाथ उठाने को कहा जो विधवाओं के प्रति अपने कर्तव्यों के पालन के लिये तैयार हैं तो केवल अमृतराय निकले! इतने रंडवों में एक साहसी युवक! अमृतराय प्रेमा से प्रेम करते हैं, वह भी इन्हें मँगेतर की तरह मानती है, परन्तु अब अमृतराय उससे विवाह के लिए तैयार नहीं। वे सिद्धांतवादी आदमी थे। धुन के पक्के। पहली शादी उस वक्त हुई थी जब वे कालेज में पढ़ते थे, एक पुत्र भी हुआ, परन्तु प्रसवकाल में दोनों चल बसे। फिर अमृतराय ने विवाह नहीं किया। छोटी साली प्रेमा के लिए ससुर ने आग्रह किया। अमृत उसके रूप-गुण पर मोहित हो गये। परन्तु अब यह

प्रतिज्ञा। इधर दाननाथ आप ही प्रेमा को प्रेम करते हैं। अमृतराय इसको जानते थे और उन्हें मित्र के रास्ते से हटने का मौक़ा मिला। वे अविवाहित थे। दाननाथ प्रसन्न तो हुये परंतु वे मित्र को निराशा की भेंट न होने देंगे।

बद्रीप्रसाद (प्रेमा के पिता) ने यह बात सुनी तो बिगड़े। इस लड़के में और मुसलमान में अंतर क्या है? ऐसे विचार! अब-प्रेमा चाहे मर जाये, वे न झुकेंगे। उन्हें अमृत से कोई वास्ता नहीं। प्रेमा परिस्थिति समझ कर बलिदान को तैयार हो जाती है। मां दूसरे वर के लिए तैयार है—हाय, उसे विवाह का स्वांग रचना होगा। कितना रोमांचकारी?

पूर्णिमा (पूर्णा) पं० बसंतकुमार की सुन्दर पत्नी है। बद्रीप्रसा॰ के पड़ोस में रहती है। प्रेमा और पूर्णा में बड़ा प्रेम है। प्रेमा उसे अपने विवाह न करने की प्रतिज्ञा सुनाती है। होली का दिन है, पं० बसंतकुमार गंगा नहाने जाते हैं कि डूब जाते हैं। पूर्णा विधवा हो जाती है। बद्रीप्रसाद भले आदमी हैं। पूर्णा के मैके में कोई नहीं। अत: उसे रख लेते हैं। घर-बेटी की तरह। वे उसके नाम ४०००) बैंक में रखना चाहते हैं जिससे वह सूद में पलती रहे, परन्तु बेटा कमलाप्रसाद कूटनीति से बात बिगाड़ता है। उसका विवाह हो चुका है। पत्नी सुमित्रा है। परन्तु वह बाहर-बाहर रहता है। उसके मन में पूर्णा के प्रति वासना के बीज अंकुरित हो रहे हैं। वह पूर्णा को घर चल कर रहने की अनुनय-विनय करता है और वह वहीं जाकर रहने लगती है।

देवकी (कमला की मा) को पूर्णा का यहाँ रहना अच्छा नहीं लगा और सुमित्रा पूर्णा से जलती है। सुमित्रा और कमला में पटती नहीं। कमला रात-रात भर ग़ायब रहता है। पहले

ही दिन सुमित्रा पूर्णा से कमला की कठोर हृदयता का रोना रो देती है।

इधर बद्रीप्रसाद ने दाननाथ को प्रेमा के विवाह का संदेश भेजा। उन्होंने अमृतराय को टटोला। परन्तु यहाँ अमृतराय खुद स्वीकृति का पत्र लिखकर उनका दस्तखत ले बद्रीप्रसाद के पास भेज देते हैं। बद्रीप्रसाद ने पत्र अमृतराय के हाथ से लिखा देखकर क्रोध तो किया, परन्तु पत्नी के कहने से अपमान पी गये। अतः विरोध से झुलसी हुई प्रेमा का विवाह दीनानाथ से हो गया।

वहाँ अमृतराय विधवाश्रम (वनिताश्रम) खोल रहे हैं।

यहाँ पूर्णा और सुमित्रा दुःखानुभूति और सहानुभूति की डोरियों मे बँध गईं, परन्तु कमला को यह भी अच्छा न लगा। वे प्रेमा को भाँति-भाँति के उपहार देने लगे। परन्तु सुमित्रा के हृदय में एक दिन रेशमी साड़ियों की घटना लेकर संदेह किसी हिंसक पशु की भाँति आरूढ़ हो गया। इसी बात से पति-पत्नी में मनमुटाव हो गया। इस बारह दिन दोनों अलग-अलग रहे। अंत में एक दिन हार कर सुमित्रा रात में कमला के कमरे की तरफ चली। मान टूट गया पर जा न सकी। सुमित्रा देख रही थी, वह खुद कमला के पास पहुँची। परन्तु यहाँ तो अपने ही हाथ हवन करते हैं। काम-वासना से उद्दीप्त हो कमला उसकी ओर बढ़ा, परन्तु पूर्णा के क्रोध ने उसे शांत का दिया। फिर भी उसके आग्रह पर उसे साड़ी पहननी ही पड़ी। पूर्णा का मन द्वन्दों से भर उठा, परन्तु अंत में उसका सती तेज जल उठा। वह इस वासना के चंगुल में आने वाली नहीं।

प्रेमा ने आकर घर सहेज लिया। अमृतराय अब उसके लिए स्वप्न थे। परन्तु दाननाथ को शङ्का बनी रही कि इसे

अमृत से ही प्रेम है। परन्तु एक दिन जब प्रेमा ने अमृतराय के चरित्र के ऊपर आक्षेप होते देख उसकी तरफदारी की, तो ग़ज़ब हो गया। क्या वह देवता कन्हैया बनने के लिए वनिताश्रम सजाये है। परन्तु हार कर भी दाननाथ नहीं हारे। वे अमृतराय के विरोध में व्याख्यान देने लगे—"सनातन धर्म पर आघात।" दूसरे दिन अमृतराय आये, परन्तु दोनों अब दो राहों पर थे। कमला, बद्रीप्रसाद, दाननाथ एक तरफ—अमृत दूसरी तरफ। प्रेमा किस तरफ है ?

एक दिन अमृत का व्याख्यान होने वाला है। कमला दंगा कराना चाहता है। प्रेमा को डर है। वह भी सास के साथ जायगी। दङ्गा हो ही गया। परन्तु प्रेमा ने मंच पर पहुँचकर सबको चकित और शांत कर दिया। अब अमृतराय को अपनी भूल पर, सिद्धांतवाद पर पछताना पड़ा।

एक दिन सुमित्रा और पूर्णा बातें कर रही थीं, कमला ने अचकन माँगी। सुमित्रा ने नहीं दी—खुद निकाल ले, पैर में मेंहदी लगी है। इसी समय कमला आकर उलझ गया। परन्तु हार खा कर, उस तेजस्वी नारी के सामने से उलटे पाँव लौटना पड़ा। सुमित्रा जानती थी यह अंधड़ उसी को घेर कर आ रहा है। वह कमला से साफ़ कह देगी कि वह इस घर में नहीं रह सकती। रात को उसके कमरे में गई। कमला के आँसुओं ने उसे पिघला दिया। वह भूमि पर बैठकर फूट फूट कर रोने लगी। परन्तु कमला था एक छटा बदमाश—वह मनाता है! उसने खूँटी से तलवार उतार ली और जब तक सुमित्रा शांत न हो गई, आत्महत्या की धमकी देता रहा। वह इस विधवा का उद्धार करेगा—वह टट्टी की आड़ में शिकार नहीं करेगा। सुमित्रा से तो उसका मन ही नहीं मिला। वह शिकारी के सभी प्रलोभन

देता है। परन्तु सुमित्रा निकल जाती है। दूसरे दिन सुमित्रा आकर साफ़-साफ़ कह देती है कि वह इस घर में नहीं रह सकती। वह यह लुक छिप कर मिलना नहीं देख सकती। वह रात सब देख आई है। पूर्णा उससे क्षमा माँगती है।

परन्तु कमला पत्र लिए आया कि प्रेमा ने बुलाया है और आग्रह से ले भी गया। जब पूर्णा ने ताँगे पर बैठकर देखा कि कोचवान नहीं, रास कमला के हाथ में है, तो डरी। वह उसे अपरिचित रास्तों से ले गया शहर के बाहर, एक निर्जन बगीचे में। कमला पुरुष बनना चाहता है। वह जिसे चाहता है याचना से नहीं लेगा। वह चाहता है, पूर्णा यहीं रहे, उसके वृन्दावन जाने की बात उड़ा दी जाय। परंतु जब वह अर्द्धचेतन दशा में पड़ी पूर्णा पर बलात्कार करने जा रहा है तो उसकी सब प्रवृत्तियाँ उत्तेजित हो आती हैं—पूर्णा ने कुर्सी खेंच ली और कमला पर प्रहार किया। कमला मूर्च्छित लहूलुहान गिर पड़ा। जब संध्या हो गई, अंधेरा हो चला तो वह बाहर निकली और गङ्गा में डूबने जाने लगी। जिस बुड्ढे से उसने रास्ता पूछा, उसने दया कर उसका हाल पूछ कर उसे अमृतराय के आश्रम में चलने को कहा परंतु पूर्णा अमृतराय के सामने नहीं पड़ना चाहती थी। खैर, वह वहीं चली गई।

कमला के मुँह और छाती में चोट लगी और एक दांत टूट गया। थोड़ी देर में ही सारे नगर में उनकी चर्चा हो रही थी। कमला पूर्णा के दुराचरण की बात बनाकर निकल जाना चाहता है; परंतु बद्रीप्रसाद सब भेद खोल देते हैं—इस दुष्ट को शर्म भी नहीं आती। यही अमृतराय जैसे साधु पर इलजाम लगाया चाहता है। उस दिन से प्रथम प्रेम-प्रपंच में असफल कमला ने पिता से बात भी न की। जनता की दृष्टि में कमलाप्रसाद और

दाननाथ अभिन्न थे, अतः दाननाथ ग्लानि से भर गये। परंतु पूर्णा भवन पहुँच गई है यह समाचार सुनाकर जैसे दाननाथ अब भी प्रेमा की परीक्षा करना चाहते हैं। अब वे बगुला भगत (अमृतराय) की खूब खबर लेंगे। प्रेमा ने पति को श्रद्धा की दृष्टि से देखा।

यहाँ जनता दाननाथ से बिगड़ रही थी, कालिज के लड़कों ने उनको लज्जित किया, उनका जी छूट गया। सच्चाई छिपी न रह सकी। उन्होंने तीन महीनों की छुट्टी ले ली। प्रेमा से उन्होंने इस बदनामी की चर्चा की। भीतर ही भीतर घुटने लगे। एक दिन सुमित्रा आई तो पता चला बदनामी के बाद से कमला रास्ते पर आ गया है। अब वही उनकी आँखों का तारा है—लाला बद्रीप्रसाद दोनों को देहात भेज रहे हैं।

अमृतराय ने एक लेख लिखकर दाननाथ को जनता की दृष्टि में उठा दिया। सुलह हो गई—परन्तु क्यों उसने यह लेख लिखा? अंत में दोनों मित्रों का मनमुटाव समाप्त हो गया तो दाननाथ ने स्पष्ट कह दिया—

"×× न जाने क्यों शादी होते ही मैं शक्की हो गया? मुझे बात-बात पर संदेह होता था कि प्रेमा मन में मेरी उपेक्षा करती है। सच पूछो तो मैंने उसको जलाने और सुलाने के लिए ही तुम्हारी निन्दा शुरू की। मेरा दिल तुम्हारी तरफ से हमेशा साफ रहा" (१६६)

अमृतराय ने उन्हें आश्रम की सैर कराई। पूर्णा ने पीपल के नीचे कृष्ण मंदिर की स्थापना की है। वह भक्त हो गई है। वह अपनी सारी आत्मग्लानि भगवान के चरणों पर रख कर शांत हैं।

जब वे बजरे में उन्हें लौटा रहे थे, तो दाननाथ के आग्रह पर अमृत ने बताया कि वे विवाह कर चुके—वनिताश्रम के साथ! यों उनकी प्रतिज्ञा पूरी हुई परंतु बनिताश्रम के साथ? या पूर्णा के साथ? दाननाथ हार गए—प्रेमा की उपासना छोड़ने का अर्थ ही यह था कि वे विवाह न करेंगे। उन्होंने वज्राहत स्वर में कहा—"भैया! तुमने मुझे धोका दिया!"

'प्रतिज्ञा' की कथावस्तु और रचना-कौशल उसे एकदम प्रेमचंद के प्रौढ़ उपन्यासों में रख देते हैं, परंतु वास्तव में यह प्रेमचंद के दूसरे उपन्यास 'प्रेमा' का ही परिवर्तित और परिवर्द्धित रूप है। इस उपन्यास की कथावस्तु प्रेमचंद द्वारा लिखी जाकर चार रूपों में हमारे सामने आता है—तीन रूप हिन्दी के हैं, एक उर्दू का। 'प्रेमा', 'विभव', 'हम खुर्मा व हम कवाब', और 'प्रतिज्ञा' वास्तव में एक ही चीज़ हैं। 'प्रेमा' उसी वर्ष (१६०४-५) प्रकाशित हुआ जिस वर्ष शिवरानी देवी से प्रेमचंद का विवाह हुआ। इसी वर्ष फाल्गुन में उनका शादी हुई थी। 'प्रेमचंद घर में' संस्मरण पुस्तक में शिवरानी देवी ने उन दिनों उनके चुस्ती से बैठकर लिखने और क़लम को मज़दूरों के फावड़े की तरह तेज़ चलाने की बात कही है। तब कदाचित वह 'प्रेमा' ही लिख रहे थे। चार बार उन्होंने उसे सुधारा और अंत में 'प्रतिज्ञा' रूप देकर वह अवश्य संतोष पा गये होंगे।

'वरदान' की तरह प्रतिज्ञा का कथानक भी प्रेम है। परन्तु इस प्रेम के साथ विधवा की समस्या जुड़ी हुई है। प्रेमचंद का पारिवारिक (वैवाहिक कहना अधिक ठीक होगा) जीवन संतोष जनक नहीं था। अपनी विवाहिता पत्नी को वे सदैव के लिए छोड़ने का प्रण कर चुके थे। वे इस ववािह को विवाह ही नहीं

समझते थे। उनके चाचा जी ने बे-देखी, बे-सुनी लड़की उनके गले डाल दी थी। फिर पत्नी का स्वभाव भी उनके स्वभाव से नहीं मिलता था। प्रेमचंद ने इस वैवाहिक विडंबना का हल यही सोचा कि वह पत्नी को मायके भेज दें और उसे मासिक रुपया भेज कर अपनी जिम्मेदारी से छुट्टी ले लें। परन्तु सारा जीवन तो इस तरह चला नहीं जाता। दूसरे विवाह की समस्या साथ आई और मन तर्क वितर्क करने लगा। विधवा-विवाह करे या न करे, न करें तो फिर विधवा के लिए सतीत्व बनाये रखने का रास्ता ही समाज में कहाँ है। पूर्णिमा के रूप में उन्होंने हिन्दू समाज को चुनौती दी। उपन्यास के अंत में 'वनिताश्रम' की स्थापना करके इस समस्या का उन्होंने हल करा दिया। विधवाओं के लिए आश्रम खोले जायें, वहाँ वे जीविकोपार्जन के उपयोगी साधन सीखें और मर्यादापूर्ण जीवन व्यतीत करें। ऋषभचरण जैन, चतुरसेन शास्त्री और 'उग्र' के उपन्यासों में इस विधवाश्रमों की जितनी पोल खोली गई है, उससे हिन्दी के पाठक परिचित हैं। वास्तव में जहाँ आमूल सामाजिक क्रांति की आवश्यकता है, वहाँ इस तरह के समझौते बहुत दूर नहीं जाते। आज हम जानते हैं कि विधवा की समस्या के साथ नारी के अधिकार, शिक्षा-दीक्षा, परिवार और धनोपार्जन की सारी समस्याएँ ही जुड़ी हुई हैं।

परन्तु समस्या का कोई हल प्रेमचंद ने न सुझाया हो, या उनका सुझाव शिथिल हो—इसमें संदेह नहीं। इस उपन्यास में उन्होंने आदर्शवादी चोला उतार फेंका है और कम के कम कथानक और चरित्र-चित्रण में वे पूर्णतः वस्तुवादी हैं। इस उपन्यास का खलनायक कमलाशंकर बहुत ही दुर्बल चरित्र व्यक्ति है और वह अपनी आश्रिता पूर्णा को अपने अधिकार में करने के लिए छल-बल से नहीं चूकता। नगर के बाहर उसे लेजा कर

वह बलात्कार के लिए भी तैयार है, परन्तु पूर्णिमा कुर्सी उठाकर उसके सिर पर दे मारती है, उसके दाँत टूट जाते हैं और वह बेहोश हो जाता है। आदर्शवादी प्रेमचंद ऐसे दुश्चरित्र पात्र को प्रधानता नहीं देते, परन्तु जिन दिनों वह इस कहानी को 'प्रतिज्ञा' के रूप में अंतिम आवृत्ति दे रहे थे, उस समय वे वस्तुवाद की ओर ही तीव्रता से बढ़ रहे थे। 'गोदान' और 'कफन' इसके प्रमाण हैं।

जो हो, यह निश्चित है कि कथा-संगठन, चरित्र-चित्रण और भावों के उत्थान-पतन की दृष्टि से यह छोटा उपन्यास साधारण कथा-श्रेणी का अतिक्रमण कर जाता है।

५

सेवासदन (१९१६)

प्रेमचंद का पहला प्रसिद्ध उपन्यास सेवासदन ही है और इसी की लोकप्रियता के प्रभाव से वह उर्दू के क्षेत्र को छोड़ हिन्दी में आये और इसी के हो गये। जब यह उपन्यास प्रकाशित हुआ तो धूम मच गई। बँगला के अनुवादों में भी इस तरह की चीज हिन्दीभाषा-भाषियों को पढ़ने को न मिली थी। इसकी मौलिकता और भाषाशैली पर हिन्दी वाले रीझ गए। यह एक समस्या-प्रधान उपन्यास था कि समाज में वेश्याओं का क्या स्थान हो? वेश्यावृत्ति कैसे बन्द की जाय? ऐसी कौन-सी परिस्थिति है जो हमारे घर की नारियों को इस अनीति के पथ पर डाल देती है? लोगों का ध्यान इस समस्या पर आकर्षित होने लगा और कई नगरों में वेश्याओं के अड्डे चौक से हटाए जाने लगे। प्रेमचंद ने जनता के एक प्रश्न को उपस्थित किया, उसे सुलझाने का मार्ग दिखाया। जनता ने उनके बताए हुए निदान को किस हद तक ग्रहण किया यह हम आज भी देख सकते हैं! आज भी वेश्याएँ बनी हैं, बनती जा रही हैं, समाज में उनका कोई स्थान नहीं है। और उनके लिए "सेवाश्रम" जैसी संस्थाएँ नहीं खुल सकी हैं। खुल सकतीं तो भी यह कोई अंतिम निदान नहीं होता, यह

भी हम समझने लगे हैं। "सेवासदन" की महत्ता यह है कि वह हिंदी का पहला समस्यामूलक उपन्यास है और उपन्यास-कला की दृष्टि से भी वह अपने पिछले साथियों से कहीं आगे की भूमि पर चल रहा है।

एक तरह हम कह सकते हैं कि प्रेमचंद का सेवासदन उनकी नायिका "सुमन" की जीवन-गाथा है। सारी कथा का केन्द्र वही है, यद्यपि अवांतर प्रसंग भी कम नहीं आए हैं। वे इसलिए उपस्थित हैं कि सेवासदन मनोविश्लेषण-प्रधान चारित्रिक उपन्यास नहीं है—वह सामाजिक सुधारवादी उपन्यास है जिसका अंत "आन्दोलन" के रूप में सामने आ रहा है। अच्छा तो यह हो कि हम सुमन की कथा अलग पढ़ें और वेश्याओं के चौक से हटाये जाने की समस्या की कहानी अलग।

दारोगा कृष्णचन्द्र की पत्नी थी गङ्गाजली, दो लड़कियाँ थीं सुमन और शांता। भले, सज्जन आदमी थे। जिंदगी में कभी रिश्वत नहीं ली थी। परन्तु अब सुमन का विवाह करना है। पाँच हजार से कम में अच्छा वर नहीं मिलता। उन्होंने हिम्मत करके एक महंत को फँसा कर रिश्वत लेने का डौल बाँधा परन्तु मातहतों से साझा करने का गुर नहीं जानते थे। फल यह हुआ कि फँस गए और जेल चले गये।

रिश्वत के रुपये गङ्गाजली ने मुक़दमे में लगा दिये थे। कृष्णचन्द्र ने जहाँ पहले सम्बंध ठीक किया था वहाँ से साफ जवाब आ चुका था। वह अपने भाई उमानाथ के यहाँ, लड़कियों के साथ, रहने लगी थी। उन्होंने ही दौड़-धूप कर गजाधर से सुमन का विवाह कर दिया। वर दुहेजा था, १५) रु० का बाबू, कारख़ाने में नौकर।

सुमन ने दो महीने तो अच्छी तरह काटे। सारा घर का

काम-काज खुद ही कर लेती परन्तु गृहकार्य में कुशल नहीं थी। महीने में दस दिन बाक़ी था और यहाँ पैसा खत्म। धीरे-धीरे उसे अपनी पड़ोसिनियो का सुख और ऐश्वर्य देख कर असंतोष होने लगा। वह सुन्दरी थी, सुन्दर वस्त्राभूषण की उसे चाह थी, अच्छा खाने-पीने की आदी! फिर जिस वातावरण में वह आ पड़ी थी, वह उसे और भी ललचा रहा था। सुमन के घर के सामने भोली नाम की एक वेश्या का मकान था। पहले सुमन उससे संस्कारवश घृणा करती थी, उससे बात करने में अपना अपमान समझती, परन्तु धीरे-धीरे वह देखती है कि जहाँ वह अकेली गजाधर से बँध गई है और उसके लिए भी भार हो गई है, वहाँ सब की होकर भी यह भोली सबके आदर-सम्मान की पात्र है। उर्स में वह बुलाई जाए, मंदिर उसके गानों से गूँजे, महफिलों की वह जान!

एक दिन सुमन यों ही कुछ देर के लिए भोली के यहाँ बैठी रही, गजाधर उस दिन मुजरा सुन आये थे, परन्तु वेश्या से बीबी का मेल-जोल नहीं सह सकते थे। खूब डाँटा-डपटा। सुमन को अपनी और भोली की परिस्थितियों की विषमता जँच गई परन्तु उसकी धर्मनिष्ठा ने उभड़ कर उसे बचा लिया, अभी वह पतन के गर्त से दूर थी।

अब सुमन प्रतिदिन माघ नहाने जाती और पाप की कालिमा भी हृदय में न आने देती। परन्तु एक दिन फिर परिस्थिति की विषमता उसकी आँखों के सामने आई। वह थक कर एक बाग़ की बेंच पर बैठ गई थी कि रक्षक ने उसे हटा दिया—कुछ देर पहले उसके देखते-देखते दो वेश्याएँ वहाँ बैठी थीं और यही आदमी उनके पीछे पालतू कुत्ता-सा लगा था। चौकीदार से वह झगड़ रही थी कि एक फ़िटन रुक गई थी—उसमें एक स्त्री और

एक पुरुष बैठे थे। उन्होंने बीच-बचाव कर दिया और सुमन को उसके घर पहुँचा दिया। यह वकील पद्मसिंह और सुभद्रा थे। उसी के मुहल्ले में इनकी कोठी थी।

साथ ही सुभद्रा के यहाँ सुमन का आना-जाना शुरू हो गया। गजाधर ईर्ष्यालु प्रकृति का आदमी था, उसे यह बात खटकी। "जैसे बालू पर तड़पती हुई मछली जलधारा में पहुँच कर किलोलें करने लगती है उसी प्रकार सुमन भी सुभद्रा के स्नेह-रूपी जलधारा में अपने को भूल कर आमोद-प्रमोद में मग्न हो गई।" होली के दिन आ रहे थे। उधर पद्मसिंह म्युनिस्पलिटी के मेम्बर चुने गये थे। एक दिन दोस्तों ने भोलाबाई के मुजरे के लिए जोर दिया। पद्मसिंह को सिद्धान्तों को ताक में रखना पड़ा। मुजरा हुआ। सुमन भी गई। उस दिन उसे लौटते-लौटते दो बज गये थे। इधर गजाधर बहुत दिनों से पद्मसिंह के यहाँ आने-जाने में चिढ़ रहा था—बराबर खटकती थी। अनेक बार चीख़ने चिल्लाने पर उसने दरवाज़ा खोला परन्तु गजाधर उसे घर से निकालने पर तुला हुआ था। अन्त में "सुमन जैसी सगर्वा स्त्री इस अपमान को सह न सकी" वह संदूक़ची उठा कर द्वार से निकल आई और गजाधर ने उसके पीछे दरवाज़ा बन्द कर लिया। इस प्रकार सुमन के विवाहित जीवन का अंत हो गया।

कुछ दिन तो वह सुभद्रा के यहाँ रही, परन्तु यहाँ चुनाव के ज़माने में कई आदमी वकील साहब के शत्रु हो गये थे। जब अंत में उनकी बदनामी होने लगी, शहरवाले उनके चरित्र पर सन्देह करने लगे, तो सहृदय पद्मसिंह ने सुमन से साफ़-साफ़ कह दिया कि उसका इस घर में कोई स्थान नहीं है।

दुतकारी हुई सुमन के लिए अब भोली के सिवा कहाँ

आश्रय था। गजाधर को जब मालूम हुआ तो उसे इतनी आत्मग्लानि हुई कि साधु हो गया। पद्मसिंह को पता लगा तो उन्हें भी कम पछताव नहीं हुआ। उन्हें लगा कि उन्होंने ही सुमन को कोठे पर ढकेला है। जिस समाज-सुधारक विट्ठलदास ने गजाधर को द्वेषवश भड़काया था, वह अब पद्मसिंह के साथ सुमन के उद्धार की बात सोचने लगे। परन्तु पद्मसिंह ग्लानि के कारण सुमन को अपना मुँह नहीं दिखाना चाहते थे—हाँ यह बात उनके मनको लग गई थी कि सुमन इस वेश्यावृत्ति को त्याग दे।

पद्मसिंह के एक बड़े भाई मदनसिंह थे। उनका लड़का सदन पद्मसिंह के पास आकर रहने लगा था। पद्मसिंह ने उसके पढ़ने-लिखने का प्रबन्ध किया, उसकी हवाखोरी को घोड़ा लिया, परन्तु उसे चौक की लत लग गई। वह सुमन पर मुग्ध हो गया और तरह-तरह के उपहार देने लगा। सुमन पद्मसिंह से उसका सम्बन्ध जान गई थी। वह इस तरह के उपहार लेने से इन्कार करती। परन्तु वह सदन को हाथ से निकलने भी नहीं देना चाहती थी—जब उसने काजल की कोठरी में पाँव दे दिया, तो जब तक बचाया जा सके, उसे बचाया जाय। एक दिन सदन उसे कंगन दे गया। बहुत आग्रह पर सुमन ने रख लिया परन्तु वह जानती थी, यह सुभद्रा की चीज़ है। उसे लौटानी पड़ेगी।

इधर विट्ठलदास सुमन को बाहर लाने के लिये अनेक प्रकार के यत्न करने लगे, परन्तु बड़ी कठिनाई से वह ३०)-४०) रु० का मासिक इन्तजाम कर सके। इससे अधिक कोई देने को तैयार नहीं था। यह सहायता भी पद्मसिंह की आत्मग्लानि की देन थी। एक दिन पद्मसिंह की भेंट सुमन से हो गई,

वह उन्हें सुभद्रा का कंगन लौटा आई, परन्तु वह उसे कैसे मिला, इसका भेद नहीं बताया। आखिर विट्ठलदास के अतीव आग्रह से सुमन कोठा छोड़ने पर राजी हुई—मोह था, तो सदन का। परन्तु अभी तक उसकी देह पाप में लिप्त नहीं हुई थी। उसकी आत्मा हीरे की तरह स्वच्छ थी।

सदन को सुमन का पता नहीं लगा तो वह निराश और उदास हो गया। उन्हीं दिनों पद्मसिंह उसे और सुभद्रा को लेकर गाँव भाई के पास चले गये। यहाँ सदन का विवाह पक्का हो चला था। परिणीता सुमन की बहन शांता ही थी, परन्तु इस सम्बन्ध को कोई न जानता था। अखिर जब बरात अमोला पहुँच गई तो बात खुल गई। अब न मदनसिंह राजी होते, न सदन। कृष्णचन्द्र जेल से छूट आए थे। उन्होंने बरात को लौटते देखा तो लड़ने को तैयार हो गए। परन्तु सुमन की बात उन्हें मालूम नहीं थी। जब मालूम हुई तो माथा ठोक कर रह गए। बरात लौट आई। पद्मसिह भाई को किसी भी तरह इस विवाह के लिए राजी न कर सके, आखिर शान्ता वेश्या की ही तो बहन है। परिस्थिति की विडंबना यह, कि यही सदन सुमन पर प्राण देता था।

विट्ठलदास ने सुमन को अपने विधवाश्रम में गुप्त रीति से रखा था परन्तु जब यह बात फैल गई तो वे बड़ी संकट में पड़ गये। जो लोग सुमन के प्रेमी थे, वही इस विधवाश्रम को चला रहे थे। सुमन इस तरह उनके हाथ से निकाल ली जाय, यह बात उन्हें अखरती थी। उन्होंने विट्ठलदास के पीछे तूफान उठा लिया।

सदन पद्मसिह के साथ ही लौट आया था। एक दिन घाट पर उसने सुमन को देख लिया—वैराग्यपूर्ण, अहंकारविहीन,

नैराश्य-भाव से मंडित नारिमूर्ति ! उसके हृदय में सौंदर्य, प्रेम, वासना और विवेक का द्वन्द होने लगा।

कृष्णचन्द्र ने ग्लानि से आत्महत्या कर ली। वे गङ्गा में डूब मरे। परन्तु शांता क्या करती ? उसने पद्मसिंह को पत्र लिखा और सातवें दिन तक उत्तर न आने पर डूब मरने का निश्चय किया। भॉवर न सही परन्तु विवाह तो मन का विषय है, वह तो विवाहित है। फिर उसकी उपेक्षा क्यों हो ? पिता और बहन के पाप उसे क्यों लगे ? पद्मसिंह किसी भी प्रकार मदनसिंह को राज़ी नहीं कर सके। अन्त में वह और विट्ठलदास शान्ता को लिवा लाये परन्तु दुर्बल-हृदय रूढ़िप्रिय पद्मसिंह शांता को घर में रख कर भाई में बिगाड़ नहीं करना चाहते थे। अतः उसे भी सुमन के पास विधवाश्रम में रखा गया। सुमन तो शोक से मरी जाती थी। हाय ! उसी के कारण तो छोटी बहन की यह दशा है।

गजानन्द और सुमन से भेंट हो गई थी, परन्तु गजानंद जो अब साधु थे, बीतराग थे, उसे किसी भी प्रकार ग्रहण करने को तैयार नहीं थे। उधर सदन बदल गया था। अब भी पश्चात्ताप से भरा था। वह कर्मठ युवा था। उसने मल्लाही करनी शुरू की थी और कुछ दिनों में छोटी-मोटी आय होने लगी। वह उसी में प्रसन्न था। धीरे-धीरे स्वावलंबन से उसमें चारित्रिक दृढ़ता का विकास हो गया। उसने वहीं अपनी कुटी भी बना ली। इधर विधवाश्रम में जो चर्चाएँ इन दो बहनो को लेकर चलती थीं, उसको बंद करने का एक ही उपाय था—आश्रम छोड़ दिया जाय। एक दिन सुमन शांता को लेकर निकल खड़ी हुई कि उसे अमोला पहुँचा आये और अपने कलंकमय जीवन का अंत कर दे। परन्तु घाट पर सदन से भेंट

हो गई। सुमन ने उसे शांता के प्रति अमानुषिक व्यवहार करने के प्रति गम्भीर क्षोभ प्रगट किया—शांता बेहोश थी। सदन ने शांता को पत्नी के रूप में स्वीकार करने की दृढ़ता दिखाई और दोनों बहनें वहीं सदन की कुटिया में रहने लगीं। पद्मसिंह ने सदन का धूमधाम से विवाह सम्पन्न करा दिया। परन्तु बड़े भाई से उनकी खटक गई।

परन्तु कुछ दिनों के बाद सदन शांता से ऊबने लगा तो शांता को सुमन के प्रति संदेह हुआ। उसके व्यवहार में कटुता आ गई। परन्तु वह गर्भवती थी। इसी कारण सुमन ने उसे छोड़ कर जाना उचित न समझा। जब उसके बच्चा हो गया और इस नवजात के कारण सदन-मदनसिंह का पारस्परिक मनमुटाव मिट गया, तो वह लापता हो गई। गजानंद से उसकी भेंट हुई उसने उसे सेवाधर्म का मार्ग सुझाया। पद्मसिंह ने वेश्याओं की ५० कन्याओं को सम्भ्रांत युवतियाँ बनाने के विचार से एक अनाथालय खोला था—सुमन को उसी की अध्यक्षा बनना होगा। यही इसका प्रायश्चित्त है। इस अनाथालय का नाम था "सेवासदन।"

स्पष्ट है कि ऊपर की कथावस्तु को दो भागों में बाँटा जा सकता है। एक कथावस्तु का सम्बन्ध सुमन और गजाधर से है, दूसरी का सम्बन्ध शांता और सदन से। एक की परिस्थिति सेवाधर्म (सेवासदन) में है, दूसरी कहानी का अंत परिणय-सूत्र से होता है। दोनों कहानियों की मूल भित्ति समाजसुधार है। सुमन वेश्या है, इसलिये मदनसिंह उसकी निष्कलंका बहन शांता का विवाह तोड़ देते हैं—परन्तु अंत में जब सदन स्वावलंबी हो जाता है तो पश्चात्तापपूर्वक शांता को ग्रहण करता है। तात्पर्य यह है कि लड़की वेश्या की बहन होने से ही पापपुञ्ज

नहीं हो गई। पहली कहानी में उन परिस्थितियों को सामने लाया गया है जिनमें हमारी बहू-बेटियाँ घर से निकल कर वेश्या हो कर कोठे सजाती हैं। कहानी के उत्तरार्द्ध में यह स्पष्ट है कि समाज में उनका कोई स्थान नहीं है। जिस "सेवासदन" में सुमन को जगह मिली है, वह भी विशेष आदर और सहानुभूति का पात्र नहीं है, हम देखते हैं।

ध्यान से देखने से पता लगेगा कि चौक से वेश्याओं के हटाए जाने की कथा अवांतर कथा है। उससे न सुमन-गजाधर की कहानी का सम्बन्ध है, न शांता-सदन की कथा का। सुधारक पद्मसिंह और विट्ठलदास और "म्यूनिस्पलिटी" के कितने ही हिन्दू-मुसलमान सदस्यों को लेकर यह कथा बढ़ती है। कुछ मेम्बर पक्ष में, कुछ विपक्ष में, फलतः बीच के समझौते की परिस्थिति उत्पन्न होती है। पद्मसिंह एक प्रस्ताव उपस्थित करते हैं:—

(१) वेश्याओं को शहर के मुख्य स्थानों से हटा कर बस्ती से दूर रक्खा जाय।

(२) उन्हें शहर के मुख्य सैर करने के स्थानों और पार्कों में आने का निषेध किया जाय।

(३) वेश्याओं का नाच कराने के लिए भारी टैक्स लगाया जाय और ऐसे जलसे किसी हालत में खुले स्थानों में न हों।

परन्तु यह प्रस्ताव इस तरमीम के साथ ही पास हो सकता है—"बइस्तसनाय उनके जो ६ माह के अन्दर या तो अपना निकाह कर लें, या कोई हुनर सीख लें जिससे वह जायज़ तरीक़े पर अपनी जिंदगी बसर कर सकें।"

इस प्रस्ताव की कथा ही म्यूनिस्पलिटी की कथा है। वास्तव

में यह सारा भाग सदस्यों की चहल-पहल और स्पीचों से भरा है और कथा-भाग से इसका निकट का सम्बन्ध नहीं है। इसको इतनी महत्ता मिल गई है कि पिछली दोनों कथायें इस प्रस्ताव की भूमिका-मात्र जान पड़ती हैं। यहाँ पर प्रेमचन्द समाज-सुधारक का चेहरा ओढ़ कर ही हमारे सामने आते हैं। उनका श्रेय यह है कि उन्होंने समस्या को मनोरंजक रूप में (कथा के रूप में) उपस्थित किया है, परन्तु उनकी कथा की परिस्थिति और उनके प्रस्ताव में सुझाया हुआ "हल" दोनों बहुत आगे नहीं बढ़ सके हैं। सुमन समाज में स्वीकृत नहीं हो सकी है, पद्मसिंह अब भी उससे बचे-बचे रहते हैं, शांता और सदन का परिणय समस्या का कोई हल उपस्थित नहीं करता। यदि दो-चार उत्साही युवक वेश्याओं से विवाह भी कर लें। तो भी परिस्थिति का अंत नहीं हो जाता। प्रस्ताव तो समस्या को और भी पीछे छोड़ देता है। जब वेश्यायें रहेंगी ही, तो बात क्या हुई ? स्पष्ट है, कि प्रेमचन्द समस्या के आर्थिक या मनोवैज्ञानिक पहलू के भीतर नहीं घुसते। वे मध्यवर्ग की सुधारवादी प्रकृति से आगे नहीं बढ़ते। वेश्यायें चौक से इसलिये हटा दी जायँ, कि वे संक्रामक हैं। नाच-मुजरे खुली जगह इसलिए न हों कि सुमन की तरह कोई दुर्बल नारी गृहिणीपद से स्खलित न हो जाय ? शहर के पार्कों में, बाजारों में, वेश्याएँ न घुस सकें, कि मध्यवर्ग के छैले फँस न जायँ। यह समस्या को देखने का एक अत्यन्त सीमित दृष्टिकोण है। आज तो हम जानते हैं, कि यह कोई हल नहीं है, यद्यपि प्रेमचन्द के समय में जनता और सुधारकवर्ग प्रेमचन्द से आगे नहीं सोच सकते थे, यह सच है।

सेवासदन समस्यामूलक उपन्यास है और उसकी समस्या का सम्बन्ध नगर के सामाजिक जीवन से है। अतः इसमें कितने

ही पात्र ऐसे आना आवश्यक थे जिनका उपयोग केवल कथा को सजाने के लिए हुआ है। म्युनिसपलिटी के कितने ही मेम्बर (सदस्य) हमारे सामने आते हैं, परन्तु हम कुछ को छोड़ कर शेष को कथासूत्र से सम्बन्धित नहीं पाते। वे केवल वेश्याओं विषयक हलचल के अनुमोदन या विरोध के लिए ही रंगमंच पर आते हैं। उनके व्यक्तित्व से हम परिचित नहीं हो पाते। वास्तव में, सभी समस्यामूलक उपन्यासों में चरित्र-चित्रण समस्या के नीचे दब जाता है। यहाँ भी ऐसा ही हुआ।

केवल उन्हीं चरित्रो को हम विशेष परिचितों के रूप में पाते हैं जिनका सम्बन्ध कथा से है। ये हैं—कृष्णचन्द्र, शांता, सुमन, पद्मसिंह, उमानाथ, मदनसिंह, सदन, विट्ठलदास, गंगाजली, भोलाबाई, सुभद्रा। परन्तु इन सभों से भी हमारा परिचय एक ही जैसा लंबा नहीं हो पाता। जो हो, विशेष चरित्र-चित्रण का प्रयत्न इन्ही पात्रों में मिलेगा।

कृष्णचन्द्र उन निरीह भोले-भाले मनुष्यों में से हैं जो अपनी भलाई के शिकार हो जाते हैं। बेटी के विवाह के लिए दहेज की समस्या है। रिश्वत लेते हैं, परन्तु लेना नहीं जानते। पकड़ जाते हैं। जेल में भीतर के तर्क वितर्क से उनका हृदय, मन, आत्मा सब विकृत हो जाते हैं। वे पहले कृष्णचन्द्र नहीं रहते। जेल-जीवन मनुष्य को कितना विकृत कर देता है, इसका इससे अच्छा चित्र कहीं नहीं मिलेगा। एक शब्द में कृष्णचन्द्र का बाक़ी जीवन एक बड़ा "Frustration" है—

वे रात को बारबार दीर्घ निश्वास लेकर हाय! हाय! कहते सुनाई देते थे। आधी रात को चारों ओर नीरवता छाई रहती थी, वे अपनी चारपाई पर करवटें बदल-बदल कर यह गीत गाया करते—

अगिया लागी सुन्दर बन जरि गयो,

कभी-कभी यह गीत गाते—

लकड़ी जल कोयला भई और कोयला जल भयो राख,
मैं पापिन ऐसी जरी कि कोयला भई न राख।

अब उनकी चितवन में कुचेष्टा होती, वे काम-संताप से जले जाते, नीच आदमियों के साथ चरस के दम लगाते। "वह कैसे गम्भीर, कैसे विचारशील, कैसे दयाशील, कैसे सच्चरित्र मनुष्य थे! यह कायापलट हो गई। शरीर तो वही है पर वह आत्मा कहाँ गई?"

वास्तव में यह अवस्था पिछली सज्जनता के प्रति प्रतिक्रिया है। कृष्णचंद्र जानते हैं—

"सबसे दगाबाज दीन किसानों का रक्त चूसने वाले व्यभिचारी हैं। मैं अपने को उनसे नीच नहीं समझता। मैं अपने किये का फल भोग आया हूँ, वे अभी तक बचे हुये हैं। मुझमें और उनमें केवल इतना ही फ़र्क़ है। वह एक पाप को छिपाने के लिये और भी कितने ही पाप किया करते हैं। इस विचार से वह मुझसे बड़े पातकी हैं। ऐसे बगुला-भक्तों के सामने मैं दीन बन कर नहीं रह सकता।"

परन्तु उनकी आत्मा मर नहीं गई है, शांता की बरात जब लौटने लगती है, तो उनमें स्वाभिमान जग जाता है। परन्तु जब वह सुमन के बहन की बात सुनते हैं तो मूर्च्छित हो जाते हैं। मर जाना चाहते हैं।

अन्त में डूब कर आत्महत्या कर लेते हैं। वे निरीह हैं। परिस्थितियों ने उन्हें अपना शिकार बना लिया। हमारा हृदय उनकी सहानुभूति में व्याकुल हो जाता है। वास्तव में

कृष्णचन्द्र सेवासदन का सबसे बड़ा अनूठा और मौलिक पात्र है।

शांता की तपस्या और उसके मनोभावों में 'वरदान' की वरजन (बृजरानी) साफ झलक जाती है। प्रेमचन्द ने जिन आदर्श हिन्दू नारियो की प्रतिष्ठा की है, शांता भी उन्हीं में से एक जाज्वल्यमान रत्न है। प्रेम ही उसका जीवन है। वह हिन्दू संस्कारों में बिंधी हुई उनका उज्ज्वल पक्ष हमारे सामने रखती है।

सुमन सेवासदन की नायिका है। सारा बवंडर उसी को ले कर है। प्रारम्भ में हम उसका अत्यन्त यथार्थ चित्रण पाते हैं परन्तु अन्य उपन्यासो की भाँति, अंत में प्रेमचन्द का। आदर्श-वाद कथा का सूत्र अपने हाथों में ले लेता है। प्रेमचन्द की इसी आदर्शवादी प्रवृत्ति का नमूना है कि उन्होंने वेश्यालय में भी सुमन को पतन से बचा दिया है। रूसी उपन्यास 'यामा' के अध्ययन में हमें प्रेमचन्द की आदर्शवादी दुर्बलता साफ हो जाती है।

सुमन के पतन के बीच वह उस शिक्षा-दीक्षा और वातावरण में रक्खी गई है जिनमें वह पली और बाद में रही। "उसने गृहिणी बनने की नहीं, इंद्रियों के आनन्दभोग की शिक्षा पाई थी।" (पृ० २०) "उसे अच्छा खाने, अच्छा पहनने की आदत थी। अपने द्वार पर खोंचेवालों की आवाज सुन कर उससे रहा न जाता × × जिह्वारसभोग के लिये पति से कपट करने लगी (वही)"। उसकी प्रकृति सगर्वा थी (पृ० २१)। "जिन महिलाओं के साथ सुमन उठती-बैठती थी, वे अपने पतियों को इंद्रिय-सुख का यंत्र समझती थीं" (पृ० २२)। "फिर सुमन के घर के सामने भोली नाम की एक वेश्या का मकान था। भोली नित्य-नये

सिंगार करके अपने कोठे के छज्जे पर बैठती।" (पृ० २३), पहले सुमन उससे घृणा करती थी, परंतु धीरे-धीरे वह जान गई कि लोग उस वेश्या को अपनी गृहणियों से अधिक चाहते हैं। तब अनादृत विवाहिता सुमन को भोली के सहानुभूतिपूर्ण अंचल में छिप जाना स्वाभाविक हो जाता है। परंतु सुमन के वेश्या-जीवन का साङ्गोपाङ्ग चित्र प्रेमचन्द उपस्थित नहीं करते। उसके मानसिक संघर्ष और द्वन्दों की ओर से वह आँखें मींच लेते हैं। इसलिये प्रेमचन्द के इस उपन्यास में सामयिकता अधिक है, अमर साहित्य के तत्त्व कम। वे जिस वेश्या-जीवन के प्रति विरोध प्रगट कर रहे हैं, उसकी विभीषिका भी उन्हें चित्रित करना चाहिये थी। परन्तु हम भूलते हैं—प्रेमचन्द वेश्या-जीवन क्यों, कैसे, क्या, प्रश्न उठाते ही नहीं; उनका लक्ष्य सीमित है। वेश्याएँ चौक में से, बाज़ारों में से, संभ्रान्त-वर्गमानव के पथ से हटा दी जायँ। इस सीमित लक्ष्य ने उनके उपन्यास के महत्व को कम कर दिया है।

सुमन के जीवन में सदन को लाना अनावश्यक था—परंतु यदि प्रेमचन्द ऐसा न करते तो वे यह कैसे दिखा पाते कि वेश्या पर मुग्ध होने वाला तरुण उसकी बहन को पत्नीरूप में स्वीकार नहीं करता। इसीलिए सुमन का जितना चरित्र सदन के सम्पर्क में रहता है, वह अधखुला है, अस्पष्ट है, भ्रांत है। सुमन के जीवन के उत्तरार्द्ध में प्रेमचन्द उसे समाज से तिरस्कृत दिखा कर एक प्रकार का असंतोष उसके जीवन में भर देते हैं। वह सब ओर से लांछित है, अग्राह्य है, उसकी बहन के लिये भी उसकी नीयत साफ नहीं हो सकती। अंत में उसका पति गजाधर ही उसे मार्ग दिखाता है। यह सेवा का मार्ग है। परन्तु, प्रश्न होता है, क्या सुमन के जीवन की पूर्णता यही है, क्या सुमन

बराबर इसी सेवापथ पर चलने के लिये तैयारी करती रही है ? क्या यह प्रेमचन्द की आदर्शवादिता की विजय नहीं है ? सीमित लक्ष्य के भीतर से कथा बढ़ाते हुये प्रेमचन्द ने सुमन का अच्छा चित्रण किया है, परन्तु वह उसे ऐसा चरित्र नहीं बना सके जो विशिष्ट हो, अमर हो, लांछित होते हुये भी पुण्यप्रभालोकित हो। शरच्चन्द्र के 'देवदास' की यमुना के प्रति हमारी जो सहानुभूति अक्षयकोष बिखेरती है वह सुमन की ओर मुट्ठी भर मोती डालती है।

पद्मसिंह कुटुम्बभीरु, समाजभीरु परन्तु सज्जन, दृढ़व्रती आदर्शवादी पुरुष चित्रित किये गये हैं—प्रेमचन्द का अपना चरित्र ही उनमें झलक पाया है। सच तो यह है कि वह अपने समय के हिन्दू मध्यवर्ग के प्रतीक हैं। सुमन को उन्होंने कोठे की ओर ढकेला, इस ग्लानि में उनकी आत्मा जलती है, परन्तु उन्हें उसके पास जाने का साहस नहीं होता। वेश्याओं का नाच ठीक नहीं, वे सुधारवादी सिद्धान्त के पोषक होते हुये भी मित्रों के आग्रह पर नाच कराते हैं जो सुमन के घर से निकाले जाने का कारण होता है। भाई से इतना डरते हैं कि अपने सिद्धान्त की हत्या करते हुये वे अपने भतीजे की बरात में रंडियाँ ले जाते हैं। सदन और शांता की कथाएँ हम उनकी लाचारी पग-पग पर देखते हैं। ऐसा असाहसी, भीरु प्रौढ़ कैसे सुधारवादी बन जाता है, यह रहस्य है—परन्तु इस रहस्य के पीछे विट्ठलदास की कर्मठ तेजस्वी मूर्ति झलकती है। 'सेवा सदन' का सारा श्रेय विट्ठलदास को है, पद्मसिंह अकेले कुछ न करते। उनमें इतना साहस ही नहीं। परन्तु द्विधाओं के बीच में जिस प्रकार मानसिक यातना और आत्मिक ग्लानि के साथ, वे अपनी नाव खेते हैं, उसको देख कर उनसे सहानुभूति ही होती

है। पद्मसिंह के भाई मदनसिंह पुरानी बज़ञ पर जान देने वाले रूढ़िप्रिय व्यक्ति हैं जिन्हें अंत में पुत्र-प्रेम के कारण अपने सिद्धान्तों को बलि देनी पड़ती है और यथार्थ की भूमि पर आना पड़ता है। प्रेमचन्द ने इनका चित्रण अत्यन्त सहृदयता से किया है। प्रेमचन्द गुज़रती हुई पीढ़ी का चित्रण करने में बेजोड़ थे। सेवासदन का ५७वाँ अध्याय मदनसिंह के अन्तिम मनोभावों के परखने की अच्छी सामग्री उपस्थित करता है। चरित्र-चित्रण का सबसे उत्कृष्ट चित्र वह है जहाँ वे मदनसिंह के मनोभावों को ढँकते-खोलते हैं। पद्मसिंह और मदनसिंह में बातें हो रही हैं—

मदन—सब कुशल है ?

पद्म—जी हाँ, सब ईश्वर की दया है।

मदन—भला, उस बेईमान की भी कुछ खोज खबर मिली है ?

पद्म—जी हाँ, अच्छी तरह हैं, दसवें-पाँचवें मेरे यहाँ आया करते हैं। मैं भी कभी-कभी हाल पुछवा लेता हूँ। कोई चिंता की बात नहीं है।

मदन—भला वह पापी कभी हम लोगों की भी चर्चा करता है या बिलकुल मरा समझ लिया ? क्या यहाँ आने की कसम खा ली है ? क्या हम लोग मर जायँगे तभी आवेगा। अगर उसकी इच्छा हो तो हम लोग कहीं चले जायँ। अपना घर-द्वार ले, अपना घर सँभाले, सुनता हूँ वहाँ मकान बनवा रहा है। वह तो वहाँ रहेगा और यहाँ कौन रहेगा। यह किसके लिए छोड़े देता है ?

पद्म—जी नहीं, मकान-वकान कहीं नहीं बनवाते, यह आपसे किसी ने झूठ ही कह दिया। हाँ, एक चूने की कल खड़ी कर ली

है और यह भी मालूम हुआ है कि नदी-पार थोड़ी-सी जमीन भी लेना चाहते हैं।

मदन—तो उससे कह देना पहले आकर इस घर में आग लगा जाय तव वहाँ जगह-जमीन ले।

पद्म—× × × आपकी इच्छा हो तो वह कल ही चला आवे।

मदन—नहीं, मै उसे वुलाता नहीं। हम उसके कौन होते हैं जो यहाँ आवेगा। लेकिन यहाँ आवे तो कह देना जरा पीठ मजवूत कर रखे × ×। (पृ० ३५४-३५५)

विट्ठलदास के चरित्र में हम एक सच्चे, उत्साही लोकसेवक से परिचित होते हैं और उसके सामने क्या वाधाएँ आती हैं, यह देखते हैं। कहने का मतलव यह है कि विट्ठलदास एक "टाइप" हैं, उनमें विशेष व्यक्तित्व का विकास नहीं किया गया है। चुनाव के वातावरण में हम विट्ठलदास को नीचे उतरते भी देखते हैं—उन्होंने पद्मसिंह को वेकार वदनाम किया है, परन्तु आगे चल कर उनका उज्ज्वल चरित्र उनके इस स्खलन को पूर्णतः ढक लेता है।

विट्ठलदास की तरह भोला भाई भी अपने वर्ग का प्रतीक है। उसके ऐश्वर्य, और उसकी प्रसिद्धि की चमक के पीछे उसका व्यक्तित्व छिप गया है।

रह गए गङ्गाजली, सुभद्रा और सदन। पहले दो चरित्र स्थिर हैं, गङ्गाजली तो वहुत ही कम हमारे सामने आई। दहेज की समस्या से घवड़ा कर उसके पति को रिश्वत लेने को उतारू किया, परन्तु जव उसे वचा न सकी तो दुःख से जान दे दी। सुभद्रा साधारण सहृदय गृहस्थ स्त्री है। सदन के चरित्र को हमें विशेष रूप से अध्ययन करना है।

सदन प्रेमचन्द की कर्मभूमि के "अमर" से वहुत मिलता-

जुलता है। पहले विलासी, भीरु हृदय; फिर कर्मठ होकर स्वस्थ। वह चाचा के यहाँ सुख से रहना चाहता है, अतः घर से भाग आता है। मार्ग में उसकी भयभीत, भीरुप्रकृति का अवांतर चित्रण है जो दुर्बल युवा के मनः-तत्व का अच्छा विश्लेषण उपस्थित करता है। पद्मसिंह के यहाँ रहते हुए उसने सुमन से किस तरह प्रेम बढ़ाया, यह हम कथा प्रसङ्ग में बता चुके हैं।

सेवासदन, प्रेमचन्द का पहला सफल उपन्यास है और कदाचित् उसकी लोकप्रियता ने ही उन्हें उपन्यास-लेखन की ओर विशेष रूप से प्रोत्साहित किया। इसमें हमे पहली बार प्रेमचंदी भाषा और उसकी प्रसाद गुण-सम्पन्न सशक्त शैली का परिचय हुआ। साथ ही समसामयिक जीवन के अनेक महत्वपूर्ण चित्र भी मिले। इस उपन्यास में नारी जीवन की असमर्थता का एक बड़ा ही समर्थ चित्र उपस्थित होता है। हिन्दू नारी वेश्या से भी गई बीती है। उसके पास जीने का एक मात्र ही साधन है—वह अपने तन को बेचे, चाहे पति को, चाहे किसी अन्य व्यक्ति को। सुमन की जीवनगाथा हिन्दू समाज के ऊपर सबसे बड़ा व्यंग्य है। अन्य उपन्यासों की तरह यहाँ भी प्रेमचंद ने एक सस्ता-सा हल निकाल लिया है—एक आश्रम यहाँ भी खुल जाता है, यही 'सेवासदन' है। परन्तु उपन्यास का क्रांति-कारी काम तो वहीं खत्म हो जाता है जहाँ चारों ओर से लांछित सुमन आत्म-हत्या के लिए निकल पड़ती है। यदि प्रेमचन्द उपन्यास को यहीं समाप्त कर देते तो उसकी क्रान्तिदृष्टि बनी रहती। अकस्मात् सुमन के पति गजाधर प्रसाद पहुँच जाते हैं। वे अब स्वामी गजानद हैं और उन्होने वेश्याओं की लड़कियों को लेकर एक अनाथालय खोल रखा है। इस अनाथालय के काम को वे सुमन को सौंप देते हैं। परन्तु सचमुच यह तो

समस्या का कोई हल नहीं हुआ। फिर भी जिस शक्ति के साथ नारी की सामाजिक हीनता और वैवाहिक विडंबना का चित्र प्रेमचंद ने इस उपन्यास में खींचा है, वह पाठक को भीतर तक हिला देती है। एक वर्जित प्रदेश में प्रवेश कर वह इतना विशद, इतना मार्मिक चित्र उपस्थित करने में सफल हुए हैं—यही क्या कम है? अलेकजेंडर कूप्रिन के 'यामा' (Yama, the Pit) रूसी उपन्यास से 'सेवासदन' की तुलना करने से प्रेमचंद की यथार्थवादी पकड़ और उनकी तीव्र मेधा की बात सरलता से ही समझी जा सकती है। कूपिन ने वेश्या-जीवन की ऊब, उसकी कुचेष्टाओं, उसकी निर्लज्जता, उसके आर्थिक पहलू का बड़ा ही विशद—कहीं-कहीं घृणास्पद—चित्र खींचा है, परन्तु वे इस रोग का कोई भी निदान नहीं बता सके हैं। प्रेमचंद की तरह सुमन, भोली, गजाधर और कृष्णचन्द्र जैसे चरित्र 'यामा' में नहीं मिलेंगे। सुमन के प्रति लेखक के पास अपार सहानुभूति है, परन्तु शरत्चंद के नायकों की तरह वह वेश्या को सती से भी ऊँचा मान कर आगे नहीं बढ़ते। बड़ी सतर्कता से उन्होंने एक अत्यत मार्मिक चित्रपटी हमारे सामने उपस्थित की है जो हमें प्रभावित किये बिना नहीं रह सकती।

६

प्रेमाश्रम (१९२२)

प्रेमाश्रम प्रेमचंद का दूसरा प्रकाशित उपन्यास है और इसमें वे एकदम हिंदी उपन्यास की परम्परा से दूर जा पड़े हैं। यही इसकी तत्कालिक लोकप्रियता का कारण था। विषय और विवेचन के सम्बन्ध में तथा सामयिक समस्याओं के सम्बन्ध में उसकी मौलिकता ने पाठकों और आलोचकों का ध्यान उसकी ओर खींचा। बाबू रामदास गौड़ ने उसकी भूमिका लिखते समय उसकी तीन विशेषताओं का उल्लेख किया है :

१—प्रेमाश्रम में अनेक स्थलों में मानसिक विकारों की तस्वीर खींचने में प्रेमचंदजी बंकिम बाबू से भी बढ़ गए हैं।

२—जहाँ बङ्किम बाबू की शैली बँगला के शब्द-बाहुल्य से भरी है, वहाँ प्रेमचंदजी ने अपने 'अर्थ अमित अरु आखर थोरे' का मार्ग बहुत प्रशस्त कर डाला है। इनका ढङ्ग विशेषतः अपना है। इनके एक-एक शब्द इस अनुपम गद्य-काव्य में अपने उपयुक्त स्थान पर जड़े हुए रत्न हैं जो इसकी शोभा बिना बिगाड़े बदले नहीं जा सकते, बड़ी चतुर उँगलियों से गुँथी-हुई कलियाँ हैं जिनका विकास पाठक के मन में पहुँच कर होता है।

३—किसानों के जीवन का सच्चा फोटू खींचने का श्रेय प्रेमचंदजी को देना पड़ेगा।

आलोचना में लिखी ये बातें प्रशंसा नहीं, यथातथ्य हैं। अब तक हिंदी उपन्यास का विषय व्यक्ति और समाज था। अधिकांश उपन्यास-साहित्य रोमांश की भावना से गुप्त था। १९वीं शताब्दी के अनिम दशाब्द और २०वीं शताब्दी के पहले दो दशाब्दों में ऐयारी, तिलिस्मी, जादूगरी के उपन्यासों की प्रधानता रही। सामाजिक उपन्यास भी एक श्रेणी के पाठकों में चले परंतु इस क्षेत्र मे हिंदी उपन्यासकार बँगला के उपन्यासों का मुक़ाबिला नहीं कर सकते थे। बँगला उपन्यासो में शरत् का युग नहीं आया था। रवीन्द्र और बङ्किम का दौरदौरा था। दोनो के विषय धर्म और समाज थे। जिस प्रकार की धार्मिक समस्या बँगला के जन-समाज में थी (ब्रह्म-समाज और सनातन हिन्दू-धर्म का संघर्ष) उस प्रकार की समस्या हिंदी प्रदेश में नहीं थी, परन्तु कुछ सामाजिक समस्यायें एक ही थीं जैसे बालविवाह, विधवाविवाह, लड़कियों के लिये योग्य वर न मिलना, स्वतंत्र प्रेम का तिरस्कार, लड़कियों (स्त्री मात्र ही) की हीनावस्था, पुराण-पंथियो का बल और सामाजिक दंड का भय।

प्रेमचंद ने भी पहले-पहल इसी क्षेत्र पर दृष्टि डाली। सेवासदन इसी का फल था। उसमें एक साथ कई समस्याओं की ओर इशारा था—नहीं, उनकी सफल विवेचना थी। यहाँ इस नवीन उपन्यास के साथ उन्होंने उपन्यास को नवीन भूमि पर उतारा।

यह नवीन भूमि थी राजनीति। पश्चिम के उपन्यासों में, विशेष कर रूसी उपन्यासो में, यह भूमि बहुत पहले से स्वीकृत थी। थेकरे के समय से अंग्रेजी साहित्य में इसके प्रयोग हुए थे,

परंतु अधिकांश योरोपीय उपन्यास व्यक्ति और समाज, रोमांस और साहित्यिकता को लेकर चलता था। भारत में तो इस क्षेत्र में कोई प्रयोग भी नहीं हुआ था। प्रेमचंद को इस प्रयोग की उत्तेजना मिली उस नवीन असहयोग-आन्दोलन से जिसके कर्ताधर्ता गांधी जी थे। परंतु उन्होंने जिस कुशलता से इस भूमि में काम किया वह अपूर्व था। प्रेमाश्रम हिंदी का ही नहीं, भारत का पहला राजनैतिक उपन्यास है, परंतु इसमें कोई भी पहले प्रयास की कच्चाई नहीं मिलेगी। कम से कम जहाँ तक गाँव की राजनीति का सम्बन्ध है, इस उपन्यास के बाद की रचनाओं में भी प्रेमचंद इतने व्यापक क्षेत्र और इस कोटि की इतनी समस्याओं तक नहीं पहुँच सके।

प्रेमाश्रम की वस्तु का विश्लेषण करने पर उसके आधार इन समस्याओं में मिलेंगे—

(१) राजनैतिक समस्या—किसानों की दयनीय दशा, उसका प्रतिकार और समाधान

(२) हिंदू-मुसलिम इत्तहाद की समस्या और उसके नाम पर किये गये तमाशे (ईजाद हुसैन और उनकी अंजमन इत्तहाद)

(३) नागरिक और देहाती जीवन में वैषम्य

(४) अंध-विश्वास (तेज-पद्म)

(५) धर्माडम्बरों की पोल (ज्ञानशंकर-गायत्री)। परंतु इन मौलिक समस्याओं को उपन्यास का ढाँचा देना अत्यंत दुस्तर कार्य था। प्रेमचंद का कौशल यहीं पर दिखलाई पड़ता है।

केन्द्रीकरण कैसे हो—इसके लिए ज्ञानशंकर-गायित्री और लखनपुर हमारे सामने हैं। इन्हीं के माध्यम के द्वारा कथा-वस्तु सङ्गठित हुई है। इनमें समस्या के प्रतीक के रूप में लखनपुर और चरित्र के विस्फोटन के रूप में ज्ञानशङ्कर हैं। हम चाहें तो उप-

न्यास को लखनपुर का विकास या ज्ञानशङ्कर के पतनोत्थान का रूप समझ सकते हैं।

इस वस्तु की विवेचना इन्हीं सूत्रों पर करेंगे।

लखनपुर-लखनपुर ज्ञानशङ्कर और प्रेमशङ्कर की जमींदारी है। बनारस नगर से १२ मील पर उत्तर की ओर बड़ा गाँव है। यहाँ अधिकांश कुर्मी और ठाकुरों की बस्ती है, दो-चार घर अन्य जातियों के भी हैं। लखनपुर की रंगभूमि पर जो पात्र उतरते हैं वे हैं मनोहर, दुखरनभगत, सुक्खू, गिरिधर, बिलासी, बलराज, क़ादिर, कल्लू, डपटसिंह, बिन्दा महाराज, कर्तारसिंह; विशेसरशाह, बिलासी की बहू (बलराज की स्त्री)।

लखनपुर का वातावरण क्षुब्ध है। जमींदारी के चपरासी गिरिधर महाराज घी के रुपये बाँटते हैं। जमींदार के भाई के यहाँ बरसी है। सब घी देने पर राजी हो जाते हैं, परन्तु मनोहर अकड़ जाता है। गर्म तो वह हो जाता है परन्तु जब क्रोध शांत होता है तो कारिन्दे का भय सताता है। उसके पुत्र बलराज को पता चलता है। वह भी नंगी तलवार है। कहता है—कोई हमसे क्यों माँगे ? किसी का दिया खाते हैं कि किसी के घर माँगने जाते हैं ? अपना तो एक पैसा नहीं छोड़ते, तो हम क्यों धौंस सहें ? नहीं हुआ मैं, नहीं तो दिखा देता। मनोहर की छाती अभिमान से फूल जाती है परन्तु बलराज की यौवनसुलभ उद्दण्डता से उसे भय भी होता है। क़ादिर ख़ाँ कारिन्दे को मनवाना चाहते हैं, मनोहर जाने को तैयार नहीं होता है, पत्नी बिलासी जाती है, परन्तु कारिन्दा नहीं मानता। जमींदार (ज्ञानशंकर) से शिकायत करता है। क़ादिर वहाँ मनोहर को लेकर जाते हैं परन्तु वहाँ भी तिरस्कार मिलता है। मनोहर का विरोध और भी प्रचंड हो जाता है। क़ादिर ख़ाँ का अपमान उसे असह्य हो उठता है। वह भग-

वान की दुहाई देकर क़ादिर के साथ बाहर निकल आता है। कारिन्दा ग़ौसखाँ, पटवारी मौजीलाल और सुक्खू चौधरी गाँव को सताने में कोई कसर उठा नहीं रखते परंतु क़ादिर शांति का पाठ देकर परिस्थिति को सँभाले रखता है।

अगहन के महीने में डिप्टी ज्वालासिंह का लश्कर पहुँचा। बेगार होने लगी। दूध माँगा जाता है। बलराज तेज़ पड़ता है तो चपरासी हेकड़ी का मज़ा चखाने की धमकी देते हैं। बलराज स्वयं ज्वालासिंह के पास पहुँच जाता है। वे उसकी अवहेलना (उपेक्षा) करते हैं परन्तु बलराज की बातों का प्रभाव उनपर होता है और वे बेगार बंद करवाने का हुक्म देते हैं।

इधर ग़ौसखाँ चपरासियों से गाँव वालों की वारदात की फ़रियाद लेकर उपस्थित होता है, दयाशंकर (पुलिस-इंस्पेक्टर) आते हैं, तहक़ीकात होती है। बलराज हिरासत में ले लिया जाता है। प्रमाण न मिलने पर छोड़ दिया जाता है। यहाँ दारोग़ा जी गाँव वालों से बयान बदलने को कहते हैं। ग़ौसखाँ से रुपये ले लेते हैं। परंतु क़ादिर के अंतिम प्रयत्नों से गाँव वाले बयान बदलते नहीं। दयाराम असफल रह जाते हैं। परंतु ग़ौसखाँ के कहने से ज्ञानशङ्कर इज़ाफ़ा करते हैं। गाँववाले अपील करते हैं। ज्वालासिंह उन्हें जिता देते हैं।

इसी समय गाँव पर ताऊन का प्रकोप होता है और कितने ही जवान पट्ठे चले जाते हैं। ग़ौसखाँ अपील हारने के बाद प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये नये-नये ज़ुल्म निकालता है। फैज़ू और कर्तार (चपरासियों) को लेकर ज़मींदार के मुख्य तालाब को रोक देता है। जून का महीना है। पशु प्यासे मरने लगे अदालत में दावा दायर होता है परंतु भाग्यवश भगवान के भय

मे पटवारी मौजीलाल (जिनका पुत्र ताऊन मे मर चुका था) गाँव का पक्ष लेते हैं। जीत गाँव की ही होती है।

दयाशङ्कर की जगह नूरआलम दारोगा बन कर आते हैं। गौस इनसे साँठगाँठ करता है। वे सुक्खू चौधरी के घर में कोकीन बरामद करते हैं और वह १० वर्ष की सजा पा जाता है।

अगहन का महीना था। यहाँ पुलिस का लश्कर ठहरा था। तहसीलदार इंतजाम करने आये। बेगार चली खूब। गाँव वालों को घास छीलना पड़ती थी। दुखरन इंकार करता है तो दुर्गत हो जाती है। गाँव वाले विद्रोह पर तुल जाते हैं परन्तु प्रेमशङ्कर के बीच में पड़ने से सब सह लेते हैं। भगत दुखरन घर जाकर शालिग्राम की मूर्ति पर गुस्सा उतारता है। तहसीलदार के चपरासी कितना ही उधार लेकर मुकर जाते हैं। कुँवार में गौसखाँ चरावर रोक देता है। यहाँ पर गौसखाँ और फ़ैज़ू के बिलासी की झपट हो जाती है। बिलासी को चोट आ जाती है। जब मनोहर और बलराज को पता होता है तो वह मन मे एक भयकर बात ठान लेते हैं। यहाँ से मनोहर और बलराज कथा के केन्द्र बन जाते हैं। अंत में गौसखाँ की हत्या होती है। सारा गाँव बँध जाता है। मनोहर कबूल लेता है। मुकदमा चलता है—मनोहर आत्महत्या कर लेता है। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप गाँव वाले सङ्गठित हो जाते हैं। प्रेमशङ्कर के प्रयत्नो से जनता की सहानुभूति लखनपुर वालों को मिलती है। अंत मे वे मुकदमा जीत जाते हैं और उनमें नये सङ्गठित जीवन का उदय होता है।

परंतु यह समझ लेना चाहिये कि यह परिवर्तन स्वय गाँव के भीतर से नही हुआ। यह प्रेमशङ्कर के एकांत प्रयत्नो का फल है। प्रेमचंद यहाँ एकदम सुधारवादी हैं, क्रांतिकारी नहीं।

दूसरी बात यह, कि गाँव के जमींदार में भी परिवर्तन हो गया है। ज्ञानशङ्कर की जगह विरक्त, समाजवादी विचार-धारा का पोषक मायाशङ्कर आ गया। इस प्रकार गाँव की परिस्थिति में सुधार होने का बहुत कुछ श्रेय परिस्थितियों को और कुछ व्यक्तियो को है जिनका गाँव की सत्ता मे अलग स्थान नहीं है। प्रेमचंद व्यक्तियो के हृदय-परिवर्तन पर पहुँच कर रुक जाते हैं। यही उनका आदर्शवाद है। समस्या राजनैतिक है। उसका हल राजनैतिक है—गाँव का संस्था का क्रांतिकारी आमूल परिवर्तन। प्रेमचद इस उपन्यास में उसकी ओर नजर भी नहो उठाते। वे प्रेमाश्रम पर रुक जाते हैं। परंतु प्रत्येक गाँव में प्रेमाश्रम नहीं बन सकता। 'प्रेमाश्रम' का महत्व यह है।

कि वह गाँव की मूल समस्याओ को उपस्थित करता है—

कि वह गाँव के ईर्षा-द्वेष, सामाजिक और वैयक्तिक दोनों को सामने लाता है।

कि वह जमींदार और ग्रामीण, नागरिकों और गाँव वालों के स्वार्थों के सघर्ष को उपस्थित करता है।

परतु उसने समस्याओं को जिस प्रकार हल किया है, वह कोई हल नहीं है, समझौता है। इस प्रकार प्रेमचंद अपने युग से आगे नही बढ़ सके हैं। वे विद्रोह की नंगी तलवार मनोहर और बलराज को पश्चात्ताप की जलधारा में बुझा देते हैं।

ज्ञानशङ्कर—ज्ञानशङ्कर लखनपुर के जमींदार हैं—अर्थलिप्स, ऐश्वर्यकामी, स्वार्थी। उनकी समस्याएँ तीन श्रेणियों की हैं (१) गाँव से सबंधित (२) कौटुम्बिक (३) वैयक्तिक (प्रेममूलक)। इनमें पहली समस्या का संबंध लखनपुर से है। गौसखाँ उनका आदमी है। उसके द्वारा जो समस्याएँ खड़ी की गई हैं, वे मूलतः

उनकी ही समस्याएँ हैं। परन्तु इनमें ज्ञानशङ्कर विशेष रूप से भाग नहीं लेते। वे जमींदार के रूप में वीथिका में रहते भर हैं। पिछली दो समस्याएँ ही उनकी प्रधान समस्याएँ हैं।

ज्ञानशङ्कर के पिता जयशङ्कर का देहांत हो चुका है। चाचा प्रभाशङ्कर मालिक हैं, कर्ता-धर्ता हैं। पत्नी है विद्या जो आचार-विचार में इनके विपरीत। भाई प्रेमशङ्कर लापता हैं। भाभी श्रद्धा उनके वियोग में दुख पाती हुई भी शांत, साध्वी है। चाचा के तीन लड़के हैं। बड़े लड़के दयाशङ्कर पुलिस में हैं। दो तेज पद्म छोटे हैं। ज्ञानशङ्कर की दो सन्तानें हैं—माया (लड़का), मुन्नी (लड़की)। चाची हैं। इतना कुटम्ब है। हैं ये बिगड़े रईस।

कुटुम्ब की समस्या है वही जो प्रायः सम्मिलित कुटुम्ब की समस्या होती है। वर्तमान शिक्षा ने सहयोग की भावना को समाप्त कर दिया है। भाई-चारे की बात ही क्या? स्वार्थ का नाता है। ज्ञानशङ्कर को भय है कि चाचा का कुटुम्ब खाये जाता है, उनके गाँठ पल्ले कुछ नहीं पड़ता। इसी से वे प्रति दिन बँटवारे की बात सोचते हैं।

उनके मित्र ज्वालासिंह डिप्टी कलेक्टर बन कर आये हुए हैं। ज्ञानशंकर ईर्षालु प्रकृति के मनुष्य हैं। उन पर उनकी ईर्षा प्रगट हो ही जाती है, इत्तफाक से कुछ समय बाद दयाशंकर घूस-खोरी के मामले में फँस जाते हैं। ज्वालासिंह के यहाँ मुकदमा है। ज्ञानशंकर का द्वेष भड़क उठता है। चाचा विनती करते हैं तो सिद्धान्त की बात उठाते हैं। परंतु ज्वालासिंह के पास पहुँच कर जब वह कहते हैं तो ईर्षा टपकती है। दयाशंकर पर इलजाम साबित नहीं होता। वे बरी हो जाते हैं। परंतु इस बात से चिढ़ कर ज्ञानशंकर बँटवारा कर लेते हैं।

परंतु बँटवारे से शांति नहीं मिली। प्रभाशंकर पुरानी वज़अ के आदमी हैं—निभाये रखना चाहते हैं। ज्ञानशङ्कर को बात अखरती है। विद्या से इस विषय में उनका असहयोग है और वे उसे अत्यंत मार्मिक वेदना पहुँचाने से भी नही चूकते। इसी समय दूसरी कौटुम्बिक समस्या का श्रीगणेश होता है? राय महानन्द (विद्या के पिता) की एक मात्र पुत्रसन्तान की मृत्यु हो जाती है। अब मायाशङ्कर ही वारिस हैं। ज्ञानशंकर की आँखें खुल पड़ती हैं। विद्या के प्रति उनका भाव बदल जाता है। वे उसे लेकर बनारस जाते हैं। यहाँ वे रायसाहब की फ़िजूलख़र्ची देखते हैं तो कुढ़ने लगते हैं। यहाँ विद्या की बड़ी विधवा बहिन गायित्री से परिचय होता है। वे उस पर बलात्कार भी कर लेते हैं। इसके बाद आत्मग्लानि में डूबी गायित्री गोरखपुर चली जाती है जहाँ उसकी बड़ी ज़मींदारी है। ज्ञानशङ्कर उदास मुँह उसे बिदा भी करते हैं। उसके लिए उनके हृदय में टीस भी उठती है परंतु अभी वह स्वार्थ की समस्या नहीं बनी है। राय साहब और ज्ञानशङ्कर के चरित्र में एकांत विरोध है। इसके साथ ही स्वार्थों का भी विरोध आ पड़ा। इससे बनारस रहते हुए ज्ञान-शङ्कर की तीव्र वेदना का अनुभव प्रतिदिन होने लगा। उन्हें रायसाहब से घृणा हो गई—शक हुआ कि ये साहब कहीं दूसरा विवाह तो नही करने वाले हैं। परंतु तब रायसाहब ने इनकी चिंता को शांत कर दिया। रायसाहब नैनीताल चले जाते हैं परंतु ज्ञानशङ्कर को यही समस्यायें घेरे रहती हैं। वे ईर्षा से नैनीताल के जीवन का विरोध करते हैं और संत बन जाते हैं। इसी समय एक दूसरी कौटुम्बिक समस्या आ खड़ी होती है।

प्रेमशङ्कर अकस्मात् विलायत से लौट आते हैं। ज्ञानशङ्कर चिंता में पड़ जाते हैं—क्या फिर बँटवारा होगा। इससे वे संघर्ष

के लिये तैयार हो जाते हैं। जाति-वहिष्कार की आड़ लेकर समुद्र-पार के यात्री को घर ही से अलग करना चाहते हैं। श्रद्धा को भड़काते हैं। उसके स्त्री-सुलभ धार्मिक भीरु स्वभाव की आड़ में चोट करते हैं। परंतु समस्या प्रेमशङ्कर के त्याग से सुलभ हो जाती है। वे त्यागी हैं, सिद्धान्तवादी हैं, सेवा करना जानते हैं, परिश्रम की कमाई खाना चाहते हैं। वे सब कुछ इन पर छोड़ कर अलग हो जाते हैं।

परंतु दो समस्यायें अब भी बनी हैं। गायित्री के लिए उनके हृदय में अब भी टीस उठती है। रायसाहब से अब भी ईर्षा है। इधर गायित्री पर परिस्थितियों का जादू चलता है। वह इन्हें मैनेजर बनाने के लिए आग्रह करती है। विद्या के मना करने पर भी ज्ञानशङ्कर गायित्री के पास चले जाते हैं। पहले तो उनमें अधिकारलिप्सा है परन्तु धीरे-धीरे व गायित्री पर भी अधिकार जमाना चाहते हैं। इसके लिये राधाकृष्ण के प्रेम का नाट्य होता है।

सात-आठ वर्ष बीत जाते हैं। स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होता। ज्ञानशङ्कर विद्या को लेने बनारस आते हैं। गायित्री गोरख-पुर ही रह जाती है। यहाँ रायसाहब विदेशी संगीत के प्रचार में ३-४ लाख रुपये खर्च कर रहे हैं। वे क्षोभ में भरकर उनसे झगड़ पड़ते हैं। रायसाहब गायित्री सम्बंधी उनका चारित्रिक पतन उनपर प्रगट कर उनकी भर्त्सना करते हैं जिससे ज्ञानशंकर चिढ़ जाते हैं। विद्या के सामने भी वे लांछित हैं। सब ओर से लांछा पाकर वे अन्त में डूबने चलते हैं परंतु डूब नहीं पाते। वे कूटनीति से काम निकालना चाहते हैं—रायसाहब को विष दे देते हैं। रायसाहब दो-चार ग्रास खाकर ही ताड़ जाते हैं परंतु चम-

त्कार-प्रदर्शन के लिये भावावेश में अधिक खा लेते हैं जिससे उनकी दशा दयनीय हो जाती है। अब जानपर आ बनेगी, यह समझ कर गोरखपुर गायित्री के पास भाग जाते हैं।

कथा-विवेचन से स्पष्ट है कि प्रेमाश्रम में दो कथावस्तुएँ चलती हैं एक का सम्बंध लखनपुर से है, दूसरे का ज्ञानशङ्कर से और वे केवल कहीं-कहीं छू भर जाती हैं। इसलिये कि लखनपुर ज्ञानशंकर की अमलदारी में है और इसलिये भी कि ज्ञानशंकर के भाई प्रेमशंकर ही उसकी परिस्थित में सुधार के लिए जिम्मेदार हैं। दोनों कथाएँ महत्वपूर्ण हैं, अलग-अलग की जा सकती हैं। इनका महत्व बराबर का है, दोनों प्रधान हैं, कोई भी आंगिक नहीं है। परन्तु प्रसांगिक रूप में कुछ उपकथाएँ आ जाती हैं जैसे तेज-पद्म का बलिदान या ईजादहुसैन। दोनों प्रधान कथाओं के विकास का भ्रम समानान्तर नहीं है। लखनपुर की कथा एक गाँव के बनने बिगड़ने की कथा है। मनोहर की आत्महत्या तक अंश ही मुख्य रूप से हमारे सामने आता है, ज्ञानशंकर पीछे पड़े रहते हैं। मनोहर और बलराज के कारण गाँव से हमारी दृष्टि नहीं हटती। परन्तु मनोहर की आत्महत्या के बाद गाँव की कथा ही समाप्त हो जाती है और एक-आध बार उसकी झाँकी भर मिलती है। वहाँ न संगठन है, न सुख। सब जवान पट्ठे कुछ ताऊन ने कुछ सर्कार ने धर लिये हैं। गाँव श्मशान बना पड़ा है। केवल अंत में दूसरों के प्रयत्न से गाँव में नव-जीवन की दोहाई फिरने लगती है और प्रेमचन्द सतयुग की झलक दिखा कर कथा को समाप्त कर देते हैं। लखनपुर की इस उत्तर-कथा के साथ-साथ ज्ञानशङ्कर के चारित्रिक पतन की कथा बड़े ज़ोरों से चलती है और हमारी आँख उन पर से नहीं उठती। यह पतन क्रमागत है, भली प्रकार संतुलित है। ज्ञानशङ्कर

की कथा गाँव की कथा से कहीं अधिक पुष्ट कलाकृति है। ज्ञानशंकर की आत्महत्या से ही यह कथा समाप्त होती है।

मनोहर की आत्म हत्या के बाद प्रेमचन्द गाँव से हट कर कुछ विशेष नागरिकों के चरित्र की बिषमताएँ दिखाने में लग जाते हैं जिससे उन्हें सामयिक परिस्थिति पर कुछ कहने को मिलता है। ये हैं डा० प्रियनाथ (डाक्टर) डा० ईर्फान अली (बैरिस्टर), लखनपुर के मामले को लेकर ये प्रवेश करते हैं परन्तु इनकी सहृदयता का विकास हो जाता है। उनकी सद्वृत्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। वे ये पेशे छोड़ कर जनता की सेवा करने लगते हैं और जनसेवी प्रेमशंकर के साथ लग जाते हैं। इन पात्रों के निर्माण में और उस कथा-भाग के विस्तार में जिसमें ये हैं, प्रेमचन्द की आदर्शवादिता काम कर रही है।

उपन्यास के अंत में वे लखनपुर-वालों की सफलता दिखाते हैं। स्वयं गाँव-वालों का चारित्रिक विकास मनोहर की आत्म-हत्या के साथ ही रुक जाता है। शेष भाग में वे निष्क्रिय हैं। उनकी सफलता का सेहरा प्रेमचन्द के प्रयत्न और व्यक्तित्व के सिर है।

प्रेमचन्द यथार्थ से शुरू करते और आदर्श में उनकी कथा का अंत होता है। इसके लिए उन्हें कई पात्रों की हत्याएँ करनी पड़ी हैं। ज्ञानशंकर और गायित्री की हत्याएँ उनके आदर्शवाद में ही प्रेरित हैं। जब उनका राम-राज्य शुरू होता है, तो स्टेज पर विपक्षी दल का कोई भी नहीं रहता। या तो मर-खप कर लोग हट जाते हैं या उनमें हृदय-परिवर्तन हो जाता है।

लखनपुर की कथा उसकी अग्नि-परीक्षा की कथा है जिसके केन्द्र में बलराज और उसका पिता मनोहर है। इस परीक्षा का क्रम है—

१—ज़मीदार की ज्यादती—घी के लिए रुपयों की बाँट, इजाफा लगान का दावा, अन्य उपद्रव और बेदखली।

२—कारिंदे की ज्यादती—लगान की वसूलयाबी में सख्ती, कर वृद्धि, अपनी शान बनाये रखने के लिए अत्याचार, तालाब और चरावर की रोक।

३—लश्कर की ज्यादती (हाकिम परगना का पड़ाव)—दूध की बेगार, पुआले और गाड़ियों की बेगार।

४—पुलिस की ज्यादती—मुचलके, लश्कर को सामान जुटाने में तहसीलदार की ज्यादती, घास की बेगार और लीपने जैसे निकृष्ट काम के लिए गाँव-वालों को मजबूर करना।

'प्रेमाश्रम' में प्रेमचन्द एक अभिनव रूप में हमारे सामने आते हैं। अब तक तो वह प्रेम और नयी जीवन की समस्याओं तक ही सीमित रहे, परंतु प्रेमचन्द जैसे खुली दृष्टि वाले कलाकार से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वह सामयिक जीवन की हलचलों से अलग रहता। गाँव का उनका अत्यंत निकट का परिचय था। वह स्वयं बनारस के पास के 'लमही' गाँव में पैदा हुए, पले, बढ़े। इसके बाद भी शिक्षाविभाग के डिपुटी इंस्पेक्टर के रूप में गाँवों से उनका संपर्क रहा। १६२१ ई० में गांधी जी के असहयोग आन्दोलन ने जनता का ध्यान गाँवों की ओर फेरा। गांधीजी ने कहा—गाँव ही भारत के प्राण हैं, उन्हें गोरे अधिकारियों, लाल पगड़ीवालों, उनके चौकीदारों और काली चमड़ी वाले ज़मीदारों के भय से मुक्त करना है। ऐसा हुआ, तो गाँव स्वर्ग हो जायेंगे। 'प्रेमाश्रम' के रूप में प्रेमचन्द ने इसी स्वर्ग की कल्पना उपस्थित की। यह स्वर्ग कितना टिकाऊ है, कितना ज़मीदार की सदिच्छा पर यह अवलंबित है, इसकी व्याख्या वह नहीं करते। परंतु वास्तव में इस कल्पनात्मक स्वर्ग (Utopia) के लिए प्रेमाश्रम

महत्वपूर्ण नहीं है। जो परिस्थितियाँ गाँव को उजाड़ देती हैं, जो लोग गाँव को श्मशान बना देते हैं, वे कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं। प्रेमचन्द की प्रतिभा ने एक नये और व्यापक क्षेत्र की खोज कर डाली और बाद के उपन्यासों में वे बराबर इस क्षेत्र को लेकर आगे बढ़े हैं। प्रेमाश्रम (१६२१) से गोदान (१६३६) तक उन्होंने भारतीय गाँव के सारे दुख-सुख, सारे हास-परिहास, सारे व्रतोत्सव, सारे श्वास-प्रश्वास लेखनी-बद्ध कर दिये हैं। इस नये मौलिक क्षेत्र के लिए ही प्रेमचन्द चिरस्मरणीय रहेंगे।

इस नये क्षेत्र को प्रेमचन्द ने जिस शक्ति से पकड़ा है वह भी असाधारण है। गाँव का कोई भी पक्ष उनसे छूटा नहीं है और वह गाँव के साधारण किसानों और कमकरों में नायकत्व की स्थापना कर सके हैं, यही कोई कम महत्व की बात नहीं है। वास्तव में गाँव की यह कथा इतनी प्रौढ़ और संगठित है कि ज्ञानशंकर की दुर्बलताओं की कहानियाँ उसके सामने हतप्रभ हो जाती हैं।

७

रंगभूमि (१९२४)

डाक्टर इन्द्रनाथ मदन को लिखे हुए अपने एक पत्र में प्रेमचन्द ने "रंगभूमि" को अपना सर्वश्रेष्ठ उपन्यास माना है। तब दिन उन्होंने 'गोदान' नहीं समाप्त किया था, यद्यपि वे उसे लिख रहे थे। हमारी समझ में गोदान, कायाकल्प, रंगभूमि और सेवासदन ये प्रेमचन्द के अमर उपन्यास हैं ! गोदान उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। कायाकल्प और रंगभूमि में से कौन अधिक श्रेष्ठ है यह कहना कठिन है। दोनों इतने आस-पास लिखे गये हैं कि प्रेमचंद की प्रतिभा एक ही प्रकार दोनों में विकसित है। परंतु सब ले-देकर हम तो कायाकल्प को ही अधिक श्रेष्ठ समझेंगे। फिर भी रंगभूमि का पल्ला कम भारी नहीं है। जितनी बड़ी रंगभूमि इस उपन्यास की है उतनी अधिक किसी अन्य उपन्यास की नहीं। इसमें भारतवर्ष के तीनों प्रधान धर्मों का समावेश है। लेखक ने समाज के किसी अंग को नहीं छोड़ा—ग्रामीण भी है, रईस भी है, पूँजीपति भी है, देश सेवक भी हैं—सभी अपना-अपना खेल दिखा कर चले जाते हैं। विद्वान्, धनी, अनुभवी, सभी श्रेणी के खिलाड़ी आपके सामने आते हैं, और सभी सुखी जीवन का रहस्य न जानने के कारण असफल होते हैं, सभी ठोकर खाते और गिर पड़ते हैं, कर्तव्य से विचलित

हो जाते हैं। केवल एक दीन, हीन, निर्बल, अंधा, दरिद्र प्राणी अंत तक आपको अपनी लीलाओं से मुग्ध करता रहता है और तब उसकी लीला समाप्त हो जाती है; और वह रंगशाला में जाता है, तो आप मन में कह उठते हैं, यही सफल जीवन है, यही जीवनमुक्त पुरुष है, यही निपुण खिलाड़ी है, यही जानता है कि जीवन लीला का रहस्य क्या है।"

(सम्पादक का वक्तव्य)

यह तो स्पष्ट है कि इस उपन्यास पर प्रेमचन्द ने अपनी प्रौढ़तम शक्तियों का समस्त उपयोग किया है और 'सूरदास' की सृष्टि करके उन्होंने अमर कलाकारों में स्थान प्राप्त कर लिया है।

रंगभूमि १००० पृष्ठों का वृहद्काय उपन्यास है और उसमें पात्रों की इतनी प्रचुरता और कथानक की इतनी विशदता है कि साधारण पाठक स्तब्ध रह जाता है। कथाओं का सम्बन्ध काशी, पांडेपुर और जसवन्तनगर इन तीन स्थानों में प्रमुख रूप से है। इन तीनों स्थानों में भी कथा के विस्तार और महत्त्व की दृष्टि से पॉडेपुर मुख्य है। वह काशी से सटा हुआ पुरवा है और काशी के पात्रों के स्वार्थों का उससे घना सम्बन्ध है। जसवन्तपुर की कथा अवांतर कथा है जो चरित्रों के विकास दिखाने के लिये ही गढ़ी गई है।

राजनैतिक समस्याओं की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि उपन्यास का प्रमुख विषय उद्योगीकरण, उसकी कठिनाइयों और उससे उत्पन्न होने वाले कुपरिणामों का विवेचन है। परन्तु प्रासंगिक विषय के रूप में देशी रियासतों की परिस्थितियों में देशी राजाओं की लाचारियों और उनकी प्रजाओं की मुसीबतों की भी झाँकी मिलती है।

सामाजिक दृष्टि से कथा दो हिन्दू-कुटुम्बों, एक मुसलमान कुटुम्ब और एक ईसाई कुटुम्ब से सम्बन्धित है। मुसलमान-कुटुम्ब ताहिरअली का कुटुम्ब है और कथा प्रासंगिक है। परन्तु अन्य तीन कुटुम्बों का निकट का सम्बन्ध है। विनय के कुटुम्ब में भरतसिंह (पिता), जाह्नवी (माता) और इन्दु (बहन) है, जो राजा महेन्द्रसिंह से विवाहित हो चुकी है। सोफ़िया के ख़ानदान में ईश्वर सेवक (पितामह), जान सेवक (पिता) मिसेज़ सेवक (माता) और प्रभु सेवक (भाई) हैं। एक अंग्रेज़ मि० क्लार्क सोफिया के कारण इस कथा से गुंथ गये हैं—वे उसे 'कोर्ट' करना चाहते हैं और उसे पा नहीं सकते।

परन्तु यदि हम कथा को पात्रों पर बाँटना चाहें तो (ताहिर-अली को छोड़ कर) कथा के एक बड़े अंश का नायक सूरदास है, शेष का विनय और सोफिया।

हम कथा को टुकड़े-टुकड़े करके लेंगे जिससे उसकी स्पष्ट रूपरेखाएँ अंकित हो सकें।

१—विनय और सोफ़िया—विनय और सोफिया की कथा प्रेमकथा है। सोफिया अचानक ही विनय के जीवन में प्रवेश करती है और स्वयम् भी उसी की हो जाती है। सोफिया जिज्ञासु और स्वाभिमानी लड़की है। वह धर्म को व्यवहार और ज्ञान की तुला पर तौलती है। परन्तु उसकी मा मिसेज़ सेवक धर्म-कर्म के मामले में बड़ी कट्टर हैं। उनसे यह धार्मिक स्वच्छंदता देखी नही जाती। एक दिन जब सोफ़िया के गिरजा न जाने पर वे बिगड़ पड़ती हैं, तो सोफी चुपके से घर छोड़ती है। भटक रही थी कि भरतसिंह के महलो के द्वार पर पहुँचती है। भरतसिंह ने एक सेवा-समिति बनाई है, विनय उसका प्राण है, रिहर्सल हो रहा

है। कहीं आग लगती है, कहीं कोई पानी में डूबने का अभिनय करता है। सहसा विनय आग में फँस जाता है। सोफिया जान पर खेल कर उसे बचाती है। वह दो-तीन दिन मूर्च्छित रहती है।

अब वह जाह्नवी की मेहमान है। परिचय पहले ही था। इन्दु उसकी सखी थी। वह वहीं रह जाती है। प्रभु सेवक आता-जाता है। विनय का मित्र हो जाता है। परन्तु मिसेज़ सेवक उसे घर लाने की कोई उत्सुकता नहीं दिखातीं।

विनय सोफिया पर मुग्ध है—यह बात जाह्नवी से कही छिप सकती है? उन्होंने विनय को आदर्शवादी सिद्धान्तों पर खड़ा किया है—बेटा प्रताप की तरह हो, वैभव को लात मार दे, अकर्मण्य न हो, साधारण न हो! उन्हें यह बुरा लगता है। क्या वह इस प्रेम को आगे बढ़ने देगी? क्या वह विनय के जीवन की हत्या होने देगी? नहीं, वह विनय को हटा देगी।

वह विनय को सेवासमिति के साथ उदयपुर भेज देती है कि जनसेवा में लगे। विनय सोफिया को पत्र लिखता है, परन्तु सोफी जाह्नवी के आदर्शों की बलि लेना नहीं चाहती। वह पत्र उसे दे देती है। परन्तु रात को वह उसे पाकर पढ़ने का भी प्रयत्न करती है। पत्र उसे नहीं मिलता। परन्तु दूसरे दिन उसे विनय का घर छोड़ देना पड़ता है। मिसेज़ सेवक मि० क्लार्क से काम बनाना चाहती है—इसीलिए उसे घर लिवा जाती है।

क्लार्क ज़िला मजिस्ट्रेट है। पोलिटिकल एजन्ट बनाये जा रहे हैं। सोफिया को मालूम है—विनय उदयपुर राज्य का बंदी है। वह उन्हें प्रेम के भुलावे में डालती है और उन्हें उदयपुर ले जाती है। वहाँ वह जेल में मिलती है—प्रेमी-प्रेमिका का मिलन होता है। अंत में सोफिया उसको छुड़ाने के लिये अपने अंतिम

हथियारों, प्रेम और सौंदर्य के भुलावे, का प्रयोग करती है। परन्तु जब वह क्लार्क से छुटकारे के परवाने पर दस्तखत करा जेल पहुँचती है तो विनय जाने से इन्कार करते हैं।

परन्तु एक दूसरी उत्तेजना उन्हें जेलखाने से भागने पर मजबूर करती है। पिता भरतसिंह ने प्रेम-विह्वल हो नायकराम पन्डा को भेजा है, वह झूठ-मूठ खबर देता है कि जाह्नवी मृत्यु-शय्या पर पड़ी है, देखना चाहती है। विनय भाग निकलता है, परन्तु संयोगवश उसी दिन जसवन्तपुर में उपद्रव हो जाता है। वह सोफ़िया के मोह में आ, उसे बचाने के लिए, प्रजा पर चोट करता है। वीरपालसिंह और उसके साथी सोफ़िया को ले भागते हैं। अब सोफिया के लिये विनय राज से मिल जाता है और उसके दमन-चक्र में सहायक होता है। परन्तु एक दिन जब सोफिया से भेंट हो जाती है तो उसकी घृणा से उसका उद्धार हो जाता है। वह स्वयम् क्रांतिकारियों में मिल गई है। विनय राज के दमनचक्र को बदल नहीं सकता। काशी चल पड़ता है। संयोग भी ऐसा होता है कि सोफ़िया भी क्रांतिकारियों के रक्तपात से ऊब कर उसी डिब्बे में आ जाती है। दोनों काशी पहुँचते हैं। जाह्नवी का विद्रोह मिट गया है। वह उन्हें विवाह-सूत्र में बँधा देखकर धन्य होगी।

परन्तु एक दिन पांडेपुर में निरीह जनता फिर अधिकारियों का मुकाबला करती है। विनय अब पहला विनय नहीं। वह प्रेम के हिंडोले में झूलता है। अब वह प्रजा से लांछित है। परन्तु अंतिम क्षण में अपनी लांछा को सहन न कर, जनता के बीच में, तोप में मुँह कर कायर बनने का अपमान न सहन कर गोली मार कर आत्म-हत्या कर लेता है। रह जाती है अबोध सोफ़िया जिसे अब विनय की स्मृति ही सब कुछ है। क्लार्क अब

फिर आ गये हैं। उसके स्तब्धभाव को न पहचान कर मिसेज सेवक उसे क्लार्क के परिणय-सूत्र में बाँधना चाहती है, परन्तु सोफ़िया कहाँ गई ? उसका प्यारा विनय उसे बुला रहा है। उसने गंगा की गोद में आत्म-समर्पण कर दिया। इस प्रकार यह प्रेमकथा गङ्गा की लहरों में समाप्त हो गई।

पाठक असमंजस में आ जाता है कि यह कैसी विचित्र प्रेम की कथा है—विजय और सोफिया के मिलने में बाधा क्या थी ? क्या धर्म ? क्या जाति ? क्या जाह्नवी ? हाँ ये बाधाएँ थीं। जाह्नवी का ऊँचा आदर्शवाद बाधा था, परन्तु काशी में लौटकर आते ही वह समाप्त हो गया। यदि पांडेपुर की यह वारदात न हो जाती, तो दोनों परिणय-सूत्र में बँध जाते। परन्तु ऐसा नहीं हो सका ! दोनों का भाग्य ! दोनों प्रेमियों के ये उद्गार उनके आदर्श प्रधान प्रेमभाव को समझने में सहायक होंगे।

विनय—"×× तुम मेरे लिये आदर्श हो। तुम्हारे प्रेम का आनन्द मैं कल्पना के द्वारा ही ले सकता हूँ। डरता हूँ कि तुम्हारी दृष्टि में गिर न जाऊँ। अपने को कहाँ तक गुप्त रक्खूँगा ? तुम्हें पाकर फिर मेरा जीवन नीरस हो जायगा, मेरे लिये उद्योग और उपासना की कोई वस्तु न रह जायगी। ××"

सूरदास क्लार्क की गोली का शिकार होता है और अस्पताल में प्राण छोड़ देता है। जीते जी उसने अन्याय के आगे सिर नहीं झुकाया।

परन्तु पांडेपुर की कथा इतनी ही नहीं है; उसमें सभी चरित्रों के विकास की सामग्री मिलती है। भैरों सुभागी को पीटता है, वह सूरदास की झोपड़ी में भाग जाती है। गाँव का कोई आदमी उसकी पीठ पर नहीं खड़ा होता, परन्तु भैरों ईर्षा से झोपड़े में आग लगा देता है और पाँच सौ रुपये की जमा-पूँजी

उड़ा देता है। सुभागी देवी है, वह अन्याय के पैसे पति को कैसे हज़म होने दे। उसे लौटा आती है। परन्तु सूरदास के लिए ये रुपये मिट्टी हैं। इन्हीं के लिए तो भैरों ने अपनी आत्मा को बेचा है। वह भैरों को लौटा देता है।

परन्तु अब की बार भैरों सुभागी को इतना मारता है कि उसे हमेशा के लिए सूरदास की शरण लेनी पड़ती है। सारा गाँव सूरे से नाराज़ हो जाता है।

सोफ़ी—"××प्रेम एक भावनागत विषय है, भावना से ही उसका पोषण होता है, भावना ही से जीवित रहता है; और भावना से ही लुप्त हो जाता है। वह भौतिक वस्तु नहीं है। तुम मेरे हो, यह विश्वास मेरे प्रेम को सजीव और सहिष्णु रखने के लिए काफी है××"

(पृ० ४६१, ४६२)

इतनी ऊँचे प्रेम की परिणति-कथा दैहिक-मिलन में ठीक होती?

२—सूरदास की कथा (पांडेपुर की कथा)—सूरदास और पांडेपुर की कथा एक ही है। वह है एक गाँव के उद्योगीकरण और उसके फैले हुए अनाचार के विरोध की सबल कथा। इस कथा का नायक सूरदास है।

पांडेपुर काशी से मिला हुआ पुरवा है। गाँव के मुखिया हैं नायकराम जो भरतसिंह के पंडा हैं। सूरदास की एक झोंपड़ी है, गाँव के बाहर १० बीघा जमीन है, भाई मर गया है, उसका लड़का मिट्ठू है, इसे वह बड़े लाड़-चाव से पालता है। गाँव में एक मन्दिर है, पुजारी दयागिर है। बजरंगी दूध बेचता है, जमुना उसकी पत्नी है, घीसू लड़का। भैरों ताड़ी बेचता है, सुभागी

(पत्नी) को रोज़ मारने से उसे काम, या ताड़ी पी कर जी खुश करना! जगधर खोंचा लगाता है। ठाकुरदीन पान बेचता है। यह छोटा-सा पुरवा ही कथा का केन्द्र है।

सूरदास भीख माँगता है। इसी भीख से उसने ५००) जोड़ लिये हैं कि गया करे, पुरखों को तारे। एक दिन एक बग्घी के पीछे दौड़ता है और पीछे-पीछे चमड़े के गोदाम तक चला जाता है। यही उसकी ज़मीन है। मालूम होता है कि बग्घी-वाले ईसाई जानसेवक सिगरेट की फेक्टरी खोलना चाहते हैं। उस ज़मीन को चाहते हैं। सूरदास राजी नहीं होता। पहले सारा गाँव उसका साथी है। जब जानसेवक राजा महेन्द्रसिंह से मिलकर उस प्रस्ताव को पास करा लेते हैं जिसमें व्यवसाय के लिए सरकार जमीन ले सकती है, तो सूरदास काशी की गली-गली में गाता हुआ घूमता है और इस अन्याय के प्रति जनता की भावनाओं को जाग्रत करता है। ईश्वर की कृपा से तो नहीं परन्तु सोफिया और इन्दु के पारस्परिक द्वेष से उस समय पासा पलट जाता है। ज़मीन सूरदास की ही रहती है। परन्तु कुछ दिनों बाद जानसेवक और महेन्द्रसिंह, उच्चतम अधिकारियों से अपील कर पृथ्वी हड़प लेते हैं। गाँव के लोगों में इस बीच में आपसी मामलों को लेकर फूट पड़ गई है। सूरदास की जमीन से सबको फायदा था, परन्तु अब जानसेवक ने सिगरेट-मिल के लाभ का स्वप्न दिखा दिया है।

परन्तु जब फेक्टरी खड़ी होने लगी तो मिल मज़दूरों के बसाने की समस्या उपस्थित हुई। कहाँ बसायें? आस-पास जगह ही नहीं। क्यों न पुरवे को ही हरजाना देकर खाली करा लिया जाय? म्यूनिसपेलटी में प्रस्ताव पास हो जाता है। सब विद्रोह करते हुए भी लाचार हैं। सामान बिक जाता है। परन्तु सूरदास

अटल है। जान दे देगा पर उसे नहीं हटना है। गाँव-वाले और काशी की जनता उसके पक्ष में हैं। अधिकारियों को अपनी सारी शक्ति लगा देनी पड़ती है। अंत में जन-मत बिगड़ खड़ा होता है, परन्तु सूरदास हार नही मानता। क्या वह सुभागी को निकाल दे? क्या उसे मजदूरों के आमोद की वस्तु बना डाले? धीरे-धीरे गाँव का नैतिक पतन होता है। लड़के मिल में नौकर हो जाते हैं। एक दिन घीसू और मिठिया सुभागी से कुकर्म करने के लिए झोंपड़ी में घुस जाते हैं। सूरदास दोनों को पकड़ कर सजा दिला देता है। इससे गाँव वाले उससे और भी बिगड़ते हैं।

ऐसे ही कितने प्रसङ्गों ने सूरदास के चरित्र को दृढ़ एवं विकसित किया है और गाँव के पतन की गाथा गाई है।

३—जसवन्तपुर की कथा—जसवंतपुर की कथा का संबन्ध विनय और सोफिया के कर्मक्षेत्र से है और उसमें देशी राज्यों की दयनीय परिस्थितियों का चित्रण है। कितनी सरलता से सोफिया विनय और उसकी सेवासमिति राज की मेहमान बन कर जेल पहुँच जाती है, कर्मचारी कितना अत्याचार करते हैं, महाराज तक मामूली पौलिटिकल ऐजेन्ट से कितना डरते हैं, जनता के सेवक किस प्रकार जान लड़ा कर असफल विद्रोह उठाते हैं, यही सब उस कथा के विषय हैं। प्रेमचन्द ने इस कथा को परिणिति तक नही पहुचाया है। हम नहीं जानते कि वीरपालसिह और उसके आतङ्कवादियो का क्या हुआ और उनके द्वारा हत्याओं का राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा? हम नहीं जानते कि बाद में जनता और राज्य के सम्बन्धों में किस प्रकार सुधार हुआ।

४—ताहिरअली की कथा—ताहिरअली पहले जानसेवक

के चमड़े के गोदाम के दरोग़ा हैं, फिर मिल के। बेचारे बड़े भले आदमी हैं। स्त्री है कुलजुम, लड़का साबिर, लड़की नसीमा। सौतेली मांओं से तीन भाई हैं—माहिर, जाहिर, जाबिर। तीनों बच्चे। इतने बड़े कुटुम्ब को तीस रुपये में पालना है। इस पर बड़ी विमाता जैनब और छोटी रकिया भान लिये लेती हैं। अंत में एक दिन रोकड़ के रुपये निकाल लेते हैं, कई बार ऐसा करते हैं, पकड़े जाते हैं, जेल हो जाती है। अब कुलज़ुम की कड़ी परीक्षा होती है, बेचारी अनशन से पड़ी रही, उसके बालक दाने-दाने को तरसे, कौन पूछता है! माहिरअली पुलिस का दारोग़ा हो गया, परन्तु उसे चचा के इन बच्चों से चिढ़ थी। ताहिरअली जेल काट कर आये तो घर की दशा देखकर रो दिये। सारी तकलीफें, क़ुरबानियाँ सारी तपस्या बेकार हो गई। जिस लौंडे के लिए उसने ग़बन किया, वही उसके बच्चों को निकाल दे। आखिर मित्र-मण्डली में बैठे हुए दारोग़ा माहिर-अली के मुँह पर कालिख फेर कर ही दम लेते हैं! घर पहुँच कर उन्हें बड़ी लज्जा हुई कि मैं क्यों ख़ुदा के सामने खतावार बना। कुलज़ुम ने भी आड़े हाथों लिया। अन्त में जिल्दसाज़ी का काम करके वे जीवनयापन करने लगे।

५—ईसाई परिवार की कथा—ईसाई-परिवार के जीवन की झाँकी हमें कथा के प्रारम्भ में भली भाँति मिल जाती है। वहाँ स्वार्थ ही सर्वोपरि है, धर्म की आड़ में स्वार्थ-साधन भी कम नहीं है। धर्म-बुद्धि की व्यवसाय-बुद्धि के आगे कुछ नहीं चलती। वहाँ स्वतंत्र धर्मचिंतन का स्थान ही नहीं है। अधिकार-वर्ग भी जूती चाटता हुआ ईसाई समाज अधिक-से-अधिक यही चाहता है कि उसका भी औरों-सा ही मान हो, वह भी राजप्रेमी

गिना जाय, अंग्रेज से उसकी लड़की का विवाह हो। इन्हीं स्वार्थों का विरोध करने पर सोफिया को घर से निकलना पड़ता है। मिसेज सेवक और जानसेवक सामान्य ईसाई हैं। वे अपने कर्म के प्रतीक हैं।

प्रभुसेवक ईसाई होता हुआ भी ईसाई नहीं है—वह निर्द्वन्द, कल्पना-प्रिय कवि के रूप में चित्रित किया गया है, जो अंत में जनसंघ को अपना लेता है। परन्तु है वह अंत तक कवि। उसकी तो कोई कथा ही नहीं है, चरित्र है।

६—राजा महेन्द्रसिंह और इन्दु—राजा महेन्द्रसिंह और इन्दु पति-पत्नी हैं, परन्तु इनकी भी कोई विशेष कथा नहीं है, केवल चरित्र-चित्रण है जिसके दो रुख हैं—परस्पर पति-पत्नी का सम्बन्ध और महेन्द्रसिंह का सामाजिक एवं राजनैतिक सम्बन्ध। जाह्नवी की तेजस्वी लड़की इन्दु सच ही अधिकारियों की जूती चाटने वाले, भीरु-हृदय, प्रतिक्रियावादी, झूठे साम्यवादी महेन्द्रसिंह की पत्नी नहीं होनी चाहिये थी। परन्तु विवाह तो उसने किया नहीं, माता-पिता ने किया। इसी से इन्दु को बराबर भीतर महेन्द्रसिंह से लड़ने और बाहर उनके पक्ष को सबल करने का दोहरा व्यवहार करना पड़ा। उपन्यास भर में इस वैवाहिक विडंबना का सजीव चित्रण है। महेन्द्रसिंह उच्च आदर्शों से बराबर गिरते जाते हैं, उनकी जिंदगी सूरदास को नीचा दिखाने में ही समाप्त होती है; और मरते भी हैं वे उसी की प्रतिमा (मूर्ति) तोड़ते हुये उसके नीचे दब कर। इतनी ईर्षा, इतना द्वेष, केवल कीर्ति की इच्छा से!

इन कथाओं के अंत में परिस्थिति क्या होती है, यह भी जानना आवश्यक है—पाँडेपुर में मिलें चलने लगती हैं, मज-

दूरों के मकान बन जाते हैं। यह उद्योगीकरण की विजय है, अधिकारियों की जीत है। जसवंतपुर की कथा को प्रेमचंद ने बीच में ही छोड़ दिया—वे जानते थे, देशी राजाओं की समस्याएँ अंग्रेजी सरकार की समस्याएँ हैं, उनके हाथ बँधे हैं, वहाँ अराजकता के सिवा और कुछ नही हो सकता। डा० गांगुली कौंसिल के भक्त हैं, परन्तु अंत में उनकी आशावाद का भी अंत हो जाता है। "उन्हें विदित हुआ कि वर्तमान अवस्था में आशावाद आत्मवंचना के सिवा और कुछ नहीं है।" कौंसलें अरण्यरोदन के लिए हैं। उन्होने त्याग-पत्र भेज दिया और सेवा-दल के काम को बढ़ाने में लग गये। जाह्नवी और इन्दु पहले से ही देशदल के काम को शेष जीवन का ध्येय बना चुकी थीं। सब जानते थे कि यह काम भी सरकार की निगाहों में खटकेगा, परन्तु क्या किया जाय? परन्तु भरतसिंह के धार्मिक विश्वास की जड़ें हिल गई थी। वे पक्के निराशवादी हो गये। देशभक्ति, विश्वभक्ति, सेवा, परोपकार—ये सब ढकोसला लगने लगे। अब वे जिंदगी को हँस-खेल कर काटने वालों में हो गये।

रंगभूमि का सब से उज्ज्वल और शक्तिमान चरित्र सूरदास का है। आरम्भ से अंत तक यह खिलाड़ी इस प्रकार खेलता है कि हम मुग्ध हो जाते हैं, कही छल नहीं, कहीं कपट नहीं, कहीं झुकना नहीं। वह बदनामी से नहीं डरता, सुभागी को आश्रय देता है। भैरो ने उसके घर में आग लगाई है, परन्तु वह पहले भैरो का घर बनवायेगा, अपने आप तो वह नीम के नीचे सो लेगा। किसी का दु:ख हो, दरद हो, वह तैयार! लोग उसे नहीं पछें, उससे ईर्षा-द्वेष करे, करें, उसका क्या? वह तो अपना कर्तव्य करेगा। घोर निराशा में भी हाथ पर हाथ धर कर नहीं बैठेगा। वह परिस्थितियों से डरेगा नहीं, अन्याय के आगे झुकेगा

नहीं। फिर इस असीम साहसी और विरागी हृदय में स्नेह और माधुर्य की कितनी गहरी छाया है। उसने उस मिठुआ के लिये क्या-क्या नहीं किया जो उसकी गया करने के लिए भी तैयार नहीं! यही मिठुआ कहता है—"हमारी दस बीघा जमीन थी कि नहीं, उसका मावजा दो पैसा चार पैसा कुछ तुमको मिला कि नहीं, उसमें से मेरे हाथ क्या लगा? घर में भी मेरा कुछ हिस्सा होता है या नहीं? × ×" (पृ० ८७१)

इस मनुष्य के लिए इतनी बड़ा चोट क्या हो सकती है, परन्तु न मिले गया, न हो क्रियाकर्म! उसने तो वही किया जो उसे करना चाहिये। दूसरे अपना कर्तव्य न निभाये, तो वह क्यों दुखी हो? जिस जानसेवक के बोये काँटे उसने काटे, उन्हीं से वह कहता है—"मेरा तो आपने कोई अहित नहीं किया, मुझसे और आपसे कौन-सी दुश्मनी ही थी। हम और आप आमने-सामने की पालियों में खेले। आपने भरसक जोर लगाया, मैंने भी भरसक जोर लगाया। जिसको जीतना था जीता, जिसको हारना था, हारा। खिलाड़ियों में बैर नहीं होता" (पृ० ८७७)

यहाँ तक कि वह उसे मिठुआ की गोदाम में आग लगाने की धमकी की बात भी बता देता है। सूरदास के रूप में प्रेमचन्द ने देवता की सृष्टि की है। हिन्दी-साहित्य का कोई भी चरित्र इसके जोड़ का नहीं।

परंतु रंगभूमि का और कोई भी पात्र सूरदास की ऊँचाई को नहीं छू सकता—विनय भी नहीं, सोफिया भी नहीं, जाह्नवी भी नहीं! विनय बराबर पतनोन्मुख है—यदि वह अंत में एक व्यङ्ग से प्रभावित होकर आत्महत्या न करता, तो किसी प्रकार भी उसके चरित्र की कालिमा न धुलती। उसके चरित्र में प्रेम और आदर्श का संघर्ष चला। प्रेम ने उसे गढ़े में गिरा दिया। यह

पतन सोफी के साथ उसके विवाह के रूप में समाप्त होता, परन्तु वह तो रहा ही नहीं। प्रेम की सङ्घातक शक्ति और कहाँ मिलेगी? वही कल्पनाजगत में रहने वाला असफल प्रेमी है—उसकी जनसेवा की भित्ति उसकी मनोवृत्ति में मूलस्थ नहीं है, जिस प्रकार कायाकल्प में जगधर की जनसेवा है। वह परिस्थितियों के हाथ खेल जाता है, उनसे लड़ कर उससे ऊपर नहीं उठ पाता। परन्तु सोफिया की महानता में जरा भी सन्देह नहीं। वह आदर्श भारतीय नारी का प्रतीक है—जीने में प्रेमी के साथ, मरने पर प्रेमी के साथ। उसने विजय के लिये क्या नहीं किया, क्लार्क से छल किया, अपनी आत्मा को धोखा दिया, परन्तु वह जाह्नवी के आदर्शों में बाधक नही हुई। रंगभूमि में सूरदास के बाद सोफिया का चरित्र ही हृदय पर सबसे गहरी छाप छोड़ता है। और आदर्शवादी वीर रानी जाह्नवी, जिसने हँस-हँस पुत्र को आदर्श पर चढ़ा दिया, ऐसी नारी क्या हमारी सहानुभूति की पात्र है! विनय के मरने के वाद उसके कार्य-क्षेत्र में स्वयम् उतर पड़ी और उसी में पुत्र को पाया। उसने सब कुछ सेवक-दल को दे दिया। ऐसी तेजस्विता हमारी कितनी माताओं में है।

महेन्द्रसिंह और इन्दु के चारित्र्यवैषम्य का उल्लेख हम पहले कर चुके हैं। अकारण ही, सहज ईर्षावश हो, केवल कीर्ति के लिये, मनुष्य कितना नीचे उतर सकता है, यह महेन्द्रसिंह के चरित्र को देखने से पता लगता है। और नारी की तेजस्विता पति-सेवा पर ही समाप्त नहीं हो जाती, पति को कुकर्म की ओर जाते देख, उसका विरोध भी उसका धर्म है—यह इन्दु से सीखना पड़ेगा। कथा-समाप्ति पर इस दुखी लड़की के लिए भी दो बूँद आँसू निकल ही पड़ते हैं।

रंगभूमि अनेक पात्रों की चित्रशाला है। उनमें कितने ही

अपने वर्ग के प्रतीक हैं जैसे अधिकारीवर्ग के क्लार्क, उदयपुर, महाराजा, जेल का दारोगा। कितने ही चरित्र वर्ग के प्रतीक होते हुए भी थोड़ा-बहुत व्यक्तित्व भी रखते हैं जैसे अधिकारियों से डरने वाले सम्पत्ति-प्रिय कुँ० भरतसिंह। कुछ साधारण व्यक्तित्व के मनुष्य हैं जसे नायकराम, भैरों, बजरंगी। प्रेमचन्द ने इन सबका इतनी कुशलता से चित्रण किया है, कि इन चरित्रों के विषय में उनकी सतर्कता और प्रतिभा पर मुग्ध रह जाना पड़ता है।

परन्तु कुलजुम का चरित्र फिर भी हमें आकर्पित कर लेता है। पतिसेवा में, कुटुम्ब-सेवा में, सुख में, दुख में अपनी मर्यादा पर दृढ़ रहने वाली करुणामयी मातृमूर्ति, विवेकशीला पत्नी, धर्म-भीरु नारी।

'रंगभूमि' को प्रेमचंद के सभी समीक्षकों ने श्रेष्ठ उपन्यास माना है। स्वयं प्रेमचंद भी उसको अपनी सर्वश्रेष्ठ कृति मानते थे। तब तक उन्होंने 'गोदान' नहीं लिखा था। जहाँ तक चित्रपटी की विशालता और चरित्रों की बहुलता का संबंध है, यह ठीक है। लगभग १००० पृष्ठों में सैकड़ों चरित्रों के साथ कथा अवतीर्ण हुई है और उसने समाज, राजनीति और कुटुम्ब के किसी भी वर्ग को नहीं छोड़ा है। रूसी उपन्यासों को छोड़ कर इतनी विशद चित्रपटी और कहाँ मिलेगी? अन्य उपन्यासों की अपेक्षा इसमें कथा-सौष्ठव भी ऊँचे दरजे का है। कथायें भिन्न-भिन्न हैं परन्तु वे सब एक अटूट शृंखला से जुड़ी जान पड़ती हैं। परन्तु फिर भी रंगभूमि का क्षेत्र 'प्रेमाश्रम' से भिन्न है। प्रेमाश्रम का क्षेत्र है गाँव। रंगभूमि में गाँव तो है परन्तु जमींदारों के अत्याचारों और अधिकारियों की छीना-झपटी की समस्या नहीं है। वह है पूँजीवादी-मशीन-सभ्यता द्वारा गाँवों की मूल शक्ति का उन्मीलन।

पहले का प्रतीक है जॉनसेवक और दूसरे का सूरदास। सूरदास कहता है—"साहब क्रिस्तान हैं। धरमसाले में तम्बाकू के गोदाम बनायेंगे, मंदिर में उनके मजदूर सोयेंगे, कुएँ पर उनके मजदूरों का अड्डा होगा, बहू-बेटियाँ पानी भरने न जा सकेंगी।...ताड़ी-शराब का परचार बढ़ेगा, कसबियाँ भी तो आकर बस जायेंगी, परदेसी आदमी हमारी बहू-बेटियों को आकर घूरेंगे। कितना अधरम होगा? दिहात के किसान अपना काम छोड़ कर मजूरी के लालच से दौड़ेंगे, यहाँ बुरी-बुरी बातें सीखेंगे और अपने बुरे आचरन अपने गाँवों में फैलायेंगे। दिहातों की लड़कियाँ-बहुएँ मजूरी करने आयेंगी और यहाँ पैसे के लोभ में अपना धरम बिगाड़ेंगी।" इन कुछ थोड़े से शब्दों में प्रेमचंद ने मशीनी सभ्यता के प्रति अपना दृष्टिकोण प्रगट कर दिया है। गांधीजी का दृष्टिकोण भी कुछ इसी तरह का था। परन्तु सूरदास के हजार विरोध पर भी यांत्रिक सभ्यता की विजय हुई। पांडेपुर में जॉनसेवक की तम्बाकू की फेक्टरी खुल गई। जो सूरदास ने अवांछनीय समझा था, वह सब हो गया। सूरदास की झोंपड़ी भी नहीं बच सकी और गाँव-शहर के इस द्वन्द्व में उसकी जान गई। 'प्रेमाश्रम' जहाँ सामंतशाही के अंतिम रूप जागीरदारी के विरुद्ध गाँव की नई जनता की अधखुली-अधमुँदी आकांक्षाओं की लड़ाई की कहानी है, वहाँ 'रंगभूमि' में गाँव को दूसरा मोर्चा लेना पड़ा है। यह दूसरा मोर्चा पूँजीवाद के विरुद्ध है जो जनहित, कला और सभ्यता के नाम पर गाँवों की रमणीकता और पावनता नष्ट करना चाहता है। प्रेमाश्रम में जागीरदारी की जीत हुई, 'रंग-भूमि' में पूँजीवाद जीता। यह ऐतिहासिक सत्य था। प्रेमचंद भी इसकी अवहेलना नहीं कर सकते थे। 'गोदान' तक पहुँचते-पहुँचते वह समझ गये हैं कि वास्तव में आधुनिक पूँजीवाद जागीरदारी

का ही नया संस्करण है। वास्तव में ये दो मोर्चे नहीं, मोर्चा एक ही है। परन्तु 'गोदान' में प्रेमचंद ने गाँव के बाहरी शत्रुओं की ओर देखना छोड़ दिया है। वह उनसे भी बड़े शत्रुओं की ओर मुड़े हैं। इन शत्रुओं से होरी ने आयु-पर्यंत युद्ध किया।

वास्तव में रंगभूमि में स्वतंत्रता-पूर्व भारत की सारी आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक समस्यायें आ जाती हैं। इतनी विशद चित्रपटी भारतवर्ष के किसी उपन्यासकार ने ग्रहण नहीं की। रवि बाबू ने 'गोरा' में अखिल भारतीय समस्याओं को पहली बार सामने रखा था और 'घरे बाहरे' में राजनैतिक चेतना को औपन्यासिक रूप देने की चेष्टा की थी। शरतचंद्र के 'पथेरदावी' में क्रांतिकारी सशस्त्र आंदोलन का भावुक चित्र है, परन्तु गांधीजी के नेतृत्व में विभिन्न मोर्चों पर देश ने जो युद्ध किया उसकी पूरी झाँकी 'रंगभूमि' में ही मिलेगी। म्यूनिसपिलटी, गाँव और देशी राज्य के तीन मोर्चे इस उपन्यास में साथ-साथ चले हैं। विनय के व्यक्तित्व ने इन तीनों मोर्चों को एक सूत्र में जोड़ा है।

जान पड़ता है, १९२१ के लगभग इस उपन्यास को प्रेमचन्द ने लिखना शुरू किया। १९२४ के लगभग यह उपन्यास प्रकाशित हुआ। इन तीन वर्षों में प्रेमचंद असहयोग आंदोलन की गति-विधि को सतर्कता से देख रहे थे, उन्होंने स्वयं नौकरी से इस्तीफा देकर इस आंदोलन में सक्रिय भाग लेना चाहा था। गांधीजी ने एक ही इशारे से असहयोग आन्दोलन को स्थगित कर दिया, परन्तु इस आन्दोलन ने जनता की जो शक्ति उन्मुक्त की, प्रेमचन्द उसे पहचानते थे। यह स्पष्ट था कि असहयोग आन्दोलन असफल रहा, अभी जनता उसे पूरी-पूरी तरह अपना नहीं सकी थी। परन्तु प्रेमचन्द के औपन्यासिक जगत में उनकी आशावादिता के कारण असफलता की गुंजाइश नहीं थी। सच तो यह है कि

रंगभूमि असहयोग आन्दोलन का चित्र-मात्र नहीं है, वह उससे बड़ी चीज है। यह इसी बात से स्पष्ट है कि १९३०-३२ के सत्याग्रह आन्दोलन में उसने लाखों मनुष्यों को कष्ट-सहन के लिए अनुप्राणित किया और नैतिक बल दिया। सूरे और विनय के दो अत्यंत उदात्त चित्र प्रेमचन्द ने हमें दिये थे। इन चरित्रों को उन्होंने किन राष्ट्रीय उपकरणों से गढ़ा, यह कहना कठिन है। परन्तु जनता ने इनमें गांधी और नेहरू की प्रतिच्छाया देखी। अभी तक स्वयं गांधी और नेहरू हमारे राष्ट्रीय जीवन में पूरी तरह खुल नहीं पाये थे। इसलिए प्रेमचन्द की अतर्दृष्टि की प्रशंसा करनी ही पड़ती है। विनय और सोफिया को प्रेमचन्द में थेकरे के 'वेनिटी फेयर' के आधार पर गढ़ा है। 'वेनिटी फेयर' और 'रंगभूमि' में कुछ नाम-साम्य भी है। ऐसा कुछ समालोचकों का कथन है। परन्तु प्रेमचन्द के विनय और सोफी थेकरे के नायक-नायिका से कहीं उत्कृष्ट हैं—एक महान देश की स्वतंत्रता की लड़ाई वे लड़ रहे हैं। फिर सूरदास तो प्रेमचन्द की मौलिक कल्पना है।

केवल असहयोग आन्दोलन ही नहीं गांधीवादी दर्शन की सबसे बड़ी कहानी भी 'रंगभूमि' ही है। अहिंसा, अस्तेय, कष्ट-सहन, आत्मत्याग और अन्याय के प्रतिकार की भावना से पृष्ठ-पृष्ठ भरा है। सूरदास इस गांधीवादी जीवन-दर्शन का सर्वश्रेष्ठ प्रतीक है। उसकी मृत्यु भी उसकी पराजय नहीं, विजय है—वह विजय का ढोल नहीं पीटता, परन्तु अन्याय के आगे सिर भी नहीं झुकता। उसने मर कर अपने सिद्धान्तो को अमर बनाया है। विनय भी गाधीवादी है, परन्तु वह इतना दुर्बल है कि वह अपने सिद्धांतो के बोझ के नीचे दब जाता है। सूरदास हमें उठाता है, विनय क्षुब्ध करता है। एक विशेष भावुक परिस्थिति में उसके

आत्मघात ने उसकी दुर्बल, प्रतिक्रियावादी मनोवृत्ति को दबा दिया, उसे लोकप्रियता दी, परन्तु प्रेमचन्द के अन्य नायकों की तरह वह नितांत असफल है, दुर्बलचरित्र है।

८

कायाकल्प

कायाकल्प प्रेमचन्द का पाँचवाँ उपन्यास है। उनकी अन्य रचनाओं की तरह इस पर भी उनकी रुचि और प्रीति की छाप है। इस उपन्यास में प्रेमचन्द ने एक रहस्यपूर्ण अद्भुत कथा-चक्र जोड़ दिया है। गाँवों के चित्रण में प्रेमाश्रम की पकड़ यहाँ भी मिलती है, परन्तु इस अद्भुत कथाचक्र से हिन्दी-जगत एकदम चक्कर में पड़ गया था। भ्रम हुआ कि प्रेमचन्द की लेखनी अब किस ओर जा रही है।

इस रचना में कथावस्तुओं का दो विभाजन स्पष्ट ही है। एक का विषय समाज है, दूसरी का जन्मजन्मांतर में चलने वाले प्रेम रोमांच। कदाचित् प्रयास यह है कि मध्यमवर्ग के पाठकों की घटना वैचित्र्य चाहने वाली उत्सुकता को उत्तेजना देकर पुस्तक को मनोरंजक बनाया जाय। परन्तु प्रश्न यह है कि मुख्य कथा का ही रूप मनोरंजक क्यों न बनाया जाय कि अप्रासांगिक रहस्य-रोमांच की आवश्यकता ही न पड़े।

कायाकल्प की कथावस्तु प्रेमाश्रम से भी जटिल है। जिस सामाजिक कथा भाग का हमने जिक्र किया है उसमें सामान्य घटनाओं के साथ असाधारण घटनाएँ प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं जैसे आगरे में गोवध का प्रसंग; राजासाहब के तिलकोत्सव पर भीषण दंगे फिसाद का होना; जेल में दारोगा के साथ झगड़ा

होना और चक्रधर का ज़ख्मी हो जाना; एक अन्य अवसर हिन्दू-मुसलमानों के दंगे में अहल्या का खो जाना और उसके द्वारा ख्वाजा महमूद के लड़के की हत्या होना। इस प्रकार की घटनाओं को नये पात्रों के प्रवेश के लिये लाया जाता है परन्तु इससे पुराने चरित्रों में भी हमारी उत्सुकता जाग्रत रहती है और चरित्र विकसित एवम् जटिल हो जाते हैं। परन्तु जिस प्रचुरता के साथ ये आकस्मिक घटनायें कायाकल्प में उपस्थित की गई हैं, उसके लिए कदाचित् स्थान नहीं था।

प्रेमाश्रम में दोनों कथावस्तुयें थोड़ी बहुत मिली भी हैं परन्तु यहाँ दोनों लगभग अलग-अलग चलती हैं। अगर अलौकिक भाग न होता तो भी उपन्यास पूर्ण था। अंत में महेन्द्रसिंह के अवतार को चक्र का पुत्र बनाकर दोनों कथाओं को मिलाने की चेष्ठा की गई है। परन्तु महेन्द्र चक्रधर का ही पुत्र क्यों, किसी का भी पुत्र हो सकता था। इससे दोनों में से किसी कथा में भी कोई अंतर नहीं आता।

मज़ा यह है कि उपन्यास का नामकरण अलौकिक रहस्य-रोमांच प्रेम की कथा पर ही हुआ जिससे यह स्पष्ट है कि लेखक की दृष्टि इसी भाग पर अधिक है। आधी पुस्तक का कायाकल्प की कथा से कोई सम्बन्ध न होने के कारण नामकरण स्पष्टतः उपयुक्त नहीं हुआ है। यह बात इससे और भी समर्थन पा जाती है कि कायाकल्प की कहानी समाप्त हो जाने पर भी उपन्यास चलता रहता है। 'कायाकल्प' में दो नदियाँ अपने-अपने उद्गमों से निकल कर बहुत दूर तक बराबर बराबर समानान्तर चली जाती हैं और अंत में सहसा एक दूसरे से मिल जाती हैं।

पहली कथा को हम चक्रधर की कथा कहेंगे और दूसरी कथा को कायाकल्प की कथा। यहाँ-वहाँ से पढ़ने से ही पता लग

जायगा कि पहली का आधार यथार्थवाद है, दूसरी का आदर्शवाद (या रहस्यवाद!)। गॉव की प्रतिदिन की कथा को नारी की उद्दाम वासना की अनेक जन्मो में चलने वाली रहस्यपूर्ण कथा से प्रेमचन्द ने क्यो जोड़ा, यह भी मनोवैज्ञानिक जिज्ञासा और खोज का विषय है।

कायाकल्प के सामाजिक भाग के नायक-नायिका चक्रधर और मनोरमा हैं। चक्रधर-मनोरमा की कथा ही कायाकल्प में प्रधान भी है क्योंकि इन्हीं दोनो की अवस्था-परिणित से पुस्तक का उपसहार होता है। चक्रधर और मनोरमा का प्रेम ग्रन्थ के सामञ्जक अश का आधार है। वे दोनों व्यक्ति एक दूसरे पर आसक्त थे,—मनोरमा तो बहुत अधिक, परन्तु कुटिल परिस्थितियों के षड्यन्त्र ने उन्हें इतना भी अवकाश न दिया कि वे कभी एक दूसरे से अपने हृदयगत प्रेम का एक शब्द भी कहते। इन परिस्थितियो में चक्रधर की नीति-भीरुता और सङ्कोचशीलता और मिल गई। वे मनोरमा से सदा भागते रहे। मनोरमा उनकी अपेक्षा अधिक निर्भीक थी। उसने अनेक स्थानो पर चक्रधर को अपने प्रेम का आभास दिया, परतु भीरु और आदर्शवादी चक्रधर अत तक उससे मुँह मोड़ता रहा, भागता रहा।

कथा का सम्बन्ध तीन परिवारो से है—चक्रधर का परिवार, मनोरमा का परिवार और ठाकुर विशालसिह का परिवार। 'कायाकल्प' की नायिका देवप्रिया विशालसिह के भाई महेन्द्रसिह को व्याही गई हैं और इस प्रकार वह ठाकुर विशालसिंह के परिवार के अतर्गत ही आती है। मनोरमा के परिवार में है उसके पिता हरिसेवक, भाई गुरुसेवक, पिता की रखेली लौंगी। मनोरमा की माता का देहांत हो चुका है। चक्रधर के कुटुम्ब में चक्रधर हैं, उनके पिता मुंशी वज्रधर और माता निर्मला। ठाकुर विशालसिंह

की तीन पत्नियाँ हैं, बड़ी वसुमती, मझली देवप्रिया की बहन राम-प्रिया और छोटी रोहिणी। संतान कोई नहीं है। इन तीनों परि-वारों के अलावा समाज-सुधारक यशोदानंदन का परिवार अहल्या के नाते मुख्य कथा भाग से मिल गया है। अहल्या चक्रधर को ब्याही जाती है। अवांतर पात्रों में ख्वाजा महमूद, शंखधर और कितने ही छोटे-मोटे भाग हैं।

ठाकुर हरिसेवक, चक्रधर को मनोरमा के पढ़ाने के लिये नौकर रखते हैं। चक्रधर एम० ए० हैं, गाँव-सुधार-आन्दोलन के सेवाव्रती हैं, २०) वेतन पर यह काम स्वीकार कर लेते हैं। मनो-रमा बालिका है। चक्रधर आदर्शवादी समाजसेवी तरुण। वे बड़ी सतर्कता से मनोरमा को अपने आदर्शों की ओर मोड़ते हैं, मनो-रमा प्रकृत्य: उनके निकट है। स्वभाव से उतनी स्पष्ट, निर्भीक और साहसी। पहले मास्टर उससे हार चुके हैं परन्तु चक्रधर ... ी बातें मानकर उसको प्रोत्साहन देते हैं और वह इनकी ... शिष्या बनती है। धीरे-धीरे मनोरमा उनकी ओर आकर्षित होती है और प्यार होते-होते प्रगाढ़ गोपन प्रेम में बँध जाती है। परन्तु उधर यशोदानंदन अहल्या के लिये वर ढूँढते आते हैं और चक्रधर को मनोरमा से छुट्टी लेकर उनके साथ आगरा जाना पड़ता है। यहाँ हिंदू-मुस्लिम दंगा होना चाहता है। जान पर खेलकर चक्रधर परिस्थिति को विषम होने से बचाते हैं। चक्रधर को समाजसुधार की धुन है। जब उन्हें मालूम होता है कि यशोदानंदन अहल्या के पिता नहीं हैं—उन्हें वह प्रयाग के मेले में ३ वर्ष की बच्ची मिली थी—तो वह सुधारावेश में उसे पत्नी बनाने को राजी हो जाते हैं। घटनाचक्र के फेर में पड़कर चक्रधर जेल जाते हैं और वहाँ क़ैदियों और दारोगा में संघर्ष होने पर बीच में कूद कर चोट खा जाते हैं। यशोदानंदन किसी तरह

अहल्या और चक्रधर की जेल में भेंट का प्रबन्ध कर देते हैं—परन्तु स्वयं समाज-सेवा में फँस कर आ नहीं पाते। जेल से छूटने के बाद वे आगरे चले। होली के दिन थे। पहुँच कर मालूम हो गया कि आगरे में हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया, यशोदानन्दन शहीद हुए, अहल्या ग़ायब है। अहल्या ख्वाजा महमूद के घर बंद थी। उनके लड़के उड़ा लाए थे। परन्तु तेजस्वी अहल्या ने छुरे से उसका खात्मा कर दिया था। ख्वाजा महमूद जब अहल्या को खोजकर लौटे तो घर में यह गुल खिला पाया। उन्होंने सती के तेज की प्रशंसा की और पुत्र शोक को वज्र की छाती पर सहा। चक्रधर अहल्या विवाहसूत्र में बँध गये और जब चक्रधर बहू को लेकर घर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि उनके पिता का इस बे-मा-बाप की कन्या के प्रति विरोध का भाव पुत्र-प्रेम मे बह गया है।

परन्तु इस बीच में दूसरी कथाएँ भी आगे बढ़ जाती हैं। जगदीशपुर की रानी 'देवप्रिया' राज छोड़ कर तीर्थयात्रा को चली जाती है और ठाकुर विशालसिंह इस राज्य के मालिक बनकर राजा विशालसिंह हो जाते हैं। मनोरमा के पिता ठाकुर गुरुसेवक सिंह देवप्रिया के दीवान थे, वे अब भी दीवान रहते हैं। परंतु तीन पत्नियो के प्रतिदिन के कलह से थके राजा विशालसिंह मनोरमा पर आकृष्ट हो जाते हैं और उसे रानी बनाना चाहते हैं। मनोरमा भीतर-भीतर चक्रधर से प्रेम करती है परंतु अपने भाव को भली-भाँति से समझना चाहती है कि किसी प्रकार रुपये से उनकी सहायता करती, उनके समाज-सेवाव्रत को प्रोत्साहन देती। वह सरल बालिका ऐश्वर्य की-ओर आकृष्ट होती है और राजा विशालसिंह को अपनी देह समर्पित करती है—परंतु क्य। धीरे-धीरे उसका मन भी राजा विशालसिंह का नहीं हो गया

था ? और क्या चक्रधर के प्रति उसका प्रेम धीरे-धीरे भक्ति की सीमा पर नहीं मँडराने लगा था ?

उपन्यास के एक बड़े भाग में राजा विशालसिंह के प्रति मनोरमा का भाव और चक्रधर के प्रति प्रेमभाव (या श्रद्धा भाव ?) का संघर्ष चलता है। चक्रधर राज्य के मजदूरों का संगठन करते हैं। तिलकोत्सव पर बेगारी की समस्या लेकर राजा साहब और प्रजा में द्वन्द हो जाता है और चक्रधर पकड़े जाते हैं। परन्तु मनोरमा अपने सौन्दर्य और प्रतिभा के बल पर उन्हें अंत में मुक्त ही करा लेती है। अब चक्रधर अहल्या को ले आते हैं और प्रयाग में अड्डा जमाते हैं। उधर कर्तव्य और प्रेम के द्वन्द में मनोरमा खाट को लग जाती है और उसकी मरणोन्मुख अवस्था का तार पाकर अहल्या और नवजात शिशु (शंखधर) को लेकर चक्रधर जगदीशपुर पहुँच जाते हैं।

परंतु निर्वाणोन्मुख मनोरमा चक्रधर और उसके स्नेह के फल शंखधर को पाकर फिर जी उठती है। साथ ही एक अत्यन्त आकस्मिक रहस्य का उद्घाटन होता है। पता लगता है कि अहल्या ही राजा विशालसिंह की खोई लड़की सुखदा से मिलती है। राजा विशालसिंह अब भी निःसंतान हैं, अतः अब शंखधर राज का वारिस है। इस रहस्योद्घाटन से सारे पात्रों का 'कायाकल्प' हो जाता है। कहाँ जनसेवक निर्धन चक्रधर, कहाँ राज का स्वामी। मनोरमा और राजा साहब नई गौरव-गरिमा और स्नेह से पहले मनोरमा और राजा साहब नहीं जान पड़ते। परंतु चक्रधर की जनसेवी आत्मा सोने के कठहरे में कितने दिन बंद रहती। कई दिन के संघर्प के बाद एक दिन वह सब को छोड़ कर निकल भागता है।

शंखधर बड़ा होता है, धीरे-धीरे चक्रधर के चरित्र की छाया

उस पर भी पड़ती है। वही चंचल आत्मा, वही विलास और वैभव से उदासीनता। धीरे-धीरे उसका पितृ-प्रेम उस पर जादू करने लगता है। तेरहवे वर्ष में वह पिता को खोजने निकल जाता है। पाँच वर्ष तक साधु बालक के रूप में घूमते-घूमते उसे भगवानदास साधु के रूप में चक्रधर के दर्शन होते हैं।

परंतु चक्रधर अब भी विरक्त है, अब भी पुत्र को ग्रहण करने मे भीरु है, अब भी उसे वही जनसेवा चाहिये। अहल्या की झूठी चिट्ठी पाकर शंखधर घर चला जाता है और रास्ते में 'देवप्रिया' के अवतार कमला को पत्नी-रूप में ग्रहण कर लेता है। जब वह जगदीशपुर पहुँचता है तो फिर कथानक में प्राण पड़ जाते हैं। परन्तु परिणाम के प्रथम आलिङ्गन में ही उसकी मृत्यु हो जाती है और उसके साथ ही राजा विशालसिंह का भी अंत हो जाता है। जिस सुख के लिये उन्होंने सब कुछ किया, ईश्वर से भी लड़े, वही फिर छीन लिया गया। वह जीते कैसे? अकस्मात् दो तीन दिन बीतते-बीतते चक्रधर भी उपस्थित हो जाता है और अहल्या उसके चरणों मे प्राण दे देती है। चक्रधर फिर चल देते हैं। कोई बंधन उन्हें बाँध नही सकता।

परन्तु, प्रश्न होता है, इस कथाचित्र में मनोरमा कहाँ है? मनोरमा और चक्रधर! सच तो यह है कि चक्रधर के सारे जीवन के पीछे मनोरमा है। उसने उनके समाज-सेवाव्रत में सहायक होने के लिये ही बूढ़े राजा विशालसिंह को अपना यौवन समर्पित किया, चक्रधर न मिला तो उसने उसके पुत्र शखधर को ही उस स्नेह के सूत्र के रूप में ग्रहण करना चाहा, वह भी चला गया। मनोरमा और चक्रधर के बीच में अहल्या आई, चक्रधर आया, राजपाट आया, सब चले गये। रह गए मनोरमा-चक्रधर! "रानी मनोरमा नये भवन में रहती है। उसने कितनी ही चिड़ियाँ

पाल रक्खी हैं। उन्हीं की देखरेख में अब वह अपने दिन काटती है। पक्षियों के कलरव में वह अपनी मनोव्यथा विलीन कर देना चाहती है।" चक्रधर को भी "पक्षियों से बहुत प्रेम होगया है। विचित्र पक्षियों की उन्हें नित्य खोज रहती है।" एक दिन सांझ को मनोरमा बाग में टहल रही थी कि उसने एक पहाड़ी मैना का पिंजरा रखा देखा। मनोरमा समीप गई तो मैना बोली—"मोरा! हमें भूल गई? तुम्हारा पुराना सेवक हूँ।" "मनोरमा के आश्चर्य का वारापार न रहा।" पूछने पर मालूम हुआ एक लम्बा आदमी, पके बाल, इसे रख गया है। शायद फिर आये। "रानी पिंजरा लिये हुये चली आई। रात-भर वही मैना उसके ध्यान में बसी रही। उसकी बातें कानों में गूँजती रहीं। कौन कह सकता है यह संकेत पाकर उसका मन कहाँ-कहाँ विचर रहा था। सारी रात वह मधुर स्मृतियों का सुखद स्वप्न देखने में मग्न थी। प्रातःकाल उसके मन में आया, चल कर देखूँ, वह आदमी आया है या नहीं। वह भवन से निकली, पर फिर लौट आई। थोड़ी ही देर में फिर वही इच्छा हुई। वह आदमी कौन है, क्या यह बात उससे छिपी हुई थी?" यह दुखी चक्रधर था। दूसरे दिन वह फिर दो पिंजरे रख कर चला गया और मनोरमा ऊपर के कमरे से उसे आते-जाते देखती रही, देखती रही, हाय! "उसने सोचा, माली अभी बुलाने आता होगा। पर माली न आया और वह आदमी वहीं पिंजरा रख कर चला गया। मनोरमा अब वहाँ न रह सकी। हाय! वह चले जा रहे हैं! तब वहीं ज़मीन पर लेट कर वह फफक-फफक कर रोने लगी।

सहसा माली ने आकर कहा—सरकार, वह आदमी दो पिंजरे रख गया है और कह गया है फिर कभी और चिड़ियाँ लेकर आऊँगा।

मनोरमा ने कठोर स्वर में पूछा—तूने मुझसे उस वक्त नहीं कहा ?

माली पिंजरे को उसके सामने जमीन पर रखता हुआ बोला—सरकार, मैं उसी वक्त आ रहा था पर उसी आदमी ने मना किया। कहने लगा अभी सरकार को क्यों बुलाओगे, मैं फिर कभी और चिड़ियाँ लाकर उनसे आप ही मिलूँगा।

रानी कुछ न बोली। पिंजरे में बन्द दोनो चिड़ियों को सजल नेत्रों से देखने लगी।" यह है मनोरमा और चक्रधर के व्यर्थ, निष्फल, असफल, दुखांत जीवन का अंतिम दृश्य। कितना कारुणिक कितना भयावह ! इस दुख भरे पीले प्रकाश में 'काया-कल्प' की सारी कथा चीत्कार करती हुई चमक उठती है !

'कायाकल्प' (अलौकिक कथा) के पात्र हैं देवप्रिया, महेन्द्रसिंह, हर्षपुर का राजकुमार, कमला, शंखधर ! परन्तु वास्तव में पात्र दो ही हैं—देवप्रिया और महेन्द्रसिंह। कमला 'देवप्रिया' ही है। इसी प्रकार हर्षपुर का राजकुमार और शङ्ख-धर महेन्द्रसिंह के ही अवतार हैं (यह कहना अधिक सच होगा कि महेन्द्रसिंह ही हैं)। यह कथा जन्मजन्मांतर तक चलने वाले प्रेम की कहानी है।

देवप्रिया का विवाह राजा विशालसिंह के भाई महेन्द्रसिंह से हुआ था परन्तु मिलन की पहली रात्रि में ही प्रेमाभिलाषाओं को लिए हुये महेन्द्रसिंह चले गये। उनकी मृत्यु हो गई। इधर देवप्रिया विनोद और विलास में अपना जीवन बिताने लगी। उसके बुढ़ापे में भी अलप तृष्णा थी और अपूर्ण विलासाराधना। "सुधाबिन्दु" नाम की औषधि की बूँदे पी-पी कर वह कुछ समय के लिये अपना पहला सौन्दर्य और यौवन प्राप्त करती थी और उसके बल पर नवयुवक राजकुमारों

को ठगती थी। एक दिन हर्षपुर के राजकुमार फँसे। परंतु जब राजकुमार (इन्द्र विक्रमसिंह) आये तो उसने शिथिलता का अभिनय किया, उसका चेहरा पीला पड़ गया। 'सुधाविन्दु' का प्रभाव समाप्त हो चला था। परन्तु राजकुमार ने उसका तिरस्कार नहीं किया। देवप्रिया ने पहचाना—अरे, यही तो हैं उसके पति प्राणेश महेन्द्रसिंह।' इतने वर्ष बाद उसी वय में! राजकुमार ने अपने मृत्योपरांत की कथा सुनाई जो आश्चर्य-चमत्कार से भरी थी—कैसे हर्षपुर में उनका जन्म हुआ, कैसे वे वैज्ञानिक परीक्षाओं में सफल हुए, कैसे एक तिब्बती भिक्षु के आदेश से वे उस तपोभूमि में पहुँचे और वहाँ अगम पर्वत-शिखर पर उन्हें एक ऐसे महात्मा (डार्विन ही थे!) के दर्शन हुए जिन्होंने आधुनिक विज्ञान का योग से संबंध जोड़ लिया था। उन्होंने विज्ञान की सहायता से राजकुमार को पूर्वजन्म के वृत्तांत से परिचित कराया। लौटकर राजकुमार अपनी पूर्व जन्म की प्रेम-पिपासा शांत करने जगदीशपुर देवप्रिया के पास पहुँचे। देवप्रिया बूढ़ी थी, राजकुमार युवक! राजकुमार ने कठिन तपस्या के बाद योग और विज्ञान के उच्चतम प्रयोगों से उसे युवती बना दिया, परंतु जिस क्षण वह वायुयान में चढ़े हुए उसका आलिंगन करना चाहते थे उसी क्षण उनकी मृत्यु हो गई। देवप्रिया 'कमला' नाम से हर्षपुर में तपस्या करती हुई उनके पुनर्मिलन की प्रतीक्षा करने लगी।

अब वे चक्रधर के पुत्र शंखधर के रूप में आये। शंखधर घर जा रहा था कि हर्षपुर का स्टेशन आते ही उसकी पूर्व जन्म की स्मृतियाँ जाग उठीं। वह हतज्ञान, अन्य-शक्ति परिचालित, पूर्वस्मृतियों के बल पर राजमहल में पहुँचा। वहाँ उसे मिली उसकी चिरसंगिनी देवप्रिया (कमला)। शंखधर उसे जगदीशपुर

लिवा लाया—हाँ, उसने पहले उसे विज्ञान के प्रयोगों से युवती बना लिया था। यहाँ भी जब वह प्रथम बार उसके अधर पर प्रणयचिह्न अंकित करने चला कि यमदूत आ पहुँचा। कमला (देवप्रिया) फिर तपस्विनी बनकर प्रतीक्षा करने लगी कि किसी दूसरे रूप में उसका सहचर उसे फिर प्राप्त हो।

विचित्र कथा है। प्रेमचन्द ने इस रहस्य-कथा को शेष कथा से मिलाकर एक इन्द्रजाल की सृष्टि कर डाली है। इसकी रहस्यमयता के कारण बाकी कथा पर भी रहस्य का आवरण पड़ गया है। शंखधर की अचानक मृत्यु इसी शाप के कारण हुई जिसका संबन्ध इस रहस्य-कथा से था, परंतु उसकी मृत्यु ने मुख्य कथा के दो प्रधान पात्रों (अहल्या और विशालसिंह) की जान ले ली और मनोरमा और चक्रधर को भीषण खंडहर बना कर जीता छोड़ दिया। कौन कह सकता है कि मनोरमा-चक्रधर और विशालसिंह की कथा का अंत किस प्रकार होता यदि यह रहस्य-कथा मुख्य कथा से शंखधर के व्यक्तित्व में जुड़ न गई होती।

प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की कथावस्तु को हम समझ सकते हैं, परंतु 'कायाकल्प' की कथाएँ हमें चक्कर में डाल देती हैं। कौन कथा अधिकारिक हैं, कौन प्रासंगिक! प्रेमचन्द क्या कहना चाहते हैं? मूल बात क्या है? पाठक समझ नहीं पाता। यदि हम विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि इस उपन्यास में कुछ सफल और कुछ असफल प्रेम-कथाओं का विचित्र गुंफन है—

१ ठाकुर हरिसेवक और लौंगी की प्रेमकथा,

२. रोहिणी और विशालसिंह,

३. मनोरमा और विशालसिंह,

४. मनोरमा और चक्रधर,

५. महेन्द्रसिंह और देवप्रिया,

६. अहल्या और चक्रधर।

इन प्रेमकथाओं के भीतर से प्रेमचन्द विवाह, प्रेम और विलास के संबंध को ढूँढ़ते हुए और इनके गूढ़ रहस्यों में प्रवेश करते हुए किसी तथ्य की ओर बढ़ रहे हैं। यह तथ्य ही कायाकल्प की 'कथा-वस्तुओं' का मूल बीज होना चाहिये। शंखधर दीवानखाने में बैठे हुए सोचते हैं—मेरे बारबार जन्म लेने का हेतु क्या है? क्या मेरे जीवन का उद्देश्य जवान होकर मर जाना ही है? क्या मेरे जीवन की अभिलाषाएँ कभी पूरी न होंगी? संसार के और सब प्राणियों के लिए यदि भोगविलास वर्जित नहीं है, तो मेरे ही लिए क्यों हो? क्या परीक्षा की आग में जलते रहना मेरे जीवन का ध्येय है। और उनके अन्तिम शब्द ये हैं—प्रिये, फिर मिलेंगे! यह लीला उस दिन समाप्त होगी जब प्रेम में वासना न रहेगी! तो स्पष्ट है कि प्रेमचन्द यह सिद्धांत हमारे सामने उपस्थित करना चाहते हैं कि वासना प्रेम को कलुषित कर देती है, दैहिक संसर्ग प्रेम के महल को पंक में ढहा देते हैं। जीवन का सत्य है तपस्या, विलास नहीं। सुख-लालसा की तृप्ति इस जन्म में तो क्या, जन्मजन्मांतरों से असम्भव है, इसलिए इसका त्याग ही मानव का ध्येय होना चाहिए। अहल्या की दुखांत गाथा ही मूल में क्या है—उसकी सुख की लालसा, वैभवप्रेम, मोह-बंधन! इनका अन्त क्या है—तृष्णा और दुःख। "अहल्या ने एक बार तृषित, दीन, तिरस्कार-मय नेत्रों से पति की ओर देखा। आँखें सदैव के लिए बन्द हो गईं।" (पृष्ठ ६१८) मनोरमा और चक्रधर की प्रेमकथा का अन्त भी कारुणिक है। (देखिये—'उपसंहार') मनोरमा रानी बनना चाहती थी! वैभव ने प्रेम को कुचल दिया। एक बार

फिर मनुष्य का प्रेम विलास और सुख की लालसा से पराजित हुआ। मनोरमा और विशालसिंह का प्रेम भी क्या मृगतृष्णा की भाँति नहीं है—क्षणिक तृप्ति, भ्रामक तृप्ति! हाँ, चक्रधर के प्रेम में असफल मनोरमा विशालसिंह के प्रति पति-भाव रखकर कञ्चन की भाँति तप कर निखर गई है। परन्तु क्या विशालसिंह से उसका विवाह दो आत्माओं का विवाह था?—क्या उसका चक्रधर के प्रति असफल प्रेम उससे अधिक श्लाध्य नहीं है? रोहिणी और विशालसिंह की प्रेम-कथा विवाह की विडंबना और विवाह की असफलता पर नारी की जाग्रत, सर्वभक्षी प्रतिहिंसा ही तो प्रगट करती है। पुरुष की उपेक्षा से घुल कर सोलह वर्ष की इस तेजस्वी नारी ने आत्महत्या कर ली!

इन सब वैवाहिक विडंबनाओ और असफल प्रेमों के ऊपर ठाकुर हरिसेवक और लौंगी के प्रेम की स्निग्ध छाया पड़ती है। लौंगी क्या विवाहित पत्नी है? परन्तु वह किस विवाहित पत्नी से कम है? हरिसेवक और लौंगी का प्रेम प्रकृति है, दिव्य है! इस प्रेम के मूल मे है नारी की असीमित सेवा, असीमित करुणा, असीमित आत्मसमर्पण। पुरुष का सीमाविहीन विश्वास। यशोदानन्दन की विधवा बुढ़िया वागेश्वरी कहती है—'जब तक स्वामी जीवित रहा उसकी सेवा करने मे सुख मानती थी। तीर्थ, व्रत, पुण्य, धर्म सब कुछ उसकी सेवा में ही था। अब वह नहीं तो उसके मर्यादा की सेवा कर रही हूँ।" (पृष्ठ ५३८) तो, प्रश्न तो बाकी रहता है, प्रेमचन्द क्या कहना चाहते हैं? जन्म जन्मांतर में प्रेमप्रसङ्ग के चित्रित करने मे क्या तथ्य है? जान पड़ता है, प्रेमचन्द स्त्री पुरुष के संबंध को दो स्तरों पर रख कर देख रहे हैं। आध्यात्मिक स्तर पर रखकर वे देखते हैं कि प्रेम अलौकिक है, दिव्य है, मनुष्य को उसका आस्वाद

अप्राप्य है। वासना की झाँईं पड़ते ही प्रेम की मृत्यु हो जाती है। यह प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा आदर्श है, दिव्य आदर्श है। हमारे सब के लिए तो सामाजिक और व्यवहारिक स्तर ही ठीक है जहाँ स्त्री-पुरुष के लिए विवाह के सूत्र में बँध कर जीवनपर्यंत और एक की मृत्यु के बाद दूसरे को इस "मर्यादा" की रक्षा करनी है। जन्मजन्मांतरों की बात न हम जान सकते हैं, न जानना भला ही है। परन्तु विवाह तन का नहीं, मन का है। लौंगी आदर्श पत्नी है, वह विवाहिता नहीं, तो क्या? जहाँ स्त्री का परुष के प्रति सीमा-विहीन सेवाभाव है, आत्मसमर्पण है और पुरुष स्त्री को अक्षय विश्वास-कोष भेंट करता है, वहीं 'विवाह' है, 'आत्मिक मिलन है', सच्चा पति-पत्नी भाव है। इसीलिए प्रेमचन्द 'विवाह' को महत्व देते हुए भी परिणय सूत्र को ही सब कुछ नहीं मान लेते। परन्तु वे एक पत्नीव्रत के कट्टर समर्थक हैं। विवाह होने पर भी कथा दुखांत हो सकती है यदि पत्नी भोगलिप्सा चाहती है, सुख की लालसा से पति के कर्मपथ में आगे नहीं बढ़ती। अहल्या और चक्रधर की कहानी की यही शिक्षा है।

इतना कहने पर भी 'कायाकल्प' की महत्ता आंकने में नहीं आ सकी। 'गोदान' के बाद यह प्रेमचन्द का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास रहेगा। संसार-साहित्य के प्रेम रोमांचकों में इसका स्थान सुरक्षित है। इस एक उपन्यास में सामयिक आन्दोलनों और अमर समस्याओं को एक ग्रन्थि में गूँथा गया है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी 'कायाकल्प' महत्वपूर्ण है। प्रमुख पात्र हैं चक्रधर, मनोरमा, अहल्या, राजा विशालसिंह, लौंगी ख्वाजा महमूद, यशोदानन्दन, ठाकुर हरिसेवक, वज्रधर, रोहिणी। इनमें ख्वाजा महमूद और यशोदानंदन के चरित्र

तेजस्वी, आदर्शवादी समाज-सुधारकों के चरित्र हैं जो आदर्श पर बलि चढ़ाकर भी प्रसन्न होते हैं। ये 'टाइप' हैं। शेष चरित्रों में व्यक्तित्व का सुन्दर विकास हुआ है। वास्तव में 'कायाकल्प' में चरित्रों का चित्रण दो धरातल पर है—शङ्खधर पिता के प्रति पुत्र के तीव्र प्रेम का प्रतीक है, राजा विशालसिंह की तीन पत्नियों का परस्पर का झगड़ा सौतिया-डाह का चित्र मात्र है। इनका चरित्र श्रेणी या वर्ग से ऊपर नहीं उठता। इसी प्रकार जेल जीवन के दृश्यों में जो पात्र आते हैं, वे भी प्रतीक मात्र हैं। परन्तु इन साधारण पात्रों के बीच में टीले की तरह उठे हुये हैं ऊपर के असाधारण पात्र!

चक्रधर के चरित्र के दो पहलू हमारे सामने आते हैं। एक उसका सिद्धान्तवादी जनसेवी रूप, दूसरा उसका प्रेमी चरित्र। शुरू से ही उसके विचार स्वाधीन हैं और वह उन्हें बड़ी निर्भीकता से प्रकट करता है। बाद में उसके साहस की परीक्षा के कई अवसर आते हैं और वह उनमें सफल होता है। आगे के गोवध, चमारों की बेगार, जेल के कैदियों के दारोगा के प्रति विसव, इन सभी अवसरों पर वह अपने प्राणों पर खेल जाता है। वह अहिंसावादी है। सरकार का अत्याचार वह नहीं देख सकता, परन्तु जनता का अत्याचार भी उसे पसंद नहीं। उसके चरित्र में हम राष्ट्रीय सेवक और समाज-सुधारक के उन्नत गुणों को चरम सीमा में पाते हैं। उसने सिद्धान्तों पर दृढ़ रहकर अहल्या को ब्याह लिया, यद्यपि माता-पिता इस सम्बन्ध के खिलाफ थे। जनता के सम्पर्क में उसका जितना चरित्र खुलता है, उसमें वह महान नेता, राष्ट्रसेवक और सच्चा देशहितैषी है। एक बार ऐश्वर्य की आग में तप कर भी वह कुन्दन होकर निकलता है। उसकी राष्ट्र-सेवा चेतना, त्याग, कष्टसहन और तपस्या

की अनवरत पुकार है। यह पुकार ही उसे जगदीशपुर के महलों से निकाल कर साधु बना देती है। परन्तु जान पड़ता है, प्रेमचंद ने चरित्र के इस पक्ष को हद से अधिक विस्तार दिया है और वे कुछ अस्वाभाविक हो गये हैं। हम जानते हैं कि चक्रधर को स्वभाव से विलास से चिढ़ है, परन्तु जब वह शङ्खधर के साथ घर नहीं लौटता, उसे खुलकर ग्रहण भी नहीं करता, तो हमें अहल्या और अन्य पात्रों के दुःखों की वीथिका में रखकर उसका आदर्शवाद अस्वाभाविक लगता है। अहल्या के निर्दोष जीवन को दुखी बनाने का अपराध क्या उसने ही नहीं किया है? क्या उसकी सिद्धान्तों की कड़ाई ही उपन्यास के दुःखांत का कारण नहीं है? क्या उसने पत्नी और पुत्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा नहीं की? क्या वह राष्ट्रसेवक के लिए आदर्श हो सकता है?

उसका प्रेमी-चरित्र भी स्पष्ट नहीं है—वह नितान्त अप्रगट है। वह जानने लगा है कि मनोरमा उससे प्रेम करती है, परन्तु वह भीरु-हृदय है, इस प्रेम को वह प्रगट नहीं करता। मनोरमा जब राजा विशालसिंह से विवाह कर लेती है, तो वह कर्तव्य के पालन के लिए अहल्या को वरण करता है। परन्तु मनोरमा के प्रति गोपनद्वन्द्व उसके मन में अंत तक चलता है। वह उसकी सहायता ग्रहण करता हुआ भी उससे दूर रहता है। हम कह सकते हैं कि मनोरमा के दुःखी चरित्र के नीचे बीजरूप में छिपी है चक्रधर की प्रेम-भीरुता।

हम यह भी देख सकते हैं कि चक्रधर के जनसेवा के दो रूप हमारे सामने आते हैं। पहले वह तेजस्वी, व्यवहारिक, जननेता है, परन्तु बाद में जगदीशपुर छोड़ कर वह साधु के भेष में जनता में दवा बाँटता और उनके दुःखों में उनकी सहायता करता

दिखाई देता है। तब हमें आश्चर्य होता है कि क्या यह बाद का रूप उसकी जनसेवा का पहले से अधिक ऊँचा आदर्श है ? क्या जनसेवा की परिणिति यही है ? इस प्रकार हम कितने आगे बढ़ सकेंगे ? प्रश्न यह होता है कि वह जीवन के विशाल मार्गों में क्यों नहीं आता, उसे हम बाद में भी जनता के राजनीति-गुरु के रूप में क्यों नहीं पाते ? वह जनसेवा के किस आदर्श को हमारे सामने रखता है ? क्या यह जगदीशपुर के वातावरण के खिलाफ प्रतिक्रिया नहीं है ? या, यह मनोरमा के प्रेम का द्वन्द है ? क्यो उसने इस प्रकार सेवा को राष्ट्रसेवा का अंतिम रूप मान लिया है, हम नहीं कह सकते। अंत में जब हम उसे मनोरमा के लिए चिड़ियाँ पालते हुए देखते हैं, तो हमारा हृदय करुणा से भर जाता है, परंतु हम नहीं समझ पाते कि उसने अपने जीवन के तारों को किन स्वरों के लिए मोड़ा है, क्यों उसने अपना जीवन निष्फल किया ? इस प्रकार चक्रधर का चरित्र अस्पष्ट हो जाता है।

मनोरमा का चरित्र उतना अस्पष्ट नहीं है। उस अबोध बालिका ने अपने (मास्टर) साहब की सहायता करनी चाही थी, वह स्वयम् रस्सी बनना चाहती थी, इन्हीं दो प्रवृत्तियों के वश हो उसने भीतर चक्रधर को प्रेम करते हुये भी बाहर पति-रूप में विशालसिंह को स्वीकार किया और अन्त तक सतीत्व के उज्ज्वल आदर्श पर स्थिर रही। परन्तु उसने सतीत्व के चाहे जिस ऊँचे आदर्श को स्थापित किया हो, उसका जीवन द्वन्द्वों के भीतर फँसकर निष्फल हो गया। कहानी के अन्त में वह हाहाकार से भरे विशाल खंडहर के रूप में ही हमारे सामने पड़ी रह जाती है। किशोरावस्था की एक गलती ने इस अत्यंत

तेजस्वी बालिका के जीवन में विष बीज बो दिया है। काश्
चक्रधर को यह प्रेम मिलता, यह तेज मिलता !

अहल्या का चरित्र भी दुःखों में तपकर हमारी सहानुभूति ग्रहण करता है। वह ग़रीब बालिका थी, परन्तु भोगविलास और कीर्ति एवं ऐश्वर्य्य ने उससे पति छीना, पुत्र छीना। 'ट्रेजिडी' के बीज ख़ुद उसने बोये, परन्तु अन्य पात्रों की तरह वह भी दैव के हाथ का खिलौना बन गई।

राजा विशालसिंह अपने वर्ग के लोगों के प्रतीक तो हैं ही, परंतु उनमें परिस्थितियों के वश, अपना विशेष व्यक्तित्व भी फूट पड़ा है। राजाओं की तरह तीन पत्नियाँ होने पर भी वह मनोरमा से विवाह करते हैं, बुढ़ापे के विवाह में पत्नी के प्रति जितना आकर्षण रहता है, उतना तीव्र आकर्षण उनमें मनोरमा के प्रति है। संतान उन्हें तब भी प्राप्त नहीं होती। शंखधर के साधु होकर लोप हो जाने के प्रति मनोरमा के प्रति भी वे कठोर हो जाते हैं और रोहिणी की हत्या उन्हें बदल देती है। वे विधाता से लड़ने चलते हैं। सोचते हैं—यदि उसने बारंबार प्रयत्न करने पर भी उनका काम बिगाड़ा, तो वह उसके काम को क्यों न बिगाड़ें! यह विद्रोह जनता के प्रति दमन, अत्याचार और अपने सातवें विवाह की तैयारी के रूप में प्रगट होता है। जब शंखधर आ जाता है, तो वे फिर विधाता से सुलह कर पहले जैसे रसिक, ईश्वर-भक्त, दानशील, प्रजापालक बन जाते हैं। उसकी मृत्यु की आशंका से वे फिर विधाता के सामने खड़े होते हैं। क्या जीवन में उन्हें दुःख ही-दुःख, असफलता-ही-असफलता देखना है ? क्यों न वह आत्महत्या करलें, जिससे शंखधर की मृत्यु उन्हें न देखनी पड़े। परंतु वे विधि के हाथों का खिलौना बनकर रह

गये। शंखधर की मृत्यु उन्हें देखनी पड़ी। उनके विरोध का महल ढह गया।

ठाकुर हरिसेवक और लौंगी का चरित्र आदर्श प्रेम का चित्र उपस्थित करता है। कर्तव्य-भावना की कितनी ऊंची प्रतिष्ठा जीवन में हो, यह कोई लौंगी से सीखे; और प्रेम किस प्रकार जीवन में सजीविनी शक्ति भरता है, यह हरिसेवक से। लौंगी हरिसेवक की आत्मा थी। वह तीर्थयात्रा को क्या गई, उनका जीवन ले गई! हरिसेवक भीरु हैं, स्वार्थी हैं, विलास के नाते लड़की मनोरमा को वृद्ध विशालसिंह के गले बाँध देते हैं; और अंत समय तक उन्हें इसका पश्चात्ताप रहता है। परंतु लौंगी के प्रति आकांक्षापूर्ण तीव्र प्रेम उनके चरित्र को महानता दे देता है।

ठाकुर साहब की पहली तीन पत्नियों में रोहिणी के चरित्र को ही विशेष वैयक्तिकता मिली। रामप्रिया सहजमन, निर्द्वन्द्व, प्रेमप्राणा स्त्री है। वसुमती सौतिया-डाह और छल-कपट का अच्छा उदाहरण है, परंतु रोहिणी रोहिणी है, जो सदैव तनी हुई तलवार बनी रहती है। विशालसिंह ने उस पर अत्याचार किया, उसको विवाहा, उससे प्रेम किया, फिर उसे ठुकराया। रोहिणी ने उनका प्रेम भोगा, ऐश्वर्य भोगा और जब प्रेम और ऐश्वर्य के द्वार उसके लिए बंद हो गये तो उसने पति का बुरा चाहा, उसका पग-पग पर विरोध किया। सोलह वर्ष तक वह यह आशा करती रही कि शायद विशालसिंह फिर उसके हो जायें। और सोलह वर्ष के बाद एक दिन तनकर, उन पर सब कुछ खोल कर, उसने प्राण दे दिया। वह दुःख से घुलकर मरी या उसने आत्महत्या की, यह रहस्य की बात है। परंतु उसके तेजस्वी चरित्र के सम्मुख उसकी अन्य सपत्नियों का चरित्र फीका है।

'कायाकल्प' में जो चीज़ प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों से विशिष्ट है वह है उनका रसनिरूपण। सुख दुःख, हर्ष-विषाद, संयोग-वियोग में बदलते हुए मनोभावों का इतना प्रभावशाली, उद्योगमय चित्रण उनके किसी भी उपन्यास में नहीं हुआ है। यही रसनिरूपण उपन्यास की जान है। किसी-किसी पात्र का तो सारा चरित्र ही किसी विशेष रस को लेकर खड़ा किया गया है। जैसे अलौकिक भाग को छोड़ कर शंखधर का चरित्र 'पितृ-प्रेम' की हिलोरों के सिवा क्या है? पिता शंखधर के प्रति उसे कितनी गहरी उत्सुकता है, कितना गहरा प्रेम है! पाँच वर्ष की खोज के बाद जब वह पिता के सम्मुख होता है—"सहसा मंदिर में से एक आदमी को निकलते देखकर वह चौंक पड़ा, अनिमेष नेत्रों से उसकी ओर एक क्षण देखा, फिर उठा कि उस पुरुष के चरणों पर गिर पड़े, पर पैर थरथरा गये। मालूम हुआ, कोई नदी उसकी ओर बही जाती है। वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

वह पुरुष कौन था? वही जिसकी मूर्ति उसके हृदय में बसी हुई थी, जिसका वह उपासक था।" (पृष्ठ ५१४)

चक्रधर का 'पुत्रप्रेम' देखिये—

"चक्रधर भी कभी-कभी पुत्रप्रेम से विकल हो जाते और चाहते कि उसे गले लगा कर कहूँ—बेटा, तुम मेरी ही आँखों के तारे हो, तुम मेरे ही जिगर के टुकड़े हो, तुम्हारी याद दिल से कभी नहीं उतरती थी। सब कुछ भूल गया पर तुम न भूले×× वह स्वयं अब भी वही रूखा-सूखा भोजन करते थे, पर शंखधर को खिलाने में उन्हें जो आनन्द मिलता था, वह क्या कभी आप खाने में मिल सकता था!" (पृष्ठ ५४४)

"सन्ध्या-समय शंखधर अपने पिता से विदा होकर चला।

चक्रधर को ऐसा मालूम हो रहा था मानो उनका हृदय वक्षस्थल को तोड़कर शंखधर के साथ चला जा रहा है। जब वह आँखों से ओझल हो गया तो उन्होंने एक लम्बी साँस ली और बालकों की भाँति बिलख-बिलखकर रोने लगे। ऐसा मालूम होता था मानो चारों ओर शून्य है। चला गया! वह तेजस्वी कुमार चला गया जिसको देखकर छाती गज भर की हो जाती थी, और जिसके जाने से अब जीवन निरर्थक, व्यर्थ जान पड़ता था।" (पृष्ठ ५४६)

प्रकृति की वीथिका में रखा हुआ नारी की तृष्णा का—जन्म-जन्म की तृष्णा का—रूप देखिये—

"प्रकृति माधुर्य में डूबी हुई है। आधी रात का समय है। चारों तरफ चाँदनी छिटकी हुई है। वृक्षों के नीचे कैसा सुन्दर जाल बिछा हुआ है। क्या पक्षि-हृदय को फँसाने के लिए? नदियों पर कैसा सुन्दर जाल है? क्या मीन-हृदय को तड़पाने के लिए? ये जाल किसने फैला रक्खे हैं?

देवप्रिया ने आज अपने आभूषण उतार दिये हैं, केश खोल दिये हैं और वियोगिनी के रूप में पति से प्रेम की भिक्षा माँगने जा रही है। आईने के सामने जाकर खड़ी हो गई। आईना चमक उठा। देवप्रिया विजय-गर्व से मुस्कराई। कमरे के बाहर निकली।

सहसा उसके अन्तःकरण में वहीं से आवाज आई—सर्वनाश! देवप्रिया के पंख रुक गये।

देह शिथिल पड़ गई। उसने भीरु दृष्टि से इधर-उधर देखा। फिर आगे बढ़ी।

उसी समय वायु बड़े वेग से चली। कमरे में कोई चीज खट! खट! करती हुई नीचे गिर पड़ी। देवप्रिया ने कमरे में

जाकर देखा। शङ्खधर का तैलचित्र संगमरमर की भूमि पर गिर कर चूर-चूर हो गया था। देवप्रिया के अन्तःकरण से फिर वही आवाज आई—सर्वनाश! उसके रोएँ खड़े हो गये। पुष्प के समान कोमल शरीर मुरझा गया। वह एक क्षण तक खड़ी रही। फिर आगे बढ़ी।"

इस तृष्णा का अंत है क्षणिक मिलन और अनन्त वियोग। "देवप्रिया की चिर-क्षुधित प्रेमाकांक्षा आतुर हो उठी। अनन्त वियोग से तड़पता हुआ हृदय आलिंगन के लिए चीत्कार करने लगा। उसने अपना सिर शङ्खधर के वक्षस्थल पर रख दिया और दोनों बाहें उसके गले में डाल दीं। कितना कामल, कितना मधुर, कितना अनुरक्त स्पर्श था। शङ्खधर प्रेमोल्लास से विभोर हो गया। उसे ऐसा जान पड़ा कि पृथ्वी नीचे कांप रही है और आकाश ऊपर उड़ा जाता है। फिर ऐसा ज्ञात हुआ कि कोई वज्र बड़े वेग से उसके सिर पर गिरा।

वह मूर्च्छित हो गया।

देवप्रिया के अन्तःकरण से फिर आवाज आई—सर्वनाश! सर्वनाश! सर्वनाश!" (पृ० ६०९)

अहल्या का दीप-निर्वाण चित्र इस प्रकार है—"अहल्या ने फिर चेष्टा की। बरसो की चिंता, कई दिनों के शोक और उपवास और बहुत-सा रक्त निकल जाने के कारण शरीर जीर्ण हो गया था। करवट घूम कर दोनों हाथ पति के चरणों की ओर बढ़ाये, पर चरणों को स्पर्श न कर सकी। हाथ फैले रह गये और एक क्षण में भूमि पर लटक गये। चक्रधर ने घबड़ा कर उसके मुख की ओर देखा। निराशा मुरझाकर रह गई थी। नेत्रों में करुण याचना भरी हुई थी।

चक्रधर ने रुँधे हुये स्वर में कहा—'अहल्या, मैं आ गया, अब कहीं न जाऊँगा।'

हाय! ईश्वर, क्या तू मुझे यही दिखाने के लिये यहाँ लाया था?" (पृ० ६१७)

सारे उपन्यास में अनेक रसों और भावों का ऐसा अजस्र प्रवाह बह रहा है कि पाठक पल-पल में उसमें डूबता उतराता रहता है। वह कथा की बात भूल जाता है, चरित्र-चित्रण की बात भूल जाता है और उपन्यास के रस-प्रवाह में डूब जाता है। भाषा की सारी शक्ति, मनोविज्ञान और कल्पना की सारी सूक्ष्मता, सारी सूझ, सारी उपज रसपूर्ण प्रसङ्गों को जीवन देने में लगा दी गई है। इसी से यह उपन्यास प्रेममूलक महाकाव्यों की श्रेणी में उठ गया है। जीवन के विभिन्न अङ्गों में आवेगपूर्ण भावों के घात-प्रतिघात के इतने सुन्दर और प्रभावशाली चित्र हिन्दी में कहीं नहीं मिलेंगे। यह भाव ही इतनी प्रेम-कहानियों को एक में गुम्फित किए हुए हैं।

९

ग़बन (प्रकाशित मार्च १९३२)

ग़बन प्रेमचन्द का छठा उपन्यास है। इसके बाद उन्होंने हमें "कर्मभूमि" और "गोदान" नाम के दो और उपन्यास दिये। उनका अंतिम उपन्यास "मङ्गलसूत्र" तो अधूरा ही रहा।

ग़बन की कथा का बीज 'गहनों की असार्थकता और आभूषण प्रिय होने की हानि' है। इसे 'गहने की ट्रेजिडी' भी कहा जा सकता है। कथावस्तु मध्यवित्त घराने से संबंध रखती है; क्योंकि आभूषण-प्रियता और वाह्याडंबर इसी वर्ग में सीमा को पहुँच गया है।

जालपा और रमानाथ की शादी हुई। सब गहने चढ़े, परंतु एक चन्द्रहार नहीं चढ़ा। उधर जालपा के मन में संस्कार-रूप से चन्द्रहार की चाह थी। उसके पति रमानाथ ने उसके मोह में आकर म्यूनीसिपल आफिस में ३० रुपये की नौकरी चुङ्गी उघाने की कर ली। जगह आमदनी की थी। उन्होंने गहने ख़रीदे। धीरे-धीरे वह सिर से पैर तक कर्ज़ में डूब गये।

जालपा की सखी रतन के कंगन बनाने के लिये दिये हुये रुपये रमा ने सुनार को दिये तो उसने वे पिछले उधार में काट लिये। रतन के तकाजे पर उन्होंने दफ्तर के रुपये लाकर उसे दे दिये। यह ग़बन हुआ। परन्तु जब दूसरे दिन रुपये का

प्रबंध न हो सका तो वे अपने नगर प्रयाग को छोड़ कर कलकत्ते भागे।

इधर इस विपत्ति ने जालपा में प्रतिक्रिया उपस्थित की। उसने कंगन आदि बेचकर ग़बन का तावान भर दिया, कर्ज़ चुका दिया। अब उसका त्याग आरम्भ हुआ।

जब उसे रमा के कलकत्ता होने का पता लगा तो रमा का इतना पतन हो चुका था कि वह माफी के विचार से सरकारी गवाह बन गया था। जालपा ने उसका तिरस्कार किया। अंत में इस पतन के क्षोभ से दुखी होकर रमानाथ ने जज से साफ-साफ कह दिया कि गवाही झूठी है। अभियुक्त बरी हो गये। वह भी छूटा। रमा-जालपा का मिलन हुआ।

यह तो कथा का वह खाका हुआ, जिससे कथा चार सौ पृष्ठों तक अत्यंत रोचकता के साथ चली जाती है। प्रेमचन्द के अधिकांश उपन्यास घटना-प्रधान हैं। अंतर्द्वन्द से कहीं अधिक परिस्थितियों के द्वन्द पर आश्रित हैं। इसी कारण उनमें रोचकता की मात्रा कम नहीं है।

यदि हम कथा का विश्लेषण करें तो हमें पता लगेगा कि कथा के पहले २० अध्यायों का केन्द्र प्रयाग है, शेष कथा कलकत्ते से संबंधित है। इस प्रकार कथा-सूत्र के स्थान-भेद के साथ दो टुकड़े हो जाते हैं। परन्तु दोनों टुकड़ों में रमा की ही कथा प्रमुख है, अतः उसके पतन की कथा उपन्यास की एक सूत्रता बनाये रखती है। यदि पात्रो की ओर दृष्टि करें तो उसमें दो कथायें स्पष्ट हैं—१. रतन की कथा, २ जोहरा की कथा। परंतु सूक्ष्म अध्ययन से पता चलेगा कि कथा की धारा एक ही है। जोहरा की कथा प्रासंगिक रूप से आती है; परंतु वह प्रेमचन्द के अन्य उपन्यासों की प्रासंगिक कथाओं की तरह न प्राधान्य ग्रहण

करती है, न कथासूत्र से विलकुल अलग ही रहती है। इन दोनों कथाओं के पीछे दो उद्देश्य काम कर रहे हैं—

१—प्रेमचन्द रतन के चरित में भारतीय वैधव्य का ऊँचा चित्र उपस्थित करना चाहते हैं।

२—वह जोहरा के चरित्र में वेश्या का हृदय परिवर्तन दिखाना चाहते हैं, जो उनका प्रिय विषय है। इन दो अस्वाभाविक आदर्श सूत्रों को छोड़कर शेष रचना की भित्ति यथार्थवाद पर टिकी है।

कथा के सूत्र के लिये न रतन आवश्यक थी, न जोहरा। रतन के द्वारा प्रेमचन्द रमा की बड़प्पन दिखाने की प्रवृत्ति को दिखाना चाहते थे जो उनके जालपा के संबंध में शुरू से घुस गई थी। परन्तु ऐसा किये बिना भी उपन्यास की कथा निभाई जा सकती थी।

फिर भी यह स्पष्ट है कि इस रचना में प्रेमचन्द कथा की एकसूत्रता की ओर बढ़ते हुए प्रवृत्ति में आदर्शवाद से यथार्थवाद की ओर बढ़ रहे हैं। पिछली बात का प्रभाव नायक (रमा) के चरित्र में स्पष्ट है, कर्मभूमि के अमर से इसकी तुलना की जा सकती है। रमानाथ प्रेमचंद का पहला यथार्थवादी पात्र है।

घटनाओं के विस्तार में अयथार्थता कितनी ही जगह मिलेगी। उपन्यास में जो अदालत का चित्र है, वह स्पष्ट रूप से काल्पनिक है, किसी भी परिस्थिति में संभव नहीं। सरकारी गवाह इतनी शीघ्रता से नहीं बदलते और बदल भी जायें तो बेदाग़ नहीं छूट पाते। जजों को भी प्रेमचन्द के आदर्शवाद का शिकार होना पड़ा है। वह इस प्रकार हृदय-परिवर्तन का अनुभव नहीं करते, न कानून की गद्दी पर बैठ कर भलेमानस हो बने रहते हैं। स्वयं कानून का अपना पंजा है और हाकिम की सदाशयता इतनी

शीघ्रता से प्रभाव नहीं डाल सकती। स्पष्ट है कि परिस्थिति-चित्रण के विस्तार में यथार्थवादी होते हुये भी प्रेमचन्द कथा के विकास में आदर्श का पल्ला नहीं छोड़ते हैं। जहाँ आदर्शवाद और यथार्थवाद में संघर्ष उपस्थित होता है वहाँ वे यथार्थ की बलि देकर समझौता कर लेते हैं।

ग़बन की समस्या एक ऐसी समस्या है जिसे सामाजिक नहीं कहा जा सकता। यह समस्या बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक है। प्रत्येक देश और समाज में स्त्री पुरुष की कमाई हुई सम्पत्ति की अधिकारिणी होना चाहती है। हमारे देश में इस आभूषण-प्रियता ने मनोविकार का रूप ग्रहण कर लिया है। ग़बन स्त्री की इसी अर्थ-लिप्सा का इतिहास है। परन्तु उसका आधार आभूषण-प्रियता होते हुये भी उसकी महत्ता नायक के चरित्र-चित्रण में है। प्रेमचन्द ने इस नायक में आदि से अंत तक दुर्बलताएँ दिखलाई हैं। वह अंतर्द्वन्द में सदैव परास्त होता जाता है और अपनी दुर्बलताओं और प्रलोभनों का शिकार होता है। यह प्रेमचन्द का पहला यथार्थवादी उपन्यास है।

मुख्य पात्र रमानाथ है। रमा आदर्शवादी नहीं है, नितान्त यथार्थवादी दुर्बल मनुष्य है। वह परिस्थितियों से लड़ ही नहीं सकता।

'ग़बन' प्रेमचन्द का अन्तिम सामाजिक उपन्यास है और कला एवं दृष्टिकोण की परिपक्वता की दृष्टि से वह उनके सारे सामाजिक उपन्यासों से श्रेष्ठतम है। हमने इस उपन्यास को 'गहने की ट्रेजिडी' कहा है, परंतु कहानी का मूल विषय यही होने पर भी समस्या का यह रूप एक अत्यंत व्यापक समस्या का ही अंग है। यह समस्या है वर्गगत असंतुलन। गहने वर्ग-श्रेष्ठता के ही प्रतीक हैं। हमारे इस पूँजीवादी समाज की सारी व्यवस्था

अर्थ की विभिन्नता पर ही आश्रित है। जिसके पास अधिक धन है, उसका समाज में मान भी अधिक है। जिसके पास जितना भी कम धन है, उसका मान भी उतना ही अधिक है। इस प्रकार वर्गों के एक कोटि-क्रम बन जाते हैं जिसमें सबसे ऊपर हैं राजा-महाराजा और पूँजीपति और सबसे नीचे है कमकर। मध्यवित्त सामाजिक पुरुष इन दोनों वर्गों के बीच में पिसे जाते हैं। पूँजीपतियों के समाज में वह आहत हों, इसके लिए उन्हें धन और ऐश्वर्य का स्वांग बनाना पड़ता है। हमारी पूँजीवादी समाजी व्यवस्था में प्रत्येक निम्न वर्ग उच्चतर वर्ग का स्वांग भरता है। ऐसा किये बिना उसे छुटकारा ही नहीं है। पुरुष के लिए कोट-पेंट, घड़ी-चैन और स्त्री के लिए कीमती साड़ियाँ और गहने इस स्वांग के दो विभिन्न रूप हैं। जहाँ धन ही सामाजिक श्रेष्ठता का मान हो गया है, वहाँ प्रत्येक पति की आकांक्षा यही होगी कि उसकी पत्नी के अंग पर सब पुरुषों की पत्नियों से अधिक गहने हों और जहाँ स्त्री केवल उपभोग की वस्तु है और केवल देह उसकी उपजीव्य, वहाँ सौन्दर्य को बढ़ाने वाले उपकरण के रूप में गहने उसे विशेष प्रिय हों तो कोई आश्चर्य नहीं। सच तो यह है कि हिन्दू समाज में नारी की हीनता का सबसे बड़ा प्रमाण हिन्दू स्त्री की अलंकार-प्रियता है। इस्लामी धर्मव्यवस्था में 'मुहर' (स्त्री-धन) के रूप में स्त्री की जो अलग सम्पत्ति की व्यवस्था है, वह उसे पुरुष के प्रति सम्मान और सत्कार की वस्तु बना देती है। हिन्दू स्त्री का न कोई दाम है, न पुरुष से अलग उसकी कोई सम्पत्ति है, न जीविकोपार्जन के साधन ही उसके लिए खुले हैं। इसीसे विवाह के अवसर पर वर-वधू पक्ष से दिये हुए सोने-चांदी के अलंकार ही उसकी सम्पत्ति है, जिसकी रक्षा उसे बड़ी सतर्कता से करनी पड़ती है। जहाँ देह

मात्र ही उसका उपजीव्य है, वहाँ यदि गहने ही उसका प्राण हों, तो कोई अन्याय नहीं। इस प्रकार मूल रूप में ग़बन की कथा भारतीय नारी की पारिवारिक और सामाजिक विडंबना की कहानी ही कही जायगी।

आज का मध्यवित्त पुरुष स्त्री की इस स्वाभाविक आकांक्षा की पूर्ति को अपना धर्म समझे, तो उसे दोष देना नहीं होगा। इसी तरह वह अपनी पत्नी का हृदय जीत सकेगा। साथ ही अपने पत्नी के अंगों पर बहुमूल्य अलंकारों का प्रदर्शन करके वह अपनी वर्ग-श्रेष्ठता भी प्रमाणित कर सकेगा। रमानाथ और जालपा की सारी भाग्य विडंबना नारी की इसी सामाजिक हीनता पर आधारित है। वर्गमुक्त समाज में न पत्नी के अंगों पर संसार भर के गहने लादने की चाह पुरुष को होगी, न स्त्री के लिए देह ही उसकी आजीविका होगी। वहाँ श्रम मात्र ही स्त्री-पुरुष के लिए एक समान उपजीव्य होगा। ऐसे वर्ग-मुक्त समाज में रमानाथ और जालपा जैसे पुरुष-नारी को स्थान नहीं मिल सकेगा।

परंतु 'ग़बन' में देहजीवी नारी और वर्गबद्ध पुरुष की कहानी ही नहीं है। सच तो यह है कि वह मध्यवित्त समाज के ऊपर एक अत्यंत शक्तिशाली व्यंग है। इस समाज के सच-झूठ के मान, उसकी दिखावे की भावना, उसकी न्याय-भावना का खोखलापन, उसके प्रेम और ईश्वर-विश्वास की खिल्ली जैसी इस उपन्यास में मिलेगी, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

१०

निर्मला (प्रकाशन तिथि १९२७)

निर्मला सामाजिक उपन्यास है जिसकी कथावस्तु का आधार दो सामाजिक कुरीतियाँ हैं। १—दहेज की प्रथा, २—दोहेजा से विवाह। पिछली कुरीति पहली कुरीति का ही परिणाम है। अतः सेवासदन की भाँति निर्मला भी समस्यामूलक उपन्यास है। परंतु सेवासदन में प्रेमचंद अपेक्षाकृत कहीं अधिक रंगभूमि लेकर चले हैं। कदाचित इसी लिए निर्मला की कथा बहुत संगठित है। उपन्यास में प्रासंगिक कथावस्तु को स्थान नहीं मिला है।

कथावस्तु का संबंध तीन परिवारों से है १—बाबू उदयभानु का परिवार। २—बाबू तोताराम का परिवार और ३—सिन्हा का परिवार। कथा का संबंध कायस्थ-वर्ग से है जहाँ दहेज और फलतः वृद्ध विवाह की कुप्रथाएँ अत्यंत बलवती हैं।

बाबू उदयभानु बिगड़े रईस हैं। कल्याणी उनकी पत्नी है। गोदी में सूर्यभानु है। बड़ा लड़का चन्द्रभानु। कृष्णा और निर्मला दो लड़कियाँ हैं। निर्मला ने अभी अभी यौवन की दहलीज में पैर रखा है। बाबू साहब सिन्हा के यहाँ निर्मला का विवाह ठहराते हैं। वृद्ध सिन्हा और उनके लड़के अर्थ-लोलुप हैं। वह दहेज की बात तो नहीं करते परंतु वैसे २०-२५

हज़ार मिल जाने की उन्हें आशा है। यहाँ उदयभानु बाबू विवाह की तैयारी करते हैं। २० हजार का तखमीना है। रात-दिन लगे हैं। खर्चे की बात को लेकर पत्नी से झगड़ा हो जाता है। क्रोध में घर छोड़ कर कहीं छिप जाने की बात ठानते हैं कि देखें पत्नी घर कैसे सँभालती है। शहर की एक गली में जाते हुए उन्हें आहट होती है, चोर-लालटेन से देखते हैं तो मतई है जिसे उन्होंने तीन वर्ष की सजा डाके के मुकदमें में दिलवाई थी। उसने पहला बदला निकाला। एक हाथ में ही मुंशी जी का काम तमाम कर दिया।

कल्याणी पर वज्रपात हुआ। वह तो आत्मग्लानि में मर गई। यह क्या हो गया? अपने पुरोहित पं० मोटेराम को सिन्हा के यहाँ भेजा। सिन्हा और उनके लड़के ने साफ इंकार कर दिया। पं० मोटेराम लौटे तो निर्मला के विवाह की समस्या विकराल रूप में सामने खड़ी हो गई। बड़ी कठिनाइयों के बाद चालीस वर्ष के अधेड़ वकील तोताराम से उसका विवाह संपन्न हुआ। निर्मला ससुराल आई तो उसे नई समस्याओं का सामना करना पड़ा। यहाँ वह विमाता थी। घर में उसकी ही वय का लड़का था मंसाराम। दो छोटे लड़के थे जियाराम और सियाराम। मंसाराम कक्षा में बहुत तेज था, सुंदर सुशील युवक! घर में वकील साहब की विधवा बहिन रुक्मणी मालकिन थी। आते ही लड़को का पक्ष लेकर उसमें और निर्मला में ठनने लगी। वकील साहब निर्मला का प्रेम चाहते थे परंतु पा नहीं सकते थे। उन्हें अपने में किसी कमी का अनुभव होता था और वह गहने गढ़ा कर, निर्मला को उपहार देकर उस कमी को पूरा करते थे।

निर्मला मंसाराम से कुछ क्षण के लिए पढ़ लेती थी। वकील साहब को इसका पता न था। एक दिन वकील साहब

कचहरी से लौटे तो देखा निर्मला ने शृङ्गार किया है, शीशे पर से कपड़ा उठा दिया है और प्रसन्नचित्त है। इतने में मंसाराम आ गया। वकील साहब उससे अपनी तुलना करके चौंके। उनके मन में प्रथमबार संशय ने जन्म लिया। उन्होंने बे-मतलब मंसाराम को डाँट दिया।

धीरे-धीरे संशय ने विराटरूप धारण किया। मंसाराम को भी इसकी झलक मिली। निर्मला भी समझ गई। मंसाराम दिन भर कमरे में बन्द रहने लगा और निर्मला भी कैसे यह संदेह दूर हो, यह सोच कर घुलने लगी। उधर वकील साहब का संदेह बढ़ने लगा। उन्होंने उसे बोर्डिङ्ग में दाखिल कराने का प्रयत्न किया, परंतु असफल रहे। अंत में एक दिन माँ-बाप की डाँट खाकर मंसा स्वयम् ही बोर्डिङ्ग चला गया। ५-६ दिन बाद ही उसे बुखार चढ़ा। मुंशीजी को खबर मिली तो पहुँचे परंतु संशय के कारण घर न आकर उसे अस्पताल ही ले गये। वहीं उसकी मृत्यु हुई। परंतु निर्मला मृत्यु से पहले चली आई थी। मंसा ने उसके चरणों पर गिर कर जो कहा था उससे वकील साहब का संदेह अवश्य दूर हो गया।

रह गये सियाराम और जियाराम। सियाराम जियाराम के इशारों पर चलता था, डाँट से सहम जाता। जियाराम बाप को गाली देता, हत्यारा कहता, माँ से लड़ता। एक दिन उसने निर्मला के गहने ही चुरा लिये। पुलिस में खबर की तो घर से १००० देकर पीछा छूटा। जियाराम ने जहर खा लिया।

इन दो हत्याओं का सियाराम पर प्रभाव न पड़ा हो, यह बात नहीं। अब निर्मला बदल गई थी। कंजूस हो गई थी। वकील साहब भी जी तोड़ कर परिश्रम करते थे। सियाराम को एक-एक चीज को पाँच-पाँच बार बाजार की दूकान पर लौटाना

पड़ता, तब क़बूल की जाती। एक दिन निर्मला ने उसका लाया घी लौटाया। सियाराम परेशान था ही कि एक साधु मिल गया। वह उसके फाँसे में आकर भाग खड़ा हुआ। वकील साहब कई दिन तक नगर में उसे ढूँढ़ते हुए घूमे। अंत में घर से निकल पड़े। इधर निर्मला अपनी छोटी बच्ची (आशा) को लिए रही। रुक्मणी को अब उस पर दया आने लगी थी। होते-होते वह भी एक दिन चल दी। अब कौन दाह दे, यह समस्या थी, तब बूढ़े/पथिक तोताराम आ खड़े हुए।

जिन डाक्टर सिन्हा, ने मंसा का इलाज किया था—वह वही लड़का था जिससे मुंशी उदयभानु ने निर्मला की बात चलाई थी। सुधा अब उसकी पत्नी थी। मंसा की मृत्यु के बाद दोनों घरानों में मेल हुआ तो बात निकली। अंत में निर्मला प्रेमचंद का तीसरा सामाजिक उपन्यास है। इसमें दोहाजू के सङ्ग विवास से उत्पन्न समस्याओं का वर्णन है। निर्मला का विवाह बाबू तोताराम वकील से होता है, जिसके तीन पुत्र हैं। एक व्यस्क मंसाराम, दूसरा जियाराम, तीसरा सियाराम। अधेड़ वकील साहब का शंकालु हृदय मंसाराम पर संदेह करता है और वे उसके घर से निकलने के कारण बनते हैं। मंसाराम की मृत्यु हो जाती है। निर्मला का मातृ-स्नेह उमड़ता है, परंतु वह परिस्थितियों से लाचार है। अंत में दोनो लड़के भी हाथ से निकल जाते हैं। जिया विषपान कर लेता है, सिया साधु के साथ निकल जाता है। अंत में वकील साहब भी घर से निकल जाते हैं और एक छोटी बच्ची को छोड़ कर निर्मला परलोक की राह पकड़ती है। यह परिस्थितियों का दुखांत है। प्रेमचंद ने निर्मला को प्रारंभ से अंत तक निरीहा, निर्दोषा सिद्ध किया है, परंतु वह परिस्थितियो के हाथ में खेल जाती है।

उपन्यास वैसे परिस्थितियों का व्यंग है, परन्तु मूल में दोहाजू के विवाह की समस्या बनी हुई है। लज्जित होकर डाक्टर साहब ने अपने छोटे भाई को निर्मला की बहन कृष्णा की शादी को तैयार किया और गुमनाम ४०० के नोट भी दिये। कृष्णा की शादी के दिन यह रहस्य खुला। सिया और वकील साहब के विच्छेद के बाद एक दिन निर्मला सुधा के यहाँ गई तो डाक्टर ने उससे छेड़ की। सुधा को बात मालूम हुई तो उसने उनको खूब ललकारा। फलतः उन्होंने ज़हर खा लिया। निर्मला ने यह दोष भी अपने ऊपर ओढ़ लिया। वही तो अभागिनी घर बिगाड़ू है न?

उपन्यास वैसे परिस्थितियों का व्यङ्ग है, परन्तु मूल में दोहाजू के विवाह की समस्या बनी हुई है। प्रेमचंद ने इस समस्या का कोई हल नहीं सुझाया। केवल मरणान्मुख निर्मला के मुख से यह कहलाया है "इसका (बेटी का) विवाह सुपात्र के हाथ करना।" परन्तु समस्या वैयक्तिक नहीं है, अतः इसका हल भी इतना सरल नहीं है। जब तक समाज से दहेज़ की कुप्रथा नहीं चली जाती, जब तक हमारा समाज सुधार के लिए आगे नही बढ़ता, तब तक इस प्रकार के वैयक्तिक सुधारवादी प्रयत्न असफल होते रहेंगे।

परन्तु 'निर्मला' की समस्था केवल दहेज और दोहाजू की समस्या ही नहीं है। ऊपर से देखने पर प्रेमचंद के सारे उपन्यास समस्यामूलक उपन्यास जान पड़ते हैं। परन्तु उनके पीछे मनोविज्ञान की दृढ़ भित्ति है। सच तो यह है कि प्रेमचंद की सभी सामाजिक समस्याओं में वैवाहिक विडंबनाओं का ही चित्रण है। हार्डी की तरह भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न पात्रों को लेकर प्रेमचंद प्रेम, विवाह और नारी के अधिकार के संबंध

में मौलिक प्रश्न उठाते हैं। हो सकता है, वे सज्ञानरूप से यह चेष्टा नहीं कर रहे हो, परन्तु कथानक को जिस प्रकार उन्होंने विकसित किया है, उस तरह ये प्रश्न स्वतः आ जाते हैं।

निर्मला में निर्मला ही दुखी और दुर्भाग्य-ग्रस्त नहीं है, उसी की तरह सुधा भी दुखी और दुर्भाग्य-ग्रस्त है यद्यपि वह अपने पति की पहली स्त्री है। उसे यौवन, धन और सम्मान की कमी नहीं है, परन्तु हिंदू समाज की नारी होने का अभाग्य उसके साथ बँधा है। डा० सिनहा (सुधा के पति) वैसे अत्यंत सच्चरित्र हैं, यह जानते हैं कि निर्मला के साथ उनकी शादी हो रही थी परन्तु उनके पिता ने दहेज की असमर्थता के कारण यह शादी नहीं की। परन्तु अब तो निर्मला असंतुष्ट और लाचार है। फलतः उनके मन में विकार का जन्म हुआ और एक दिन एकांत पाकर उन्होंने उसके सामने अपना कुप्रस्ताव रखा। सुधा को इस बात का पता लगा तो उसने उन्हें बहुत बुरा-भला किया। इतना कि लज्जित डाक्टर ने आत्महत्या कर ली। यह स्पष्ट है कि इस घटना से हिंदू विवाह की दुर्बल भित्ति ही दिखलाई पड़ती है। जो सूत्र वर्षों के बाद भी इतना दुर्बल बना रहे कि एक ही झटके से टूट जाये, वह भी कोई सूत्र है ? बात यह है कि हमारे यहाँ विवाह प्रेम की पुकार नहीं, सामाजिक बंधन मात्र है और जरा सा बोझ पड़ने पर ही टूट जाता है। उसमें पूर्व राग का पता नहीं, स्त्री-पुरुष की समान सामाजिक और आर्थिक स्थिति का स्थान नहीं और एक बार असंतुष्ट होने पर विच्छेद की कोई गुंजाइश नहीं। निर्मला का दुःखांत तो वृद्ध पति की शंकालु प्रकृति के कारण हुआ, परन्तु डा० सिन्हा की आत्महत्या पति-पत्नी के अधिकार, विच्छेद और पति-पत्नी के बीच क्षमा और सहिष्णुता के भाव से संबंध रखती है।

जो हो, यह निश्चित है कि निर्मला का कथा-संगठन अत्यंत उत्कृष्ट है और उसमें भारतीय कुटुम्ब की एक परिस्थिति विशेष का बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है। मुंशी तोताराम की अस्वस्थ मनोस्थिति ही सारे दुखांत का कारण, एक के बाद एक तीनों बेटे चले जाते हैं, परन्तु निर्मला उसके लिए किस तरह ज़िम्मेदार हुई। यहीं समाज की अवतारणा हुई। नारी की सामाजिक हीनता के कारण ही पुरुष उस पर अपने दोष थोपता आया है। कथा के अंत में निर्मला सब ओर से टूटी, अभागी और लांछित होकर, सब के दुर्भाग्य को अपने ऊपर ओढ़कर जब मर कर शांति प्राप्त करती है तब हम उसके प्रति इतने संवेदनाशील नहीं होते जितने उस समाज पर क्रोधित होते हैं जिसने स्त्री को तन बेचने का ही अधिकार देकर और कहीं का नहीं रखा।

११

कर्मभूमि : प्रकाशन-तिथि १९३२

कर्मभूमि ३०-३२ के कॉंग्रेस आन्दोलन के बीच में हमारे सामने आया और उसने भी वही लोकप्रियता शीघ्र ही प्राप्त कर ली जो पहले रंगभूमि को मिली थी, परन्तु कितने ही पाठकों और आलोचकों को दबे सुर से कहते हुए सुना गया कि रचना "रंगभूमि के आगे हेठी है।"

कर्मभूमि कथा का सार्थक नाम है। उसमें क्रियाशील जीवन का चित्रण किया गया है। क्रियाशीलता के भीतर से ही पात्रों का विकास होता है। कर्म ही यज्ञ है। अमर (नायक) स्वयं कर्म का प्रतीक है। उपन्यास की कथा का तात्पर्य है—सिद्धान्त बने नहीं रहते। परिस्थितियाँ मनुष्य को सीधी, चुनी हुई राह पर चलने ही नहीं देतीं। कर्म से अधिक वर्ग शिक्षक संसार में दूसरा नहीं है। जैसा पुस्तक की भूमिका से जान पड़ता है प्रेमचन्द ने इसमें ऊँचे आदर्शों का ध्यान रखा है। कदाचित इसी ऊँची परन्तु अव्यावहारिक और अ-मनोवैज्ञानिक आदर्शवादिता का साकार रूप मुन्नी है।

लाला समरकांत दिल्ली के अत्यंत मालदार लेकिन हद दरजे के कंजूस सेठ हैं, उन्होंने भी दूसरे बीसियों साहूकारों की

तरह अपनी महान धनाढ्यता धोखे-धड़ी से खड़ी की है। उनकी दो शादियाँ हुई लेकिन अब कोई पत्नी जीवित नहीं। पहली पत्नी से इनका इकलौता लड़का अमरकान्त है और दूसरी से एक लड़की नैना। अमरकांत को अपनी शिक्षावस्था में भी खर्च के सम्बन्ध में कठिनाई का सामना करना पड़ता है क्योंकि सेठ जी समझते थे कि जो रुपया पढ़ने लिखने पर खर्च होता है, यह फ़िजूल खर्ची है। जब पढ़ ही रहा था तो अमरकांत का विवाह लखनऊ की एक मालदार विधवा की सुन्दर, फैशन पर प्राण देने वाली, अहवादी, तेज इकलौती लड़की सुखदा से हो जाता है। अमरकान्त पहले से ही अपने परायों की घुड़की से बेजार था। इस गरीब को बीबी भी मिली तो ऐसी कि मुहब्बत से अधिक हुकूमत करती। दोनों के स्वभाव जैसे विपरीत ध्रुव हों। यह सादगी पसन्द, उसे २४ घंटे सोलह शृंगार से फ़ुरसत नहीं मिलती। अन्त में जब अमरकांत की पढ़ाई-लिखाई खत्म हो गई तो सेठ जी ने कहा कि वह घर का कारोबार सँभाले और उन्हें घर-गृहस्थी की झंझटों से आजाद करे। अमरकान्त को पिता के छल फरेब के ढंग सीखने से नफरत थी, भला वह उनके चरण चिन्हों पर कैसे चले? वह सब कुछ छोड़ कर घर ही से निकल खड़ा होता है और हरिद्वार के करीब एक गाँव में जाकर डेरा जमाता है। वहाँ उसने गरीब चमारों के बच्चों को शिक्षा देना शुरू किया। अछूतों के लिए मन्दिरों के दरवाजे खोलने के लिए एक सफल सत्याग्रह होता है, उसमें सुखदा प्रधान भाग लेती है। अन्त में मजदूरों के लिए घर बनाने की जरूरत होती है। अमरकांत की पत्नी और कुछ दूसरे स्थानीय नेताओं की इच्छा थी कि एक विशेष भूभाग इस काम के लिए दिया जाय लेकिन बोर्ड इसे स्वीकार नहीं करता। फल यह होता है कि बोर्ड के इस

फैसले के खिलाफ हड़ताल होती है जिसमें अमरकांत की स्त्री, पिता, सास और उस्ताद डाक्टर शान्तिकुमार गिरफ्तार हो जाते हैं। उसकी बहन नैना शहीद बन जाती है। यह बलिदान रङ्ग लाता है। बोर्ड सब माँगें पूरी करता है और मजदूरों की बस्ती बन जाती है।

जहाँ अमरकान्त है वहाँ भी इस तरह की ही परिस्थितियों का चक्र चल रहा है। सुखदा कार्य-क्षेत्र में आगे बढ़ गई, वह पीछे रह गया। इस भाव की लांछा से अमर आगे कूद पड़ता है। प्रेमचन्द ने इस उत्तेजना का उल्लेख इन शब्दों में किया है—"शासन का वह पुरुषोचित भाव मानों उसका परिहास कर रहा था। सुखदा स्वच्छंद रूप से अपने लिए मार्ग निकाल सकती है, उसकी उसे लेशमात्र भी आवश्यकता नहीं है, यह विचार उसके अनुराग की गर्दन को जैसे दबा देता था। सुखदा उससे पहले समर में कूदी जा रही है, यह भाव उसके आत्म-गौरव को चोट पहुँचाता था।"

किसानों पर लगान वसूली के लिए स्वीकृतियाँ होती हैं। इससे प्रभावित हो मालगुजारी कम करने का आन्दोलन होता है। अमरकांत इस आन्दोलन का प्राण है। हुकूमत सख्ती करती है, पकड़ धकड़ शुरू होती है। अमरकांत और कितने ही कार्य-कर्ता जेल में ठूँस दिये जाते हैं। अन्त में कुछ लोगों के बीच में पड़ने से सरकार एक कमेटी बिठा देती है कि परिस्थितियों पर खोज करके रिपोर्ट करे। दोनो आन्दोलनों के कैदी लखनऊ जेल से एक ही दिन छूटते हैं। इस तरह सब बिछुड़े खुशी खुशी मिलते हैं।

इस प्रधान कथा के साथ अप्रासङ्गिक रूप से मुन्नी की कहानी चलती है। गाँव की रहने वाली है। दो गोरों ने उस

पर बलात्कार किया है। इससे उसके धर्मिष्ठ हृदय में भीषण प्रतिक्रिया उठती है। प्रेमचंद के शब्दों में वह सोचती है—"उसकी जिस अमूल्य वस्तु का अपहरण किया गया था, उसे कौन याद दिला सकता था ? दुष्टों को मार डालो, इससे तुम्हारी न्याय बुद्धि को सन्तोष होगा, उसकी तो जो चीज़ गई, वह गई"

शायद प्रेमचन्द यह कहना चाहते हैं कि भारतीय स्त्री में सतीत्व की भावना बड़ी ऊँची है और उसका आधार संस्कार जन्य मनोभाव है। इसके बाद मौका पाकर एक दिन मुन्नी दो गोरों की हत्या कर देती है। वह पकड़ ली जाती है और उस पर मुक़दमा चलता है। नगर के संभ्रान्त, जिनमें अमरकान्त भी है, मुकदमें में भाग लेते हैं, चन्दा उघाते हैं। आखिर मुन्नी बरी हो जाती है। परन्तु वह अपने पति और बच्चे की छाया से बचना चाहती है—ऐसा घृणित समझती है अपने को। पहले मरने का प्रयत्न करती है। जब नहीं मर सकती तो हँस बोल के जीवन बिता देना चाहती है। अब वह चमारों के गाँव में पहुँच गई है। यहीं अमरकांत से उसकी भेंट होती है। धीरे धीरे दुर्बल मनोबल वाला अमरकान्त मुन्नी की ओर आकृष्ट होता है; परन्तु मुन्नी सतर्क है, मुन्नी आगे नहीं बढ़ने देती। स्वयं मुन्नी जब उसकी ओर बढ़ती है तो अमरकांत संकुचित हो जाता है।

प्रश्न यह उठता है कि चरित्र-चित्रण और वस्तुविन्यास में प्रधानता किसे दी जाय। भाग्यवादी उपन्यासकारों के उपन्यासों का कथानक घटनाओं द्वारा संचालित होता है, किन्तु जो लेखक यह समझते हैं कि पात्र स्वयं अपना निर्माण करते हैं, विषम से विषम परिस्थिति में स्वयम् मार्ग ढूढ़ लेते हैं, स्वालम्बन और क्रियात्मक कार्य में विश्वास करते हैं, उनके पात्र समाज का स्वयम् निर्माण करते हैं। पात्र प्रधान कहानियाँ जीवन की मीमांसा

करने में अधिक सहायक होती हैं। पात्रप्रधान होने के कारण उनमें जीवन की असीम शक्ति रहती है। वे चरित्र-चित्रण के बदले जीवन की समस्त क्रियाओं को परीक्षा रूप से निरूपण करते हैं। उनकी कथाओं में दैवी घटनाओं की प्रधानता रहती है। कहानी विनोद-व्यङ्गपूर्ण भले ही हो, घटना भले ही आश्चर्यान्वित कर दे, परन्तु ये मानवीय विकास का प्रदर्शन करने में असफल रहते हैं। कारण कि वे तो यही जानते हैं कि चाहे जितना प्रयत्न करो वही होगा जो भाग्य में लिखा होगा। ऐसी दशा में वे भाग्य के या घटनाओं के पुतले हो जाते हैं और वे घटनाएँ ही पात्रों का निर्माण करती हैं। मानवीय शक्तियों के खोजने का कोई साधन नहीं रह जाता। मानवजीवन का आकर्षण और रहस्य मात्र प्रधान कहानियों में ही है। व्यक्ति के भीतर अभिव्यक्ति का नाम ही संसार है। अतएव जितना ही व्यक्तित्व का विश्लेषण किया जायगा उतना ही जीवन का विश्लेषण होगा, जीवन की समीक्षा होगी। इसमें संदेह नहीं कि वस्तु और पात्र एक दूसरे से प्रभावित होते हैं परन्तु प्रधानता पात्र की ही होती है।

कर्मभूमि पात्रप्रधान है, यद्यपि कुछ घटनाएँ ऐसी रखी गई हैं जो पात्र का मार्ग प्रशस्त करती हैं; जैसे गोरों द्वारा बलात्कार से सताई अबला की घटना से सलीम और अमर को प्रभावित करके उनके लिए नवीन कर्मपथ प्रशस्त किया गया है। यह एक ऐसी घटना है जिसने कर्मभूमि को शक्ति दी है। आगे चलकर इसी स्त्री ने दो गोरों की हत्या की है। अमर के दिनरात के परिश्रम के बाद मुन्नी छूटती है किन्तु मर्यादाहीन होकर बच्चे को झटक कर चली जाती है। आदर्शवादी होने के कारण प्रेमचंद ने मुन्नी को रिहा तो करा दिया परन्तु वे उसे सामाजिक जीवन में ग्रहण नहीं कर सके।

कर्मभूमि में प्रेमचन्द ने पात्रों के कार्य का विकास बड़े मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से किया है। पात्र-विकास का प्रधान साधन-जन-सेवा है। इसके दो सूत्र हैं :—

१—अमरकान्त जो दलित जातियों के प्रति सहानुभूति प्रगट कर उनका उत्थान करता है।

२—सुखदा—नागरिक संघर्ष में म्युनिसिपैल्टी से ज़मीन दिलाती है।

अमर कर्मयोगी है। उसकी सहायता सलीम द्वारा होती है। अमर स्वयम् वातावरण बना लेता है। उसे किसी की भी आवश्यकता नही पड़ती। परन्तु सुखदा के अनेक सहायक हैं—पठानिन, समरकांत, शांतिकुमार, रेणुका और अंत में नैना। कथा के बीच में प्रेमचन्द ने नैना की मृत्यु का आयोजन किया है। वह उसे विलासी निर्दयी पति के हाथ में पड़ जाना सहन नहीं करना चाहते, अतएव उन्होंने एक सद्कार्य में उसकी मृत्यु हो जाना हीं उचित समझा है।

अमर का विकास संघर्षमय परिस्थितियों में किया गया है। महाजनों की नौकरी ही इस बात का संकेत करती है कि उसके अन्दर स्वावलम्बन का बीज है जो समय पाकर अंकुरित होगा।

कथावस्तु में कुछ घटनाएँ मनोरञ्जन के लिये भी रखी गई हैं, जैसे स्त्री की मर्यादा और विजातीय प्रेम। किन्तु प्रेमचन्द सकीना और अमर के प्रेम को इतना बढ़ा कर भी उनका विवाह नहीं होने देते कि हिंदू मर्यादा भंग हो जायगी। सुखदा का जीवन अंधकारमय हो जाय, यह वह नहीं देख सकते।

अन्त में, कथावस्तु की चर्चा समाप्त करते हुए हम यह कहना चाहेंगे कि प्रेमचन्द पात्रों का विकास करते हैं, घटना को प्रधानता

नहीं देते। वह मानवीय समाज के प्रति सहानुभूति प्रगट करने की ओर उन्मुख हैं। इस प्रकार वे साधारण उपन्यासकार की कोटि से ऊपर उठ जाते हैं।

कर्मभूमि के प्रधान चरित्र हैं अमर, सुखदा, नैना, सकीना, समरकान्त और सलीम। प्रेमचन्द ने इनका विशद चित्रण किया है, यद्यपि छोटे मोटे और भी कितने पात्र आते हैं। चरित्र-चित्रण में पहली बात जो आकर्षित करती है, वह यह है कि लेखक का आदर्श इतना शक्तिशाली हो गया है कि सब पात्र एक विशिष्ट पथ की ओर अग्रसर होते हैं। अमरकांत-सुखदा जिस सूत्र का संचालन करते हैं उसके लिये जेल जाकर विजय प्राप्त करते हैं तो कोई बात नहीं, किन्तु जीवन के विभिन्न वातावरणों में कार्य करने वाले इतने प्रभावित हो जायें और जेलखाने भर दें यह बात ऐसी है कि इसमें वे अपने आदर्श और स्वतंत्र विचार से न दब कर लेखक के आदर्श से दबे हैं। प्रेमचन्द के आदर्शवाद ने सभी चरित्रो को आदर्श पर गढ़ा है। नहीं तो, भिन्न व्यक्तियों, भिन्न-भिन्न वर्गों के भिन्न परिस्थितियों के पात्रो का एक ही आदर्श की ओर आकर्षित हो जाना क्या सम्भव है? इसी आदर्शवाद के कारण चरित्र-चित्रण में अस्वाभाविकता आ गई है, कथा भी विकृत हो गई है। सलीम को इस्तीफा देने की क्या जरूरत थी? मित्र होते हुए भी वह विरोध करता तो कदाचित् उसका चरित्र अधिक मनोवैज्ञानिक होता और यदि सलीम विजयी अमर से मिलता तो शायद अच्छा होता। यदि सलीम इस्तीफ़ा न दिये होता तो सलीम की जय होती। फिर एक स्थान के छोटे से आन्दोलन में इतने मनुष्यों को एक आदर्श में जकड़ देना अच्छा नहीं हुआ।

परन्तु समरकांत का परिवर्तन स्वाभाविक है और उसके

लिये प्रेमचन्द ने परिश्रम किया है। उसका पुत्र, पुत्रवधू आदि सभी जेल चले जाते हैं तब अत्यन्त मानसिक संघर्ष के बाद समर राष्ट्रीय जीवन में उतरता है। उतने संघर्ष से और पात्रों का मन भी परिचित नहीं। इसी से प्रतीत होता है कि पात्र प्रेमचन्द के आदर्शवाद से दब गये हैं।

फिर इस उपन्यास में संघर्ष की भावना है, विरोध है, परन्तु वह हलका है। अमर के सामने पिता का विलासमय जीवन और सुखदा की उच्छृङ्खलता है। वह संघर्ष भी पुत्र होने पर भाग जाता है, परन्तु वह कालेखाँ से अब भी कड़ा नहीं लेता। यदि भिन्न प्रकार के पात्र आ जाते और उसके आदर्श के रास्ते में खड़े हो जाते, तो संघर्ष भली प्रकार प्रस्फुटित हो जाता। परन्तु विरोधी पिता है, वात्सल्य से पूर्ण है, और अमर अपने आदर्शों और विचारों से इतना दबा है कि लड़ नहीं पाता, भाग खड़ा होता है।

संघर्ष जो है वह अमर के भीतर से है, बाहर नहीं है। अमर का कोई भी प्रतिद्वन्द्वी नहीं है। भीतर के गढ़े हुये आदर्शों से ही उसका संघर्ष है। इसी से संघर्ष में विकास के लिए अधिक स्थान नहीं है। प्रेमचंद ने एक दुर्बल परन्तु आदर्शवादी चरित्र को परिस्थितियों के विद्रोह में खड़ा किया है और उसमें शक्ति भरने की चेष्टा की है। वह आरम्भ में ही कहता है—

"हमें धन की जरूरत नहीं है। जीवन में परीक्षा करना चाहता हूँ।" (पृष्ठ १५)

"जो आदमी उपार्जन न कर सके, उसे सिनेमा देखने का अधिकार नहीं।" (पृष्ठ २०)

यही आदर्श उपन्यास के बीज हैं, सूत्र हैं। इन्हीं को लेकर अमरकान्त नहीं बैठ सकता। वह जीवन की प्रयोगशाला में खद्दर बेचना शुरू कर प्रवेश करता है। "अमर ने तिरस्कार भरे भाव से कहा—मै मजदूरी कर सकता हूँ और दिखा सकता हूँ कि मै मजदूरी करके जनता की सेवा कर सकता हूँ।" (पृ० ५३)

यही आदर्शवादिता उसे कर्मक्षेत्र में आगे बढ़ाती है। पहले नगर की कांग्रेस कमेटी का मेम्बर बन जाता है, फिर मुन्नी के मामले को हाथ में लेता है, फिर घर से भाग कर चमारो के सुधार की समस्या में अटकता है, अंत में लगानबंदी के आन्दोलन पर समाप्त करता है।

अमर के चरित्रविकास की कथा में सकीना और मुन्नी की कथाएँ प्रासङ्गिक रूप से ही आती हैं। चमारो के गाँव में मुन्नी के होने की क्या जरूरत थी—उसके न होने पर भी सुधार के लिए क्षेत्र उपस्थित था। फिर मुन्नी का सारा चरित्र इतने ऊँचे आदर्शवाद पर खड़ा किया गया है, कि अस्पष्ट हो जाता है। चूँकि मुन्नी पतित हो गई है, इसलिये उपन्यासकार ने उसे पति से मिलने नहीं दिया परंतु यही मुन्नी फिर अमर को लेकर प्रेम का खिलवाड़ किस ऊँचे आदर्शवाद को लेकर करती है? मुन्नी को लेकर प्रेमचन्द ने हिन्दू स्त्री का एक ऊँचा चरित्र हमें देना चाहा है। हमारे कुछ अपने धार्मिक विश्वास है। उनमें से एक सतीत्व की भी भावना है। प्रेमचन्द ने यह दिखाया है कि यह भावना समाज में कितनी गहरी पहुँच गई है, कि हमारी पत्नियाँ उसे किस प्रकार अनुभूति-मात्र से ग्रहण कर लेती हैं। मुन्नी के दृष्टिकोण से यही सिद्ध किया गया है कि हिन्दू नारी अपने पतिव्रत के सम्बन्ध में कितनी सतर्क, सूक्ष्मान्वेषिणी

और दृढ़ रहती है। परन्तु उत्तर भाग में प्रेमचन्द कथा की सुंदरता में बह गये। शायद यह बताना चाहते हैं कि परिस्थितियाँ मनुष्य को क्या कर देती हैं।

'कर्मभूमि' बड़ा सार्थक नाम है। प्रेमचन्द यह दिखाना चाहते थे कि जीवन के विकास के लिए अन्तर्द्वन्द की आवश्यकता है, विशेष कर भिन्न-भिन्न प्रकार के आदर्शों में मनुष्य कर्म करता है—और उसी के द्वारा यह विकास प्राप्त होता है क्योंकि परिस्थितियाँ मनुष्य को टकराती हैं तो उसकी प्रवृत्तियों को धक्का लगता है और वह एक हद तक बदलने की चेष्टा करती हैं। भावनाओं के क्षोभ के कारण जो आत्मपीड़न होता है, वही समय मिलने पर मनुष्य को दूसरा आदमी बना देता है। अमरकांत को लो। दुबला पतला तो था ही, पर साथ ही उसकी मनोवृत्तियाँ भी इतनी ही दुर्बल थीं। बड़े घरानों में पिता या अभिभावक का एकतंत्र शासन होने के कारण लड़के की जो दुर्गति हो गई है, वह उसकी भी हो गई थी। उसमें आत्मविश्वास नहीं था, साहस नहीं था, संक्षेप में वह कर्मभूमि के लिए तैयार ही नहीं हो पाया था। बाद को सुखदा-जैसी दृढ़-विश्वासी और साहसी लड़की से विवाह होने से कारण कुछ इस तरह की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई कि वही अमर दूसरों के दुख-सुख के लिए सब कुछ सहन करता है। वह सुखदा को बढ़ावा देने पर पिता से अलग हो जाता है। छोटी-सी गृहस्थी का भार उसके सिर पर पड़ता है। तब वह कर्मशील हो जाता है।

प्रेमचन्द का इस कथा में संदेश यह है कि तप, साधना और ज्ञान के अतिरिक्त मानसिक भावनाओं के विकास का एक और मार्ग भी है। वह साधारण जनों का मार्ग है—संसार को स्वीकार करो, उसमें निरंतर संघर्ष है, व्यक्तियों का, भावनाओं का,

आदर्शों का और उसमें गुजरते हुए धीरे-धीरे उसी शांति की ओर बढ़ोगे जो किसी भी कठिन व्रत साधना से मिले। इसी से तुमने देखा है कि उपन्यास के अंत में प्रेमचन्द ने अपने पात्रों के जीवन में आई हुई शांति की ओर इशारा किया है। कर्म का फल अवसाद नहीं होना चाहिये, वह तो अमरशांति का पेश-खेमा है।

१२

गोदान (१९३६)

अपने अन्य वृहद् उपन्यासों की भाँति प्रेमचंद नें अपने अंतिम उपन्यास गोदान में भी दो कथावस्तुएँ रक्खी हैं। उनमें एक मुख्य हो, दूसरी प्रासङ्गिक यह बात नहीं। दोनों कथाएँ सामानांतर रेखा पर लगभग बिना मिले ही चली जाती हैं। एक कथा का नाम हम 'होरी की कथा' रख सकते हैं और दूसरी कथा को 'राय साहब और उनके मित्रों की कथा' कह सकते हैं।

दोनों कथाओं में सम्बन्ध केवल इतना है कि होरी का लड़का गोबर मिर्ज़ा के यहाँ नौकर हो जाता है और होरी का गाँव राय साहब की ज़मींदारी में है। दोनों कथाएँ इतनी असबद्ध हैं कि उनके अध्यायों को अलग-अलग कर देने पर दो भिन्न-भिन्न उपन्यास बन जाते हैं। वास्तव में, राय साहब और उनके मित्रों की कथा उपकथा न होकर नागरिक जीवन का रेखाचित्र मात्र है। यदि प्रेमचंद कथावस्तु को होरी के जीवन-चरित्र तक ही सीमित रखते तो वह अत्यन्त श्रेष्ठ कलाविज्ञता का परिचय देते। परन्तु प्रासङ्गिक कथा रखने की जो मनोवृत्ति इनमें थी, वह पूर्णतः तुष्ट न होती। वास्तव में एक दृष्टिकोण से यह दोनों कथाएँ क्रमशः ग्रामजीवन और नागरिक जीवन की कथाएँ हो जाती हैं।

गोदान में प्रेमचंद का दृष्टिकोण पहली बार बदला है। उन पर वस्तुवादी सिद्धांतों और कलाकारों का गहरा प्रभाव पड़ा है। अब तक वे आदर्शवाद के पोषक थे। अब उनके यथार्थ-चित्रण ने आदर्शवाद का चोला उतार दिया है और वह अपने नग्नतम रूप में उपस्थित हुआ है। इस उपन्यास में प्रेमचंद एक साथ समाज, व्यक्ति, धर्म, ईश्वर, न्याय सब के अस्तित्व पर शंका उपस्थित करते हैं और इनके शिकंजे में फँसा हुआ मानव जीवन कितना पंगु हो जाता है, यह बताते हैं। इसीलिए उनका होरी उनके अन्य ग्रामीण पात्रों और उनके उपन्यासों के और नायकों से मिला है। वह पग-पग पर रूढ़िग्रस्त, कुटुम्ब की इज्जत पर प्राण देने वाला, भीरु, आदर्शवादी और असफल मनुष्य है। वह सचमुच आधुनिक ग्रामीण का सच्चा प्रतिनिधि है। उसके जीवन की असफलता से ही प्रेमचंद ने अपने पिछले आदर्शवादी दृष्टिकोण पर चोट की है।

दोनों कथाओं को अलग-अलग रखना ठीक होगा।

होरी की कथा

होरी बिहारी गाँव का महतो है। ४-५ बीघे जमीन जोतता है। छोटा सा आसामी है परन्तु अपने परिश्रम से अपनी प्रतिष्ठा बनाए हुए है। पत्नी है धनिया, पुत्र गोवर है। दो भाई हैं सोभा और हीरा। दोनों को उसी ने पाला-पोसा, विवाह किया। खुद उसके दो लड़कियाँ हैं सोना, रूपा। सोना विवाह के उम्र की है। उसकी होरी को चिंता है। विवाह के बाद भाइयों ने लड़-झगड़ कर बँटवारा कर लिया है। अलग-अलग रहते हैं। इससे होरी की आर्थिक स्थिति और भी विषम हो गई है।

हाँ, होरी व्यवहार जानता है। सरल हृदय राय साहब को सलाम कर आता है। इससे थोड़ी सहूलियत भी है।

आज वह इसी तरह राय साहब के यहाँ जा रहा था। अपनी ऊख की खेती को लहलहाता हुआ देख कर भविष्य की कल्पना करने लगा—कि फ़सल हो गई, परमात्मा की दया हुई तो वह एक पछांई गाय ले आयेगा परन्तु "न जाने कब यह साध पूरी होगी, कब वह शुभ दिन आयेगा।......हर एक गृहस्थ की भाँति होरी के मन में भी गऊ की लालसा चिरकाल से सञ्चित चली आती थी। यही उसके जीवन का सबसे बड़ा स्वप्न, सबसे बड़ी साध थी।" रास्ते में भोला से भेंट हुई जो इसी गाँव (बिहारी) से मिले पुरवे का ग्वाला था। मन की साध जाग उठी। भोला की बहू लू लगने से मर गई थी। उसे अब भी स्त्री की लालसा थी। होरी ने उसे आस दिलाई तो वह उसे ८० रुपये की पछाँईं गऊ सौंपने को राजी हो गया। फिर उससे भूसे की कमी की शिकायत की। होरी सज्जन था। किसी को कष्ट देकर लाभ नहीं उठाना चाहता था। उसने गऊ लेने से इंकार कर दिया। परन्तु उसे (भोला को) मुफ्त में भूसा देने का वचन दिया। दूसरे दिन भोला घर आया और धनिया के कहने-सुनने पर भी होरी गोबर को साथ ले तीन टोकरी भूसा भोला के घर डाल आया। यहाँ गोबर की भेंट भोला की विधवा कन्या झुनिया से हुई। दोनों जी दे बैठे।

सब कुछ तो हट गया था पर बाँस बचे रह गये थे। होरी ने उन्हें दमड़ी बसोर के हाथ १५०) नफ़े पर बेच दिया। बसोर काट रहा था कि हीरा की पत्नी पुनिया ने विरोध किया। अच्छा खासा झगड़ा उठ खड़ा हुआ। ख़ैर, झगड़ा शांत हो गया। शाम को गोबर गाय लेकर पहुँचा जो अँगनाई में बाँध दी गई।

बड़ी अच्छी गाय थी, सब देखने आए, हीरा-पुनिया न आये। होरी को यह बात खटक रही थी—परंतु धनिया जानती थी हीरा ईर्ष्या के मारे जला जा रहा है।

परंतु होरी तो भाइयो पर जान देने वाला, कुटुम्बियों पर प्राण देने वाला ठहरा! उसे चैन कहाँ? वह हीरा और शोभा को गाय देखने के लिए बुलाने चला। अँधेरे मे उसने सुना हीरा और शोभा दोनों बातें कर रहे हैं उसके विषय में—कि बँटवारे के पहले के रुपये है जो निकल रहे हैं। उलटे पाँव लौट आया।

एक दिन हीरा ने गाय को माहुर ही दे दिया। होरी यह बात जानता था, धनिया से कह ही दी और इस पर तूफान मच गया। हीरा उसी समय घर से भाग गया। चौकीदार ने पुलिस में इत्तला की। थानेदार आये—उन्होने गरज कर कहा—हमें हीरा के घर की तलाशी लेनी है। इस बार फिर होरी का कुटुम्ब का अभिमान जाग पड़ा। चाहे जो हो, तलाशी न हो। हीरा है नहीं। उसकी अनुपस्थिति में तलाशी होगी, उसकी नाक कटेगी कि जायगी। वह कर्ज लेकर घूस देने के लिए तैयार हो गया परंतु धनिया ने तेजस्वी बन कर सबको चकित कर दिया। थानेदार (दारोगा) चुप-चुप लौट गये और होरी की इज्जत भी बच गई।

हीरा गायब था। उसकी स्त्री पुनिया घर बैठी थी। वह अकेली जान, कैसे काम-काज सँभाले? होरी ने ही हीरा के खेत गोड़े, तन-मन एक कर दिया, सारा कष्ट अपने ऊपर ओढ़ लिया। परन्तु इस विपत्ति में एक घटना ऐसी हो गई जिसने उसकी कमर ही तोड़ दी।

गोबर का झुनिया से हेल-मेल रङ्ग लाया। झुनिया को पाँच

महीने का गर्भ था कि वह होरी के दरवाज़े आ खड़ी हुई। गोबर भाग गया परन्तु होरी और धनिया ने उसकी बात निभाई। संसार भर के लांछन सहे। तावान में सारा खलिहान तौल दिया और ८० रुपये पर मकान भी गिरवी रख दिया। बैल भी चले गये। अब वह किसान से मज़दूर हो गया। पं० दातादीन ने आधो बँटाई पर खेतों के लिये बीज और बैलों का बन्दोबस्त कर दिया। संक्षेप में, इस घटना के बाद बिरादरी की पूजा कर होरी का कुटुम्ब खेतिहर से मजदूर बन गया। झुनिया के लड़का हुआ मंगल, परन्तु गोबर का अब भी पता नहीं था। उसने लखनऊ में नौकरी कर ली थी। पैसा-पैसा जोड़ रहा था। वर्ष भर के बाद वह घर लौटा तो घर की बिगड़ी दशा देखकर चकित हो गया। उसने दो सौ रुपया जमा किये थे, उनका बल था। वह गाँव का छोकरा नहीं था, शहर में जाकर चालाक और व्यावहारिक हो गया था। उसने होरी को कर्ज़ की दलदल से छुटाने के लिए चातुरी के अस्त्रों का प्रयोग किया—परंतु होरी की रूढ़िप्रियता, उसका संस्कार-भीरु-हृदय, उसका सोधापन, उसका जीवन-दर्शन पग-पग पर उसके बाधक बनते। वह हार गया और चिढ़कर अपनी स्त्री-बच्चे को लेकर गाँव चला गया।

जो रहा था, होरी ने उसे बेच कर सोना का विवाह किया। अब वह कंकड़ ढोने लगा था। सोना के विवाह में गोबर नहीं आ सका था। परंतु रूपा के विवाह में आया। उसने माता-पिता की दयनीय दशा देख कर भी कुछ नहीं किया, उसका इल्ज़ाम उन्हीं पर रखा। वह लौट गया। होरी ने संतोष की साँस ली। वह अपने पापों का फल आप ही भोगना चाहता था।

इतने में हीरा लौटा। होरी ने इतने दिनों उसकी गृहस्थी पाली थी, उसकी आँखों में कृतज्ञता के आँसू थे। होरी इतने में

ही धन्य हो गया। उसने अपने जीवन को सार्थक समझा। परंतु उसकी देह बराबर गिरने लगी थी। एक दिन उसे मजदूरी करते हुए लू लग गई। धनिया उसे डोली में डालकर घर ले आई। घर पहुँच कर होरी चंद घंटों का ही मेहमान रहा।

राय साहब और उनके मित्रों की कथा

रायसाहब और उनके मित्रों की कथा 'गोदान' की मुख्य कथा नहीं है। वह पूर्ण रूप से कथा भी नहीं कही जा सकती। यदि हम उसे अवांतर प्रसंग कहें तो यह ठीक होगा। यह अवांतर प्रसंग मुख्य कथा के समानान्तर चलता रहता है, कहीं-कहीं दो कथाओं की रेखाएँ मिल भी जाती हैं, परन्तु कथा-संगठन भी शिथिल है। होरी के गाँव के मालिक रायसाहब हैं और रायसाहब के मित्र इसी गाँव को अपनी जन-सेवा और सैर-सपाटे का लक्ष्य बनाते हैं। यही दोनों का संबंध है। स्पष्ट है कि इस नगण्य से संबंध से दोनों कथायें एक अभिन्न सूत्र में बँध नहीं सकतीं।

रायसाहब का नाम अमरपालसिंह है। वे रईस हैं, ज़मींदार हैं, कांग्रेसी हैं। वे एक साथ जनता और सरकार से बनाये रखने वाले आसामी हैं। उनके एक मित्र हैं "दैनिक बिजली" के संपादक ओंकारप्रसाद। रायसाहब जनता की आँखों में धूल झोंकते रहे, इस लिए उनकी समय-समय पर पूजा भी हो जाती है। रायसाहब के एक मित्र मि० खन्ना भी हैं जिन्होंने एक मिल खोल रखी है। बाद में होरी का लड़का गोबर इसी मिल में काम करता है। 'गोदान' मुख्यतः गाँव का उपन्यास है, परन्तु गोबर का चित्रण करते हुए प्रेमचंद मजदूर और मिल मालिकों के संघर्ष को भी स्पष्ट रूप से सामने लाते हैं। खन्ना की मिल में हड़ताल

हो जाती है। मिल-मालिक नये मजदूरों की भरती करता है। नये और पुराने मजदूरों में सिर-फुड़ौव्वल हो जाता है। गोबर भी जख्मी होता है। परन्तु मिल भी नहीं बचती। उसमें आग लग जाती है और दस लाख रुपयों की मिल कुछ देर में राख का ढेर बन जाती है।

गोदान के इस संभ्रांत परिवार के दो और व्यक्ति मालती और मेहता हैं। मेहता दार्शनिक है, मालती पढ़ी-लिखी तितली। पहले वे इन कई संभ्रांत पात्रों को लेकर खिलवाड़ करती है, परन्तु अंत में वह मेहता के ही अधिक पास आने लगती है। मेहता का गंभीर्य और उनका आदर्शवाद उसे छू गया है। दोनों जन-सेवा का पाठ पढ़ने होरी के गाँव जाते हैं। परन्तु गाँव का सुधार वह क्या करते! सच बात तो यह है कि उनका ग्राम-प्रवास तो कुछ कोर्टशिप जैसा हो गया है। इस प्रवास में मेहता और मालती ने भावुकतापूर्ण जो उद्गार प्रगट किये हैं वे उनके अनर्गल—बहुत कुछ अव्यावहारिक—विचार मात्र हैं। इससे अधिक कुछ नहीं। गाँव की मूल समस्याओं को वे छू ही नहीं सकते। इतनी क्षमता उनमें नहीं है। जान पड़ता है मालती और मेहता को लेकर प्रेमचद प्रेम और विवाह की समस्याएँ सुलझाने चले हैं। परन्तु वे स्वयं उलझ कर रह गये हैं।

परन्तु रईसों के जीवन का बड़ा सुन्दर और मार्मिक चित्र भी 'गोदान' में मिलता है। उनका परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, उनकी ऐयाशी, शादी-विवाह के अवसर पर फ़िजूलखर्ची और इस फ़िजूलखर्ची के लिए किसानों का गला दबाना, उनका पारिवारिक असंतुष्ट, कलहपूर्ण जीवन—सच तो यह है कि बहुत थोड़े पृष्ठों में रईसी जीवन के सारे खोखलेपन को प्रेमचंद ने उभार दिया है। जमीदारों ने गाँव को चूस लिया है, तो उनमें स्वयं भी बहुत कुछ

नहीं रहा है। थोथी दिखावा मुक़दमेबाजी, कौंसिल की मेम्बरी के लिए दौड़ धूप और उपाधि-प्राप्ति के लिए अधिकारियों का चरण-चुंबन—यही उनका जीवन है। होरी सुखी नहीं है तो राजा अमरपालसिंह भी सुखी नहीं हैं। गाँव की दुर्दशा के समकक्ष शहरी जीवन के खोखलेपन को रखकर प्रेमचंद ने आधुनिक भारत की महान शून्यता की ओर इंगित किया है। क्या नगर में, क्या गाँव में, जीवन का स्रोत जैसे सूख गया है। प्रेमचंद यह नहीं बताते कि इनमें रस का संचार कैसे हो, परन्तु यह बताना कलाकार के लिए आवश्यक भी नहीं है। समस्या का निदान करना राजनीतिज्ञ, समाज सुधारक और विचारक का काम है, उपन्यासकार का काम तो जीवन के गले सड़े अंगों को ऐक्स-रे की किरणे डालकर उभार लाना है। सेवासदन, प्रेमाश्रम, निर्मला प्रभृति उपन्यासों में प्रेमचंद ने समस्याओं के निदान भी दिये हैं, परन्तु वह समाधान निर्बल हैं और उनसे युग की माँग पूरी नहीं होती। अपनी अंतिम रचनाओं में प्रेमचंद अधिक सतर्क हैं। वस्तुवादी कथाकार की तरह वह समस्या को सामने रखकर हट जाते हैं और निष्कर्ष निकालने के लिये पाठक को स्वच्छंद छोड़ देते है।

'गोदान' और उसके पूर्ववर्ती उपन्यासों में कला और दृष्टिकोण का महान अंतर है और उसे समझे बिना प्रेमचद की प्रगतिशीलता को समझना सरल नहीं है। पहले हम दृष्टिकोण की बात लेंगे। अपने पहले उपन्यासों में प्रेमचंद जीवन के प्रति आदर्शवादी दृष्टिकोण रखते हैं और वह सत्य, अस्तेय, अन्याय-प्रतिकार (एक शब्द में, गाँधीवाद) को गाँव और शहर के सब झगड़ो का हल बताते हैं। 'गोदान' और 'कफ़न' संग्रह में प्रकाशित कहानियों में हम प्रेमचद के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन देखते

हैं। लगभग १६३१ से ही वह वस्तुवाद की ओर तीव्र गति से बढ़ रहे हैं। 'ग़बन' (१६३१) इसका प्रमाण है। उसमें उन्होंने परंपरा-विरुद्ध एक अत्यंत दुर्बल-चरित्र व्यक्ति को नायक का स्थान दिया है। 'कर्मभूमि' (१६३२) और गोदान (१६३६) में उन्होंने वस्तुवाद की ओर एक और क़दम आगे बढ़ाया है। वास्तव में रमानाथ, अमरकांत और होरी एक ही श्रेणी के चरित्र हैं। सूरदास जैसा कोई भी आदर्शवादी, धीरोदात्त चरित्र इन परवर्ती रचनाओं में नही मिलेगा। उपन्यास के अंत में प्रेमचंद कोई भी समझौता उपस्थित नहीं करते। वह नग्न परिस्थितियों का चित्रण करते हैं और होरी की सारी मजबूरियों को उसी तरह, अपनी ओर से काटे-छाँटे बिना पाठक के सामने उपस्थित कर देते हैं। यही मजबूरियाँ उसे सोचने के लिए विवश करेंगी।

एक बात और विचारणीय है। अब तक प्रेमचंद गाँधीवाद पर ध्रुव श्रद्धा रखते थे। प्रेमाश्रम, कायाकल्प और रंगभूमि में गाँधीवादी जीवन, दर्शन और गाँधीवादी राजनैतिक और सामाजिक संघर्षों को उन्होंने अपना पथप्रदर्शक माना है। इस उपन्यास में उन्होंने इस लीक से हट जाना ही उचित समझा। वह गाँधीवाद और गाँधीवादियों की खिल्ली उड़ाने से भी नहीं चूकते। राय अमरपालसिंह एक ओर जमीदार हैं, हाकिमों के जूते चाटते हैं, दूसरी ओर कांग्रेसवादी। इनके संबध में प्रेमचंद लिखते हैं—पिछले सत्याग्रह संग्राम में रायसाहब ने बड़ा यश कमाया था। कौंसिल की मेम्बरी छोड़कर जेल चले गये थे। तब से उनके इलाके के असामियों को उनसे बड़ी श्रद्धा हो गई थी। ये नहीं कि उनके इलाके में असामियों के साथ कोई ख़ास रियायत की जाती हो, या डाँड़ और बेगार की कड़ाई कुछ कम हो, मगर यह सारी बदनामी मुख्तारों के सिर जाती थी। रायसाहब की कीर्ति पर,

कोई कलंग नहीं लग सकता था। इस प्रकार के अनेक व्यंगचित्र 'गोदान' में मिलेंगे। पिछले उपन्यासों में प्रेमचंद की गाँधीवाद पर असीम श्रद्धा थी, परन्तु इस उपन्यास में रायसाहब खन्ना और ओंकारनाथ सब कांग्रेसी हैं, परन्तु सब छल, घूसखोरी और दिखावे को पसंद करते हैं। ऊपर से चाहे वे कितने ही प्रगतिशील रहें, उनकी मास मज्जा में प्रतिक्रियावाद जड़ तक घुसा हुआ है। जिस स्वर्ण स्वप्न को लेकर प्रेमचंद ने 'प्रेमाश्रम' में भारतीय ग्रामीण समाज और कांग्रेसवादी (-गाँधीवादी) सिद्धान्तों को कथा का सुन्दर रूप दिया था, वही अब टूटता-जैसा लगता है। जिस ग्राम जीवन की प्रशंसा १६३०-३१ में भी उन्होंने उपेन्द्रनाथ अश्क को लिखे अपने पत्र में की थी, 'गोदान' में उस स्वर्णग्राम के चित्र नहीं है। गाँवों और ग्रामीणों की सारी दुर्बलताएँ, सारे कष्ट, सारी तपस्या इस एक उपन्यास में अमर हो गई हैं। जान पड़ता है, धर्म, ईश्वर, समाज और व्यक्ति सब की दुर्बलताओं और छलों के प्रति प्रेमचंद असहिष्णु हो गये हैं। होरी प्रेमचंद के उस आदर्शवाद का प्रतीक है जो उन्हें प्रेमाश्रम (१६२२) से कर्मभूमि (१६३२) तक विश्वस्त बनाये रख सका। यह आदर्शवाद अब यथार्थ स्थिति की चट्टान से टकरा कर चकनाचूर हो गया है। होरी सब को मानकर चलना चाहता है—धर्म को, ईश्वर को, समाज को, व्यक्ति के पारिवारिक कर्तव्यों को, परन्तु वह चल नहीं पाता। सभी के नाम पर वह शोषित है। पंडा-पुरोहित, समाज के नेता और कर्णधार, उसके भाई-भावज सब उसे छलते हैं और छलों का यह खेल खेलते-खेलते एक दिन उसकी जान ही चली जाती है। उसकी तो केवल एक छोटी सी व्यक्तिगत लालसा है—उसके दरवाज़े पर एक गऊ बँध जाये। 'गऊ से ही तो द्वार की सोभा है, सवेरे-सवेरे गऊ के दर्शन हो जायें तो क्या कहना!

न जाने कब यह साध पूरी होगी।' परन्तु इस एक साधारण-सी चाह के पूरे होने में भी क्या-क्या बाधायें हैं। जैसे सारा गाँव, धर्म और समाज के सारे पुरोहित, सारे अपने-पराये होरी की इस किसान-सुलभ आकांक्षा के बीच में आ खड़े हुए हैं। जिस सरलता से, जिस कौशल से प्रेमचंद ने होरी के दुखांत जीवन की यह कथा लिखी है, वह गोर्की में भी नहीं है। और होरी कोई सीधा-सादा सरल किसान नहीं है। किसान की सारी व्यावहारिकता, सारी चतुरता उसमें है—फिर भी वह जीवन की सारी लड़ाई हार जाता है। ऐसा क्यों? इसीलिये तो कि वह गाॅव की धरती की तरह ही बदला नहीं है। एक ओर गाॅव का अपना छल-कपट है जो उसे खाये जा रहा है। दूसरी ओर शहर की पुकार है। गाॅव के बेटे शहर पहुँच रहे हैं और वहाँ मिल-मज़दूरों की संगठित वाणी सीख कर गाँव से घृणा करने लगे हैं। गाॅव और शहर के इस संघर्ष में होरी पिस जाता है। स्वयं उसका पुत्र गोबर उसे लथाड़ता है और अंत में यह कह कर उसे छोड़कर चला जाता है—'जब तक बच्चा था दूध पिला दिया, फिर लावारिस की तरह छोड़ दिया। जो सबने खाया वही मैंने खाया। मेरी ज़िन्दगी तुम्हारा देना मरने के लिए नहीं है। मेरे भा तो बाल-बच्चे हैं।' इस अंतिम धक्के को भी होरी मुस्कुरा कर सह लेता है। अपना सब कुछ बेच कर, धोनो लड़कियों का विवाह कर, समाज की मर्यादा का बोझ ढोकर अंत में वह किसान से बोझा ढोने वाला मज़दूर बन जाता है और एक दिन उसकी ऐहिक लीला समाप्त हो जाती है। ५०-५५ वर्ष गाॅव की धरती पर चलकर, इतना लड़-झगड़ कर, इतना कुछ सह कर भी उसकी एक छोटी सी अबोध-सी लालसा पूरी नहीं होती। परन्तु इसके लिए दोषी कौन है?

'गोदान' पढ़ने के बाद यह प्रश्न अबूझा नहीं रह जाता। जिन-जिन रूढ़िवादों ने, जिन-जिन प्रतिक्रियावादी शक्तियों ने भारतीय जीवन के प्रतीक भारतीय गाँव की सहज, नैसर्गिक शक्तियों को कुंठित कर रखा है, उन सब को प्रेमचंद पहचानते हैं और होरी को पग-पग पर उनसे लड़वाते हैं। इस संघर्ष में होरी टूट जाता है। और कोई दूसरी राह ही उसके लिए खुली नहीं थी। परन्तु इस हार में भी इतनी शक्ति है कि वह देखने-सुनने वाले को कटि-बद्ध कर दे और नये युग का शंखनाद सुनाई पड़ने लगे। कला की दृष्टि से तो 'गोदान' और भी महत्वपूर्ण है। प्रेमचंद की कुछ कहानियों को छोड़कर न वैसा संयम अन्यत्र मिलेगा, न वैसी वर्गगत चेतना, न वैसा गांभीर्य। इसमें संदेह नहीं कि इस उपन्यास के द्वारा प्रेमचंद कला, चिंतन और उपन्यास लेखन के नये क्षेत्र में उतर रहे थे। 'मंगल सूत्र' में उनकी यह कला विकसित रूप में हमें प्राप्त होगी। उसके जो अंश प्रकाशित हुए हैं वे इस बात के प्रमाण हैं। परन्तु काल ने इस अंतिम रचना को पूरा नहीं होने दिया और आज भी प्रेमचंद की नई दिशा और उनकी नई समाजवादी कला की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में तर्क-वितर्क चल रहे हैं।

१३

प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन

प्रत्येक महान उपन्यासकार और कहानी लेखक जीवन को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता है। मनुष्य का जीवन सुखी किस तरह हो, दुखी क्यों है, दुःख का परिहार क्या है? क्या इस जीवन के पीछे कोई इससे परे की सत्ता है, या नहीं है? अदृष्ट क्या है? मनुष्य को बनाने में अदृष्ट का कितना हाथ है? जीवन के दुःख-सुख को हम किस आश्वासन के साथ ग्रहण करें?—ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो महान् कथाकार की रचनाओं से स्वतः फूट पड़ते हैं और प्रायः उन्हीं रचनाओं में हमें इनका उत्तर भी मिल जाता है। हमें देखना है कि प्रेमचंद को इन सनातन प्रश्नों पर क्या कहना है। एक शब्द में, मनुष्य के लिए उनका संदेश क्या है?

प्रेमचन्द अनुभव करते हैं कि मनुष्य का जीवन जिन तंतुओं का बना है, वे इतने कोमल हैं कि उन्हें बड़ी सावधानी से रखना होता है जिसमें वे टूट न जायँ और उनसे करुण चीत्कार न उठे। वे कहते हैं

"वह (जीवन) क्या पुष्प से कोमल नहीं—जो वायु के झोंके सहता है और मुरझाता नहीं? क्या वह लताओं से कोमल नहीं, जो कठोर वृक्षों के झोंके सहती, और लिपटी रहती है?

वह क्या पानी के बबूलों से कोमल नहीं, जो जल की तरंगों पर तैरते हैं, और टूटते नहीं? संसार में और कौनसी वस्तु इतनी कोमल, इतनी अस्थिर, इतनी सारहीन है, जिसे एक व्यंग, एक कठोर शब्द, एक अन्योक्ति भी दारुण, असह्य, घातक है! और इस भित्ति पर कितने विशाल, कितने भव्य, कितने बृहदाकार भवनों का निर्माण किया जाता है (रंगभूमि पृ० ८५५)।

जीवन की इस मार्मिकता और कोमलता में ट्रेजडी (दुखांत) के तत्त्व छिपे हुए हैं—यह प्रेमचन्द की मौलिक कल्पना है। मनुष्य कोमल है, इसी लिए वह दुर्बल है। यूरोप के दुखांत नाटककार कहते हैं मनुष्य के दुःखों के पीछे हैं उनकी चारित्रिक दुर्बलताएँ परन्तु वे यह नहीं जानते कि इन चारित्रिक दुर्बलताओं से भी बड़ी कोई वस्तुएँ हैं जो मनुष्य के दुःख का कारण हैं। जिनमें चारित्रिक दुर्बलताएँ नहीं हैं, वे क्या सुखी नहीं हैं? पश्चिम का कलाकार कहता है कि अपने वातावरण की कठोरता, विषमता और परिस्थितियों की विडम्बना के कारण। प्रेमचन्द परिस्थिति को इतना महत्व नहीं देते। वे अदृष्ट के उपासक हैं। उन्होंने लिखा है—"× × इस अनुभव ने मुझे कट्टर भाग्यवादी बना दिया है। अब मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान की जो इच्छा होती है वही होता है और मनुष्य का उद्योग भी उसकी इच्छा के बिना सफल नहीं होता। ('जीवनसार')

वे दुःख का मूल कारण ढूँढ़ने के लिए मनुष्य के व्यक्तित्व में और गहरे उतरते हैं और जीवन की नैसर्गिक कोमलता को ही मानवता का अभिशाप मानते हैं।

परन्तु यही कोमलता तो जीवन को सुन्दर बनाती है—प्रेम, आत्मत्याग, बलिदान, यही तो जगत को सुन्दर बनाए हुए हैं। प्रेमचन्द जानते हैं कि जीवन की भव्यता की नींव ही इस कोम-

लता पर रखी गई है। इसी लिए हार तो है ही। उनका सब से वीर, कर्मठ चरित्र सूरदास कहता है—

"बस, बस, अब मुझे क्यों मारते हो, तुम जीते, मैं हारा। यह बाजी तुम्हारे हाथ रही। मुझसे खेलते न बना, तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ता, खिलाड़ियों को मिला कर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हाँफने लगता हैं और खिलाड़ियों को मिला कर नहीं खेलते। आपस में झगड़ते हैं, गाली गलौज मारपीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता। तुम खेलने में निपुण हो हम अनाड़ी हैं (वही, पृ० ८६०)।

तब जब जीवन की मौलिक कोमलता ही उसके लिए घातक है तो क्या किया जाय, दुःख का परिहार कैसे हो? प्रेमचन्द सुझाते हैं कि निष्काम कर्म, फल-त्यागपूर्वक कर्त्तव्य पालन, हार-जीत के प्रति सन्यास-भाव यही दुःख के जीतने की कुंजी है। यह जीवन तो खेल है, इसे खेलते हुए चलो। सूरदास के ही शब्दों में—"हमारी बड़ी भूल यही है कि हम खेल को खेल की तरह नहीं खेलते। खेल में धाँधली करके कोई जीत ही जाय, तो क्या हाथ आयेगा। खेलना तो इस तरह चाहिये कि निगाह जीत पर रहे, पर हार से घबड़ाये नहीं, ईमान को न छोड़े। जीत कर इतना न इतराए कि अब कभी हार होगी ही नहीं। यह हार-जीत तो जिंदगानी के साथ है (वही, पृ० ६२२)।

यह निष्काम कर्म, अच्छी नीयत से किया गया कार्य, सेवा-भाव से किया गया कर्म, प्रेमचन्द का संदेश है। उनकी रचना में बार-बार इसका उपदेश मिलता है—

"भैया, कोई काम सवाब समझ कर नहीं करना चाहिये। दिल को ऐसा बना लो कि काम में उसे वही मजा आवे, जो गाने

या खेलने में आता है। कोई काम इसलिये करना कि उससे नज़ात मिलेगी रोजगार है (कर्मभूमि, पृ० ४८४)।

"जो काम अच्छी नीयत से किया जाता है, वह ईश्वरार्थ होता है। नतीजा कुछ भी हो। यहाँ का अगर कुछ फल न मिले तो भी यहाँ का पुण्य तो मिलता ही है।" (वही, पृ० ५५१)

प्रेमचन्द को अदृष्ट में बड़ा विश्वास था। 'कायाकल्प' में राजा विशालसिंह ने अदृष्ट को परास्त करने की चेष्टा की, ख़ुद ही उसके हाथ के खिलौने बन गये। मनुष्य बनाता है, ईश्वर बिगाड़ देता है। जब बिगड़ जाता है तो कर्मवादी कहता है—मेरे कर्मों का फल है। ईश्वर को दोष न दीजिये (चक्रधर-कायाकल्प, पृ० ६१६)।

परन्तु मनुष्य के विश्वास की भित्ति हिल जाती है। मुंशी चक्रधर की सी उसकी गति हो जाती है। मुंशी वज्रधर ठीक कहते हैं—मैं भी अब तक ईश्वर को दयालु समझता था। लेकिन अब वह श्रद्धा नहीं रही। गुणानुवाद करते सारी उम्र बीत गई। उसका यह फल! उस पर कहते हो, ईश्वर को दोष न दीजिये! अपने कल्याण के लिए ही तो ईश्वर का भजन किया जाता है या किसी की जीभ खुजलाती है? कसम ले लो जो आज से कभी एक भी पद गाऊँ (कायाकल्प, पृ० ६१७)।

जब असफलता हाथ लगे, जब मनुष्य विधि से हार जाये तो वह जीवन को किस दृष्टिकोण से देखे? जीवन के आदर्श क्या हों? किसी के लिए जीवन का अर्थ है प्रभुता और विलास, अधिकार ऐश्वर्य और शासन ('कायाकल्प' में विशालसिंह); किसी के लिए जीवन का सुख है कीर्ति, दान, यश और सेवा (वही, मनोरमा), किसी को सेवा (चक्रधर, विनय, अमर),

किसी को कर्तव्य (लौंगी), किसी को विलास (देवप्रिया)। प्रेमचन्द ने विलास को धिक्कारा है और प्रेम की महानता के गीत गाये हैं। उन्होंने सेवा को कीर्ति, दान, यश, अधिकार-लिप्सा सबसे ऊँचा रखा है। मनुष्य काल पर विजय कैसे पाये? चक्रधर कहते हैं—"काल पर हम विजय पाते हैं अपनी सुकीर्ति से, यश से, व्रत से। परोपकार ही अमरत्व प्रदान करता है। काल पर विजय पाने का अर्थ यह नहीं है कि हम कृत्रिम साधनों से भोगविलास में प्रवृत्त हों, वृद्ध होकर जवान बनने का स्वप्न देखें और अपनी आत्मा को धोका दें। लोकमत पर विजय पाने का अर्थ है अपने सद्विचारों और सत्कर्मों से जनता से आदर पाना और सम्मान प्राप्त करना। आत्मा पर विजय पाने का आशय निर्लज्जता या विषय-वासना नहीं बल्कि इच्छाओं का दमन करना और कुवृत्तियों को रोकना है।" (कायाकल्प, पृ० १५२)

मनुष्य के संतोष के लिए इतना बहुत है! परन्तु इस संसार में यह भी किसे नसीब है—यश, जनता का आदर और सम्मान, दरिद्र जन-सेवक के लिए इनकी कहाँ गुञ्जाइश? "जनता धनियों का जितना मान-सम्मान करती है उतना सेवकों का नहीं। सेवा-भाव के लिए धन भी आवश्यक है। दरिद्र सेवक, चाहे वह कितने ही सच्चे भाव से क्यों न काम करे, चाहे वह जनता के लिए प्राण ही क्यों न दे दे, उतना यश नही पा सकता, जितना एक धनी आदमी अल्प सेवा करके कमा सकता है।" (कायाकल्प, पृ० ३७६)। तब जन-सेवक को सेवा के संतोष को लेकर ही सब्र करना पड़ता है। चक्रधर ऐसा ही निस्पृह जनसेवक है।

जीवन की मौलिक भित्ति है सत्य, न्याय और प्रेम। इन्हीं को लेकर आगे बढ़ना होगा। प्रेमचन्द का कहना है कि भावी धर्म इन्हीं तत्त्वों के आधार पर बनेगा। यही तीन भावी धर्म के त्रिदेव

होंगे। इन्हें ही उन्होंने "नीति" कहा है। "मैं तो नीति को ही धर्म समझता हूँ। और सभी सम्प्रदायों की नीति एक सी है। अगर अंतर है तो बहुत थोड़ा। हिन्दू-मुसलमान, ईसाई-बौद्ध, सभी सत्कर्म और सद्विचार की शिक्षा देते हैं।" (वही, पृ० २४०)। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तीनों को अपना जीवन इन्हीं तीनों भित्तियों पर निर्माण करना होगा। इन तीनों मूल तथ्यों को निबाहते हुए जीवन के दुःखों-सुखों का हँस कर सामना करना, उससे भागना नहीं, यही प्रेमचन्द का जीवन-दर्शन है। इसे ही वह बारबार सूरदास के मुँह से कहलाते हैं—

तू रंगभूमि में आया दिखलाने अपनी माया, क्यों धरम नीति को तोड़ै? भई, क्यों रन से मुँह मोड़ै? (रंगभूमि)

'कायाकल्प', 'रंगभूमि' और 'गोदान' तीनो महान् उपन्यासों में जीवन के प्रति उपन्यासकार का एक-सा दृष्टिकोण देखते हैं। उसने मनुष्य की पराजय दिखाई है। चक्रधर से अधिक दुखी प्राणी कौन होगा, सूरदास जिस भाई के लड़के के पीछे मर गया, उसने उसे क्रिया-कर्म और गया से भी धत्ता बता दिया, गोदान का होरी लड़के-बहू और भाइयों पर मिट मरा! परन्तु इससे क्या? यही तो मनुष्य थे, नहीं, ये देवता थे। सर्वोत्कृष्ट मनुष्य ही तो देवता है। इन्होंने दुःख सहा, कष्ट सहा, प्रण निवाहे, परोपकार में देह घुलाई, किसी से छल-कपट न किया और अंत में किसी से प्रशंसा पाकर, किसी से लांछा पाकर चलते बना। खेले, परन्तु धर्म का खेल; धर्म की लड़ाई लड़े। यही आदमी थे। रंगभूमि में प्रेमचन्द जीवन की लड़ाई को सच्चे ढङ्ग से हृदय में दुर्व्यवहार न लाते हुए, कर्तव्य के मार्ग पर अडिग लड़ने की शिक्षा देते हैं। सूरदास कहता है—

"खिलाड़ी जीत कर हारने वाले की हँसी नहीं उड़ाता, उससे

गले मिलता है और हाथ जोड़ कर कहता है—'भैया, अगर हमने खेल में तुमसे कोई अनुचित बात कही हो, या कोई अनुचित व्यौहार किया हो, तो हमें माफ़ करना।' इस तरह दोनों खिलाड़ी हँस कर अलग होते हैं,-खेल ख़तम होते ही दोनों मित्र बन जाते हैं, उनमें कोई कपट नहीं रहता।" (पृ० ३८०)

और जब हम जीवन को प्रभु की क्रीड़ा समझ लेते हैं तो फिर पराजय का दुःख भी क्यों होगा और हम क्यों अकर्मण्य बन बैठेंगे। सूरदास के ही शब्दों में—

"सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाज़ी पर बाज़ी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं, पर मैदान में डटे रहते हैं, उनकी त्यौरियों पर बल नहीं पड़ते। हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती, दिल पर मालिन्य के छींटे भी नहीं आते, न किसी से जलते हैं, न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा! खेल हँसने के लिये है, दिल बहलाने के लिये है, रोने के लिये नहीं।" (वही, पृ० २१२)

जीवन को भगवान के समर्पण कर आसक्त भाव से कर्तव्य पूरा करते चलने में ही कर्मण्यता की अजस्र-धार फूटती है।

"सबसे ऊँचा मार्ग है खिलाड़ी की तरह, सूरदास की तरह, खेल खेलते जाना। उससे कुछ नीचा मार्ग है सेवाभाव से काम किये जाना, जिस तरह चक्रधर और विनय करते रहे। परन्तु यह समझ लेना चाहिये कि सेवक का धर्म यश और अपयश का विचार करना नहीं है, उसका धर्म-सन्मार्ग पर चलना है ×ׅ×" उसके सेवाभाव में स्वार्थ का समावेश किंचित भी नहीं होना चाहिये। एक इतना ही ऊँचा तीसरा मार्ग है होरी की तरह कर्तव्य को लहू देकर भी निभाये जाना, बदले की परवा न करना।

परन्तु ये सब मार्ग आस्तिकता पर टिके हैं। जीते तो नास्तिक भी हैं। नास्तिक कहता है—"इस जीवन से परे ×× अनंत शून्य और अनंत आकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। लोक असार है, परलोक भी असार है, जब तक जिंदगी है, हँस-खेल कर काट दो। मरने के पीछे क्या होगा, कौन जानता है। संसार सदा इसी भाँति रहा है, और इसी भाँति रहेगा। उसकी सुव्यवस्था न किसी से हुई है, और न होगी। बड़े-बड़े ज्ञानी, बड़े-बड़े तत्ववेत्ता, ऋषि, मुनि मर गए, और कोई रहस्य न पा सका। हम जीवमात्र हैं, और हमारा काम केवल जीना है।" (रंगभूमि, पृ० ६३०)

यह भी एक मार्ग है, और प्रेमचन्द इसे भी बुरा नहीं समझते।

जीवन-संग्राम में मनुष्य सफल होते हैं, असफल होते हैं, यह बहुत कुछ जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण और परिस्थितियों (नियति) पर निर्भर हैं। जो असफल हैं, जैसे सूरदास या चक्रधर, वे भी महान हो सकते हैं। जो सफल हैं, जिन्होंने व्यवहार में जीवन को जीता है, वे भाग्यवान हैं। रानी सारंधा में प्रेमचन्द इन सफल मनुष्यों के जीवन-दर्शन की व्याख्या करते हैं—

"दुनिया एक मैदाने कारेज़ार है, इसी मैदान में उस सिपाई को फतेह नसीब होती है जो मौका और महल से फायदा उठाना चाहता है, वह मौका देख कर जितना आगे बढ़ता है, खतरे के वक्त उतना ही पीछे हट जाता है। ऐसे आदमी ही हुकूमतों की बुनियाद ढाते हैं और तारीख उनके नाम पर सदियों फूल नौछावर करती है (उर्दू भाषा-शैली देखिये)। यह उन लोगों का जीवन-दर्शन है, जो ऐहिक ऐश्वर्य और सिद्धि प्राप्त करते हैं।"

१४

भाषा और लेखन-शैली

भाषा की दृष्टि से प्रेमचन्द महत्त्वपूर्ण हैं। उनकी भाषा उनकी इतनी अपनी है कि उसका नाम ही 'प्रेमचन्दी भाषा' पड़ गया है। उनकी भाषा चुस्त, मुहावरों से सजी और परुष है। उसमें उर्दू फ़ारसी के चलते हुए शब्दों का प्रयोग होता है। पात्रों के अनुसार वे भाषा बदल देते हैं। उनके मुसलमान पात्र कहीं ठेठ उर्दू, कही फ़ारसी-मिश्रित हिंदी बोलते हैं। उनके पंडित संस्कृति गर्भित भाषा का प्रयोग करते हैं। गाँव का वातावरण उपस्थित करने के लिये वह प्रांतीय और प्रादेशिक शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा में लोच है, प्रवाह है और प्रसाद गुण है। प्रेमचन्द की देन यही भाषा है। इसे हिन्दू भी समझ सकता है, मुसलमान भी। आज जिस हिन्दुस्तानी की बातचीत हो रही है वह यही प्रेमचन्द की भाषा है। नाटक, उपन्यास और कहानी के लिये यह बहुत उपयुक्त रही है।

परन्तु स्वयम् प्रेमचन्द की समस्त रचनाओं में भाषा का रूप एकसा नहीं है। वह उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होती गई है। उनके "वरदान" और "गोदान" के कुछ अवतरणों से यह बात सिद्ध हो जायगी—"रात्रि भली भाँति आर्द्र हो चली थी"

(वरदान पृ० २१५)

"विरजन उसके गले लिपट गई और अश्रु-प्रवाह का आतंक जो अब तक दबी हुई अग्नि की नाई सुलग रहा था, अकस्मात् ऐसे भड़क उठा मानो किसी ने आग में तेल डाल दिया है।"

(वही पृ० ७५)

"कुछ काल और बीता, यौवन काल का उदय हुआ। विरजन ने उसके चित्त पर प्रतापचन्द का चित्र खींचना आरम्भ किया। उन दिनों इस चर्चा के अतिरिक्त उसे कोई बात अच्छी ही न लगती थी। निदान उसके हृदय में प्रतापचन्द की चेरी बनने की इच्छा उत्पन्न हुई। पड़े-पड़े हृदय से बातें किया करती। रात्रि में जागरण करते मन का मोदक खाती।"

'वरदान' के इन अवतरणों की भाषा में प्रवाह की मात्रा अधिक नहीं है और उससे ठेठ मुहावरे संस्कृत शब्दों से सटा कर रखे हुये मिलते हैं। उर्दू के शब्दों का अधिक प्रयोग भी नहीं है। यह लेखक की प्रारम्भिक भाषा है—प्रयास स्पष्ट है। प्रेमचंद वर्षों से उर्दू में लिख रहे थे। अब हिंदी में आ रहे हैं तो सतर्क हैं। इसीसे उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में उस उत्कृष्ट "हिन्दुस्तानी" का रूप नहीं मिलता जिसके वे आविष्कर्त्ता हैं। इन ऊपर के उद्धरणों की भाषा को गोदान की पुष्ट भाषा से मिलाइये—

"होरी लाठी कन्धे पर रख कर घर से निकला तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही। उसके इन निराशा-भरे शब्दों ने धनिया के चोट खाये हुए हृदय में आतंकमय कम्पन सा डाल दिया था। वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण तप और व्रत से अपने पति को अभय दान दे रही थी। उसके अन्तःकरण से जैसे आशीर्वादों का व्यूह-सा निकल कर होरी को अपने अन्दर

छिपाये लेता था। विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुये वह सागर को पार कर रही थी। इन असंयत शब्दों ने यथार्थ के निकट होने पर भी मानो झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का सहारा छीन लेना चाहा। बल्कि यथार्थ के निकट होने के कारण ही उनमें इतनी वेदना शक्ति आ गई थी। काना कहने से काने को जो दुःख होता है, वह क्या दो आँखों वाले आदमी को हो सकता है?" (पृ० ३)

इन पंक्तियों में हिंदी की उस जातीय भाषा का परिष्कृत और विकसित रूप मिलेगा जो १९०६-७ के आस-पास "सरस्वती" के द्वारा पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी को प्रदान किया था। कम पुष्ट भाषा का प्रयोग करके धनिया की हृदय-व्यथा को इस स्पष्टता से चित्रित करना क्या सम्भव होता? प्रेमचन्द के उपर्युक्त उद्धरण की शैली में हम उनके सबसे सुन्दर गद्यकाव्य का नमूना पाते हैं। शब्दों के परुष सङ्गठन और शैली की प्रसादमयता और प्रवाह के लिये यह अद्वितीय है।

परन्तु इतना कहने भर से ही हम प्रेमचन्द की भाषा-विषयक विशेषता को पूर्णतः ग्रहण नहीं कर सकते। प्रेमचन्द की भाषा और उनकी विभिन्न शैलियों के अध्ययन के लिये हमें उनके साहित्य को कई भागों में बाँटना पड़ेगा। शैलियों की दृष्टि में ये भाग इतने अलग-अलग पड़ते हैं कि इनका एक साथ अध्ययन हास्यास्पद होगा। यह विभाजन इस प्रकार होगा:—

१. वर्णन
२. मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं परिस्थिति-चित्रण
३. पात्रों की भाषा (कथोपकथन)
४. प्रकृति-वर्णन
५. मन का तत्त्व-प्रधान वर्णन जिसे Wishful Thinking

कहेंगे। चिन्तन-प्रधान पात्र जिस प्रकार विचार-धारा में बह जाते हैं उनके विचारों को उसी प्रकार धारावाहिक रूप से लिख कर उनकी मनः-चेतना को प्रगट करने वाले अंशों की एक अलग सत्ता है। आगे हम इन सब अंगों की भाषा पर विशदता से विचार करेंगे :—

१. वर्णन

प्रेमचन्द के उपन्यासों में हमें इतने प्रकार के वर्णन मिलते हैं कि यदि नमूने के लिए एक-एक ढङ्ग का वर्णन उपस्थित करें तो एक छोटी पुस्तक ही बन जाये। सच तो यह है कि प्रेमचन्द की कथा कहने की कला में वर्णन को प्रमुख स्थान मिला है। उनकी सूक्ष्मता, विविध विचित्रता और विस्तार के द्वारा ही वे पाठक के आकर्षण को स्थिर रख सके हैं।

इन वर्णनों की भाषा में फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है—प्रवाह, भाषा की चित्रांकन शक्ति, अलंकार-निर्वाह आदि के उत्कृष्ट उदाहरण हमें यहीं मिलेंगे। वर्णन करते समय प्रेमचन्द अपने संयम को भूल जाते हैं और स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता का ध्यान रखे बिना दूर तक बहे चले जाते हैं। 'वरदान' में उनकी नायिका व्रजरानी कविता करने लगी है। प्रेमचन्द इस इतनी-सी बात को इस प्रकार लिखते हैं—

"जब से व्रजरानी का काव्यचन्द्र उदय हुआ, तभी से उसके यहाँ सदैव महिलाओं का जमघट लगा रहता था। नगर में स्त्रियों की कई सभाएँ थीं। उनके सम्बन्ध का सारा भार उसी को उठाना पड़ता था। × × राजा धर्मसिंह ने उसकी कविताओं का सर्वाङ्ग सुन्दर संग्रह प्रकाशित किया था। इस संग्रह ने उसके काव्य चम-

त्कार का डंका बजा दिया था। भारतवर्ष की कौन कहे, यूरोप और अमरीका के प्रतिष्ठित कवियों ने भी उसे उसकी काव्य-मनोहरता पर धन्यवाद दिया था। भारतवर्ष में एकाध ही कोई ऐसा रसिक मनुष्य रहा होगा, जिसका पुस्तकालय उसकी पुस्तक से सुशोभित न होगा।"

यह वर्णन स्पष्टतम अत्युक्ति प्रधान है—वास्तव में न अभी हमारे यहाँ ऐसी कवियित्रियों ने जन्म लिया है, कि जिनका डंका विदेशों में भी बजे, न हमारे जन-समाज में ही इतनी शिक्षा एवं गुण-ग्राहकता है। इस तरह के बेलग्राम वर्णन प्रेमचन्द के उपन्यासों में भरे पड़े हैं। भाषा-शैली की दृष्टि से वे कितने ही सुन्दर हो, परन्तु वे उपन्यास को यथार्थ से अलग कर "रोमांस" की पंक्ति में डाल देते हैं। 'कर्मभूमि' में अमर महंत आशाराम गिरि के मन्दिर में प्रवेश करता है—

'× × × बरामदे के पीछे, कमरों में खाद्य-सामग्री भरी हुई थी ऐसा मालूम होता था, अनाज, शाक-भाजी, मेवे, फल, मिठाई की मंडियाँ हैं। एक पूरा कमरा तो केवल परवलों से भरा हुआ था। इस मौसम में परवल कितने महँगे होते हैं, पर यहाँ वह भूसे की तरह भरा हुआ था। × × इस मौसम में यहाँ बीसों झाबे अंगूर के भरे थे × × एक लम्बी कतार दर्जियों की थी × × एक कतार सुनारों की थी × × एक पूरा कमरा इत्र और तैल और अगरबत्तियों से भरा हुआ था × × कोई पच्चीस-तीस हाथी आँगन में बँधे थे, कोई इतना बड़ा कि पूरा पहाड़, कोई इतना छोटा, जैसे भैंस × × पाँच सौ घोड़े से कम न थे, हरेक जाति के × × चार-पाँच सौ गायें-भैंसें थी—क्यों कि ठाकुर जी के स्नान के लिए प्रतिदिन तीन बार पाँच-पाँच मन दूध की आवश्यकता पड़ती थी, भंडार के लिए अलग (कर्मभूमि पृ० ४०४,

४०५, ४०६)। ऐसे वर्णनों में सहसा विश्वास नहीं होता और जी उबा डालनेवाले विस्तार से उपन्यास के चरित्र-चित्रण और घटनाचक्र की गति शिथिल हो जाती है। पाठक की दृष्टि एक अवान्तर विषय में खो जाती है। इस प्रकार के अनेक वर्णन प्रेमचन्द के उपन्यासों में हैं और वे सामयिक समाचार-पत्रों के विवरणों के विस्तार और असंयम को भी मात कर देते हैं।

इन वर्णनों के विपरीत कुछ वर्णन हैं जो "चित्रात्मक वर्णन शैली" के अन्तर्गत आते हैं। ऐश्वर्य और वैभव का वातावरण उपस्थित करने में इसी वर्णन-शैली से काम लिया जाता है। रानी देवप्रिया के झूले-घर का वर्णन इसी प्रकार का चित्रप्रधान वर्णन है—

"वह एक विशाल भवन था। बहुत ऊँचा और इतना लम्बा-चौड़ा कि झूले पर बैठ कर खूब पैग ली जा सकती थी। रेशम की डोरियों में पड़ा हुआ एक पटरा छत से लटक रहा था, पर चित्रकारों ने ऐसी कारीगरी की थी कि मालूम होता था, किसी वृक्ष की डाल में पड़ा हुआ है। पौदों, झाड़ियों और लताओं ने उसे यमुनातट का कुञ्ज-सा बना दिया था। कई हिरन और मोर इधर-उधर विचरा करते थे। ××× पानी का रिमझिम बरसना, ऊपर से हलकी-हलकी फुहारों का पड़ना, हौज़ में जल-पक्षियों का क्रीड़ा करना, किसी उपवन की शोभा दरसाता था" (कायाकल्प पृ० ८५)। परन्तु अन्य स्थानों पर प्रेमचन्द के वर्णन उनके ग्रंथ को बड़ा बल देते हैं। उपद्रवों के वर्णन करने में तो वे अद्वितीय हैं—रंगभूमि और कर्मभूमि में उन्होंने उत्तेजित भीड़ों के अत्यन्त विशद, सुन्दर और यथार्थ वर्णन किये हैं जो आगे के इतिहास के सामने हमारे जन आन्दोलनों के सामूहिक रूप को भली भाँति

प्रगट कर सकेंगे। परन्तु जहाँ उनका कार्यक्षेत्र इतना बड़ा नहीं है वहाँ भी जनता की क्षण-क्षण बदलती मनोभावना का अच्छा चित्रण कर सके हैं ×× "इतने में लोगों ने शामियाने पर पत्थर फेंकना शुरू किया। लाला बैजनाथ उठ कर छोलदारी में भागे। कुछ लोग उपद्रवकारियों को गालियाँ देने लगे। एक हलचल-सी मच गई, कोई इधर भागता था, कोई उधर; कोई गाली बकता था, कोई मारपीट पर उतारू था। अकस्मात् एक दीर्घकाय पुरुष, सिर मुँड़ाए, भस्म रमाये, हाथ में एक त्रिशूल लिये आकर महफिल में खड़ा हो गया। उसके लालनेत्र, दीपक के समान जल रहे थे और मुखमंडल से प्रतिभा की ज्योति स्फुटित हो रही थी। महफिल में सन्नाटा छा गया। सब लोग आँखें फाड़-फाड़ कर महात्मा की ओर ताकने लगे। यह कौन साधु है? कहाँ से आया है?" (सेवासदन २००)। इसमें पहले भीड़ की उत्तेजना और उथलपुथल का वर्णन है और फिर एक साधु का चित्र खड़ा किया गया है। थोड़े से चुने शब्दों में प्रेमचन्द भीड़ की उत्तेजना और साधु के अलौकिक व्यक्तित्व का प्रभाव स्पष्ट कर सके हैं। इस जोड़ का वर्णन समसामयिक उपन्यासकला में मिलना कठिन है। प्रसादपूर्ण प्रवाहमय वर्णन को आगे बढ़ाते हुए प्रेमचंद "दीपक के समान" जलते हुए नेत्र और "प्रतिभा की ज्योति" से प्रदीप्त मुखमंडल को सामने लाकर काव्यमय परिणिति में वर्णन को समाप्त करते हैं। "गोदान" के वर्णनों में प्रेमचन्द के सब वर्णनों की विशेषताएँ पूर्ण विकसित दशा में मिलती हैं :—

"होरी ने रुपए लिए और अँगोछे के कोर में बाँधे प्रसन्न मुख आकर दारोगा की ओर चला।

सहसा धनिया झपट-कर आगे आई और अँगोछी एक झटके

के साथ उसके हाथ-से छीन ली। गाँठ पक्की न थी। झटका पाते ही खुल गई और सारे रुपये ज़मीन पर बिखर गये। नागिन की तरह फुङ्कार कर बोली × × होरी खून का घूँट पीकर रह गया। सारा समूह जैसे थर्रा उठा।" (पृ० १७३)

इस अवतरण में अनेक काव्य प्रधान वाक्यांश हैं अवतरण में होरी के मनोभाव का भी चित्र है। "प्रसन्नमुख" होरी "खून का घूँट" पीकर रह गया। इन चुने हुए शब्दों से होरी की मनोस्थिति स्पष्ट हो जाती है। यही नहीं, होरी की चाल भी स्पष्ट है। जब वह रुपये लेकर जा रहा है तो वह धीमे-धीमे चल रहा है। इसके सामने धनिया की तेज़ी 'सहसा' शब्द से प्रगट की गई है। बाद की परिस्थिति (रुपये बिखर जाने) का सकारण स्पष्ट चित्रण उपस्थित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऊपर के अवतरण में एक गतिप्रधान चित्र उपस्थित किया गया है और साथ ही मानसिक संघर्षों और प्रतिक्रियाओं की भी सांकेतिक अभिव्यंजना है। यदि हम प्रेमचंद के वर्णनों का ग्रंथों के कालक्रम के हिसाब से अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि वे किस प्रकार बराबर छोटे और संश्लिष्ट होते गये हैं। यह विकास का क्रम सेवासदन से गोदान तक बराबर चला आता है। इस प्रसङ्ग को हम गोदान का एक दूसरा उत्कृष्ट चित्र देकर समाप्त करते हैं। चित्र का सम्बन्ध होरी के कुटुम्ब से है—

"होरी अपने गाँव के समीप पहुँचा, तो देखा, अभी तक गोबर खेत में ऊख गोड़ रहा है और दोनों लड़कियाँ भी उसके साथ काम कर रही हैं। लू चल रही थी, बगूले उठ रहे थे, भूतल धधक रहा था जैसे प्रकृति ने वायु में आग घोल दी हो। यह सब अभी तक खेत में क्यों हैं? क्या काम के पीछे सब

जान देने पर तुले हैं ? वह खेत की ओर चला और दूर ही से चिल्ला कर बोला—आता क्यों नहीं गोबर, क्या काम ही करता रहेगा ? दोपहर ढल गया, कुछ सूझता है कि नहीं ?

उसे देखते ही तीनों ने कुदालें उठा लीं और उसके साथ हो लिये। गोबर साँवला, लम्बा, एकहरा युवक था जिसे इस काम से रुचि न मालूम होती थी। प्रसन्नता की जगह मुख पर असन्तोष और विद्रोह था। वह इस लिए काम में लगा हुआ था कि वह दिखाना चाहता था, उसे खाने-पीने की कोई फिक्र नहीं है। बड़ी लड़की सोना लज्जाशील कुमारी थी, साँवली, सुडौल, प्रसन्न और चपल। गाढ़े की लाल साड़ी, जिसे वह घुटनों से मोड़ कर कमर में बाँधे हुए थी उसके हलके शरीर पर कुछ लदी हुई-सी थी और उसे प्रौढ़ता की गरिमा दे रही थी। छोटी रूपा पाँच-छः साल की छोकरी थी, मैली, सिर पर बालों का एक घोसला-सा बना हुआ। एक लँगोटी कमर में बाँधे, बहुत ही ढीठ और रोनी।

रूपा ने होरी की टाँगों से लिपट कर कहा—काका ! देखो, मैंने एक ढेला भी नहीं छोड़ा। बहन कहती है, जा पेड़-तले बैठ। ढेले न तोड़े जायँगे काका तो मिट्टी कैसे बराबर होगी ?

होरी ने उसे गोद में उठा कर प्यार करते हुए कहा—तूने बहुत अच्छा किया बेटी, चलो घर चलें।" (पृ० १६)

इस वर्णन में प्रकृति की कठोर वीथिका देकर प्रेमचंद ने एक कृषक गृह के ममता और विद्रोह को एक साथ प्रगट किया है। 'गोदान' में इस प्रकार के कितने ही उत्तम संश्लिष्ट चित्र मिलेंगे। इनके लिये हिन्दी साहित्य सदैव प्रेमचंद का आभारी रहेगा।

जैसा ऊपर के कुछ अवतरणों से प्रगट होगा इन अवतरणों

की भाषा-शैली तत्सम-प्रधान शब्दावली की ओर अधिक ढलती है। काव्य-कला का पुट भी मिलता है, परन्तु सविस्तार पर्यवेक्षण और मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि के भी उदाहरण मिलते हैं। इन सब वर्णनों में, चाहे वे दो-चार पंक्तियों में हों, चाहे कई पृष्ठों में, प्रेमचंद चित्र की सारी रेखाओं को स्पष्ट कर देते हैं—अधिकतः विस्तार के साथ कभी-कभी संकेत रूप में—और पाठकों की बुद्धि पर कुछ भी नहीं छोड़ते। इस प्रकार वे पाठक की तरफ से अधिक चेष्टा नहीं मानते, इसीसे पाठक उन्हें सदैव अपने आगे-आगे पाता है। प्रेमचंद की वर्णन-शैली उन्हें कहीं भी अस्पष्ट और भ्रामक नहीं होने देती।

२ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण एवं परिस्थिति चित्रण में प्रेमचंद मनोविज्ञान के पंडित हैं। उनका मनोविज्ञान भाषा के द्वारा बड़े सुन्दर रूप से विकसित हुआ है। उनकी पहली रचनाओं में ही हम उन्हें कई पृष्ठों तक पात्रों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण उपस्थित करते हुये पाते हैं—

"माधवी उठी, परन्तु उसका मन बैठा जाता था। जैसे मेघों की काली-काली घटायें उठती हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि सब जल-थल एक हो जायगा परन्तु पछवा वायु चलने के कारण सारी घटा काई की भाँति फट जाती है उसी प्रकार इस समय माधवी की गति हो रही थी।" (वरदान पृ० २१४)

ऊपर के चित्रण में माधवी का मनःसंघर्ष किस चतुरता के साथ 'उदाहरण अलंकार' में सजा कर प्रगट किया गया है। यदि इसी बात को सीधी अनलंकृत भाषा में कहना पड़ता तो निस्सन्देह इससे कहीं अधिक वाक्य लिखना पड़ता। प्रारम्भिक रचनाओं में ही इस प्रकार की प्रौढ़ मनोविश्लेषक भाषा-शैली के पीछे प्रेम-चंद का उर्दू का पिछला लिखा सारा साहित्य छिपा है। सुदामा

की पुत्र-विषयक चिंता प्रेमचंद एक प्रकृतिचित्र (natural imagery) से प्रगट करते हैं—"जो अमोल पौधा जलवायु के प्रखर झोंकों से बचाया जाता था, जिस पर सूर्य की प्रचंड किरणें न पड़ने पाती थीं, जो स्नेह-सुधा से अभिसिञ्चित रहता था, क्या वह आज इस जलती हुई धूप और इस आग की लपट में मुरझायगा ?"

परन्तु बाद की रचनाओं में प्रेमचंद उत्तरोत्तर इस समास पद्धति को छोड़ते गये हैं—यद्यपि कहानियों में आवश्यकतानुसार इसी का प्रयोग बराबर मिलता है। उपन्यासों में उन्होंने पात्रो की मन की उथल-पुथल को विश्लेषणात्मक रूप से लिखा है। यहाँ भाषा चिंता से भारी हो जाती है और उसमें नैतिक तत्व हृदयोद्गार, प्रलाप, चिंता—इतनी बहुत प्रवृत्तियाँ उलझी-उलझी चलती हैं कि पाठक इस विस्तृत मनः-विश्लेषण से ऊब कर आगे बढ़ना चाहता है। यहाँ हम उनकी इस शैली के दो अवतरण देंगे। दोनों अवतरण ऐसे पात्रों से लिये गये हैं जो आत्म-हत्या करने जा रहे थे। दोनों "प्रेमाश्रम" से लिये गये हैं।—

"ज्ञानशंकर (वह) सोचते चले जाते थे, क्या इसी उद्देश्य के लिये मैंने अपना जीवन समर्पण किया ? क्या अपनी नाव इसीलिए बोझी थी कि वह जलमग्न हो जाय ?

हा वैभव-लालसा ! तेरी बलिवेदी पर मैंने क्या नहीं चढ़ाया ? अपना धर्म, अपनी आत्मा तक भेंट कर दी। हा ! तेरे भाड़ में मैंने क्या नहीं झोंका ? अपना मन, वचन, कर्म, सब कुछ आहुति कर दी। क्या इसीलिए कि कालिमा के सिवा और कुछ हाथ न लगे ?

मायाशंकर का कसूर नहीं, प्रेमशंकर का दोष नहीं, यह सब मेरे प्रारब्ध की कूटलीला है। मैं समझता था, मैं स्वयम् अपना

विधाता हूँ। विद्वानों ने भी ऐसा ही कहा है, पर आज मालूम हुआ कि मैं इसके हाथों का खिलौना था। उसके इशारों पर नाचने वाली कठपुतली था। जैसे बिल्ली चूहे को खिलाती है, जैसे मछुआ मछली को खिलाता है, उसी भाँति इसने मुझे अब तक खिलाया। कभी पंजे में धीरे से पकड़ लेता था, कभी छोड़ देता था, ज़रा देर के लिये उसके पंजे से छूट कर मैं सोचता था, उस पर विजय पाई, पर आज उस खेल का अंत हो गया, बिल्ली ने गर्दन दबा दी, कछुए ने बंशी खींच ली। मनुष्य कितना दीन, कितना परवश है! भावी कितनी प्रबल! कितनी कठोर!

जो तिमंजिला भवन मैंने एक युग में अविश्रान्त उद्योग से खड़ा किया, वह क्षण मात्र में इस भाँति भूमिस्थ हो गया, मानो उसका अस्तित्व न था, उसका चिह्न तक नहीं दिखाई देता। क्या वह विशाल अट्टालिका भावी की केवल माया-रचना थी?

हा! जीवन कितना निरर्थक सिद्ध हुआ। विश्व लिप्सा तूने कहीं का न रखा। मैं आँख बंद करके तेरे पीछे-पीछे चला और तूने मुझे इस घातक भँवर में डाल दिया।

मैं अब किसी को मुँह दिखाने योग्य नहीं रहा। सम्पत्ति, मान, अधिकार किसी का शोक नहीं। इनके बिना भी आदमी सुखी रह सकता है—बल्कि सच पूछो तो सुख इनसे मुक्त रहने में ही है। शोक यह है कि मैं अल्पांश में भी इस यश का भागी नहीं बन सकता। लोग इसे मेरे विषय-प्रेम की यंत्रणा समझेंगे—कहेंगे, बेटे ने बाप का कैसा मानमर्दन किया, कैसी फटकार बताई। यह व्यंग, यह अपमान कौन सहेगा? हा! मुझे पहले से इस अंत का ज्ञान हो जाता, तो आज मैं पूज्य समझा जाता, त्यागी पुत्र का धर्मज्ञ पिता कहलाने का गौरव प्राप्त करता। प्रारब्ध ने कैसा गुप्ताघात किया! अब क्यों ज़िंदा रहूँ? इसलिये

कि तू मेरी दुर्गति और उपहास पर खुश हो, मेरी प्राण-पीड़ा पर तालियाँ बजाये। नहीं, अभी इतना लज्जाहीन, इतना बेहया नहीं हूँ। हा विद्या! मैंने तेरे साथ कितना अत्याचार किया! तू सती थी, मैंने तुझे पैरों-तले रौंदा। मेरी बुद्धि कितनी भ्रष्ट हो गई थी। देवी, इस पतित आत्मा पर दया कर!

इन्हीं दुखमय भावों में डूबे हुये ज्ञानशंकर नदी के किनारे जा पहुँचे। घाटी पर इधर-उधर सांड बैठे हुए थे। नदी का मलिन मध्यम स्वर नीरवता को और भी नीरव बना रहा था।

ज्ञानशंकर ने नदी को कातर नेत्रों से देखा। उनका शरीर काँप उठा। वह रोने लगे। उनका दुःख नदी से कहीं अपार था।

जीवन की घटनायें सिनेमा-चित्रों के सदृश उनके सामने मूर्तिमान हो गई। उनकी कुटिलतायें आकाश के तारागण से भी उज्ज्वल थीं। उनके मन ने प्रश्न किया, क्या मरने के सिवा और कोई उपाय नहीं है?

नैराश्य ने कहा, नहीं, कोई नहीं। वह घाट के एक पील पाये पर जाकर खड़े हो गये। दोनों हाथ तौले, जैसे चिड़िया पर तौलती हैं, पर पैर न उठ सके।

मन ने कहा, तुम भी प्रेमाश्रम में क्यों नहीं चले जाते? ग्लानि ने जवाब दिया, कौन मुंह लेकर जाऊँ, मरना तो नहीं चाहता; पर जीऊँ कैसे? हाय मैं जबरन मारा जा रहा हूँ। यह सोच कर ज्ञानशंकर जोर से रो उठे। आँसू की झड़ी लग गई। शोक और भी अथाह हो गया। चित्त की समस्त वृत्तियाँ इस अथाह शोक में निमग्न हो गई। धरती और आकाश, जल और थल सब इसी शोक सागर में समा गये।

वह एक अचेत, शून्य दशा में उठे और गंगा में कूद पड़े। शीतल जल ने हृदय-दाह को शांत कर दिया।" (पृ० ६३८-६४१)

मनोहर की आत्मग्लानि को प्रेमचन्द इतने काव्यात्मक ढङ्ग से चित्रित नहीं करते—कारण कि मनोहर उस श्रेणी का ही आदमी नहीं है जिस श्रेणी के ज्ञानशंकर हैं। उसकी शिक्षा-दीक्षा इतने ऊँचे तर्क-वितर्कों तक उसे नहीं उठा सकती। अतः वह विचार और भाषा के क्षेत्र में नीचे उतर कर, परन्तु फिर भी इसी विस्तार के साथ, मनोहर की हृदयव्यथा का चित्रण कर रहे हैं—

"आज वह शब्द उसके कानों में गूँज रहे थे, जो अब तक केवल हृदय में ही सुनाई देते थे—तुम्हारे कारण सारा गाँव मिटियामेट हो गया, तुमने सारे गाँव को चौपट कर दिया। हा यह कलङ्क मेरे माथे पर सदा के लिये लग गया, अब यह दाग़ कभी न छूटेगा। जो अभी बालक हैं, वे मुझे गालियाँ दे रहे होंगे। उनके बच्चे मुझे गाँव का द्रोही समझेंगे। जब मरदों के ये विचार हैं, जो सब बातें जानते हैं, जिन्हें भली भाँति मालूम है, कि मैंने गाँव को बचाने के लिये अपनी ओर से कोई बात उठा नहीं रखी और जो यह अंधेर हो रहा है वह समय का फेर है, तो भला स्त्रियाँ क्या कहती होंगी। बेचारी विलासी गाँव में किसी को मुंह न दिखा सकती होगी। उसका घर से निकलना मुश्किल हो गया होगा, और क्यों न कहें? उसके सिर पर बीत रही है तो कहेगा कौन? अभी तो अगहनी घर में खाने को ही हो जायगा, लेकिन खेत तो बोये न गये होंगे, चैत में जब एक दाना भी न उपजेगा, बाल-बच्चे दाने-दाने को रोयेंगे, तब उनकी क्या दशा होगी? मालूम होता है, इस कंबल में खटमल हो गये हैं, नोचे डालते हैं। और यह रोना साल दो साल का

नहीं है, कहीं सब काले पानी भेज दिये गये, तो जन्म भर का रोना है। कादिर मियाँ का लड़का तो घर सँभाल लेगा; लेकिन और सभी मिट्टी में मिल जायेंगे और यह सब मेरी करनी का फल है।

सोचते-सोचते मनोहर को झपकी आ गई। उसने स्वप्न देखा कि एक चौड़े मैदान में हज़ारों आदमी जमा हैं, फाँसी खड़ी है और मुझे फाँसी पर चढ़ाया जा रहा है। हज़ारों आँखें मेरी ओर घृणा की दृष्टि से ताक रही हैं। चारों तरफ से यही ध्वनि आ रही है, इसी ने सारे गाँव को चौपट किया। फिर उसे ऐसी भावना हुई कि मैं मर गया हूँ और कितने ही भूत-पिशाच मुझे चारों ओर से घेरे हुये हैं और कह रहे हैं-इसी ने हमें दाने-दाने को तरसा कर मार डाला, यही पापी है, इसे पकड़ कर आग में झोंक दो। मनोहर की हालत खराब हो रही थी। उसे चारों तरफ अपने कर्मों का परिणाम ही दिखलाई पड़ रहा था। पिशाचो की भयावनी शकलें उसे और भी भयभीत करने लगीं। मनोहर के मुख से सहसा एक चीख़ निकल आयी, आँखे खुल गई, कमरा में खूब अँधेरा था, लेकिन जागने पर भी वही पैशाचिक, भयङ्कर मूर्त्तियाँ उसके चारों तरफ मंडराती हुई जान पड़ती थीं, मनोहर की छाती बड़े वेग से धड़क रही थी, जी चाहता था, बाहर निकल भागूँ, किन्तु द्वार बन्द थे।

अकस्मात् मनोहर के मन में यह विचार अंकुरित हुआ—क्या मैं यही सब कौतुक देखने और सुनने के लिए जीऊँ? सारा गाँव, सारा देश मुझ से घृणा कर रहा है। बलराज भी मन में मुझे गालियाँ दे रहा होगा। उसने मुझे कितना समझाया लेकिन मैंने एक न मानी। लोग कहते होंगे सारे गाँव को बँधवा कर अब यह मुस्टंडा बना हुआ है। इसे तनिक भी लज्जा नहीं, सिर पटक

कर मर क्यों नहीं जाता ? बलराज पर भी चारों ओर से बौछारें पड़ती होंगी, सुन-सुनकर कलेजा फटता होगा। अरे !—भगवान ! यह कैसा उजाला है ! नहीं, उजाला नहीं है। किसी पिशाच की लाल-लाल आँखे हैं, मेरी हा तरफ लपकी आ रही हैं। या नारायण ! क्या करूँ ? मनोहर की पिंडलियाँ काँपने लगीं, यह लाल आँखे प्रति क्षण उसके समीप आती जाती थीं। वह न तो उधर देख ही सकता था और न उधर से आँखे ही हटा सकता था, मानो किसी आसुरिक शक्ति ने उसके नेत्रों को बाँध दिया है। एक क्षण के बाद मनोहर को एक ही जगह कई आँखें दिखाई देने लगीं, नहीं, प्रज्वलित अग्निमय, रक्तयुक्त नेत्रो का एक समूह है, धड़ नहीं, सिर नहीं, कोई अंग नहीं केवल विदग्ध आँखें ही हैं, जो मेरी तरफ टूटे हुए तारो की भाँति सर्राटा भरती चली आती हैं। एक पल और हुआ वे नेत्र-समूह शरीर-युक्त होने लगे और ग़ौसखाँ के आहत स्वरूप में बदल गया। यकायक बाहर धड़ाके की आवाज़ हुई। मनोहर बदहवास होकर पीछे की दीवार की ओर भागा, लेकिन एक ही पग में दीवार से टकरा कर गिर पड़ा, सिर में चोट आयी, फिर उसे जान पड़ा कि कोई द्वार का ताला खोल रहा है, तब किसी ने पुकारा मनोहर ! मनोहर ! मनोहर ने आवाज़ पहचानी, जेल का दारोग़ा था। उसकी जान में जान आयी, कड़क कर बोला—हाँ साहब, जागता हूँ। पैशाचिक जगत् से निकल कर वह फिर चैतन्य संसार में आया। उसे अब नेत्र समूह का रहस्य खुला। दारोग़ा की लालटेन की ज्योति थी, जो किवाड़ की दरारो से कोठरी में आ रही थी। इसी साधारण-सी बात ने उसे इतना सशंक कर दिया था। दारोग़ा आज गश्त करने निकला था।

दारोग़ा के चले जाने के बाद मनोहर कुछ सावधान हो गया।

शंकोत्पादक कल्पनाएँ शान्त हुईं; लेकिन अपने तिरस्कार और अपमान की चिन्ताओं ने फिर आ घेरा। सोचने लगा, एक वह हैं जो उजड़े हुए गाँवों को आबाद करते हैं और जिनका यश संसार गाता है। एक मैं हूँ जिसने गाँव को उजाड़ दिया। अब कोई भोर के समय मेरा नाम न लेगा। ऐसा जान पड़ता है कि सभी डामिल जायँगे, एक भी न बचेगा। अभी न जाने कितने दिन यह मामला चलेगा। महीने भर लगे, दो महीने लग जायँ, इतने दिनों तक मैं सब की आँखों में काँटे की तरह खटकता रहूँगा, सब मुझे कोसेंगे, गालियाँ दिया करेंगे। आज दुखरन ने कह ही सुनाया, कल कोई और ताने देगा, कादिर खाँ को भी यह क़ैद अखरती ही होगी।" (पृ० ३६३-३६६)

"श्रद्धा इस समय अपने द्वार पर इस भाँति खड़ी थी जैसे कोई पथिक रास्ता भूल गया हो। उसका हृदय आनन्द से नहीं, एक अव्यक्त भय से काँप रहा था। यह शुभ दिन देखने के लिए उसने कितनी तपस्या की थी! यह आकांक्षा उसके अन्धकारमय जीवन का दीपक, उसकी डूबती हुई नौका की लंगर थी। महीने के तीस दिन, और दिन के चौबीस घन्टे यही मनोहर स्वप्न देखने में कटते थे। विडम्बना यह थी कि वे आकांक्षाएँ और कामनायें पूरी होने के लिए नहीं केवल तड़पाने के लिए थीं। वह दाह और संताप शांति का इच्छुक न था। श्रद्धा के लिए प्रेमशङ्कर केवल एक कल्पना थे। इसी कल्पना पर वह प्राणार्पण करती थी। उसकी भक्ति केवल उनकी स्मृति पर थी, जो अत्यन्त मनोरम भावमय और अनुरागपूर्ण थी। उनकी उपस्थिति ने इस सुखद कल्पना और मधुर स्मृति का अन्त कर दिया। वह जो उनकी याद पर जान देती थी अब उनकी सत्ता से भयभीत थी, क्योंकि वह कल्पना, धर्म और सतीत्व की पोषक थी और यह

सत्ता उनकी घातक। श्रद्धा को सामाजिक अवस्था और समयोचित आवश्यकताओं का ज्ञान था। परम्परागत बन्धनों को तोड़ने के लिए जिस विचार स्वातंत्र्य और दिव्य ज्ञान की जरूरत है उससे वह रहित थी। वह एक साधारण हिन्दू-अवला थी। वह अपने प्राणों से, अपने प्राण-प्रिय स्वामी से हाथ धो सकती थी; किन्तु अपने धर्म की अवज्ञा करना अथवा लोक निन्दा का सहन करना उसके लिए असम्भव था। जब से उसने सुना था कि प्रेम-शङ्कर घर आ रहे हैं, उसकी दशा उस अपराधी की-सी हो रही थी जिसके सिर पर नंगी तलवार लटक रही है।" (प्रेमाश्रम पृ० १७०-१७२)

"विद्या की आँखों में आँसू की बड़ी-बड़ी बूँदे दिखाई दीं; जैसा मटर की फली में दाने होते हैं। बोली, बहिन तब तो मेरी नाव डूब गई। जो कुछ होना था हो चुका। अब सारी स्थिति समझ में आ गई। इस धूर्त ने इसीलिए यह जाल फैलाया था, इसीलिए इसने यह भेष रचा है, इसी नीयत से इसने गायत्री की गुलामी की थी। मैं पहले ही डरती थी, कितना समझाया, कितना मना किया, पर इसने मेरी एक न सुनी। अब मालूम हुआ इसके मन में क्या ठनी थी। आज सात साल से यह इसी धुन में पड़ा हुआ है। अभी तक मैं यही समझती थी कि इसे गायत्री के रङ्ग-रूप, बनाव-चुनाव, बात-चीत ने मोहित कर लिया है। वह निन्द्य कर्म होने पर भी घृणा के योग्य नहीं है। जो प्राणी प्रेम कर सकता है वह धर्म, दया, विनय आदि सद्‌गुणों से शून्य नहीं हो सकता। प्रेम की ज्योति उसके हृदय को प्रकाशित करती रहती है। लेकिन जो प्राणी प्रेम का स्वाँग भर कर उससे अपना कुटिल अर्थ सिद्ध करता है, जो टट्टी की आड़ से शिकार खेलता है, उससे ज्यादा नीच नराधम कोई हो ही नहीं सकता। वह उस डाकू से

भी गया बीता है जो धन के लिए लोगों के प्राण हर लेता है। वह प्रेम जैसे पवित्र वस्तु का अपमान करता है। इसका पाप अक्षम्य है। मैं बेचारी गायत्री को अब भी निर्दोष समझती हूँ। बहिन, अब इस कुल का सर्वनाश होने में विलम्ब नहीं है। जहाँ इतना अधर्म, इतना पाप, इतना छल-कपट हो वहाँ कल्याण कैसे हो सकता है ? अब मुझे पिता जी की चेतावनी याद आ रही है।" (वही, पृ० ५१४)

(४) प्रकृति-वर्णन

प्रेमचन्द के प्रकृति-वर्णन भाषा के जगमगाते हुए हीरे हैं। ये हीरे उनके उपन्यासों और उनकी कहानियों में बिखरे हुए मिलेंगे। उपयोगितावादी प्रेमचन्द बिना मतलब प्रकृति-चित्र उपस्थित नहीं करते, जैसी परिस्थिति हम 'हृदयेश' के उपन्यासों में पाते हैं। जहाँ पिछले खेवे के उपन्यासकार प्रकृति को 'कादम्बरी' के भीतर से देखते थे या बँगला उपन्यासो के ढङ्ग पर उस पर नायक-नायिका के सुख-दुख का आरोपण कर उसे विकृत बना देते थे, वहाँ प्रकृति के प्रेमी प्रेमचन्द ने प्रकृति को लेकर न शब्द बर्बाद किये हैं, न व्यर्थ के बतंगड़ खड़े किये हैं। ऊहापोह प्राकृतिक वर्णन से उन्हें चिढ़ थी। वे 'प्रसाद' की भाँति प्रकृति को रोमांस के भीतर से भी नहीं देखते थे। परन्तु उनका प्रेम उनके प्रत्येक वर्णन से फूटा पड़ता है। गाँव की प्रकृति का ऐसा सुन्दर वर्णन तो उसके सिवा कहीं मिलेगा भी नहीं। अन्य उपन्यासकारों की दृष्टि शहर की चहारदीवारी से बाहर ही नहीं जाती।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, प्रेमचन्द प्रकृति का निरर्थक वर्णन नहीं करते—वे उसे वीथिका के रूप में देखते हैं।

"अमावस की रात थी। आँखों का होना-न-होना बराबर था। तारागण भी बादलों में मुँह छिपाये हुए थे, अन्धकार ने जल और बालू, पृथ्वी और आकाश को समान कर दिया था। केवल जल की मधुर ध्वनि गङ्गा का पता देती थी। ऐसा सन्नाटा छाया हुआ था कि जलनाद भी उसमें निमग्न हो जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि पृथ्वी अभी शून्य के गर्भ में पड़ी हुई है।" (प्रेमाश्रम पृ० ५८५)

यह वर्णन उतना वीथिका के रूप में नहीं है जितना "स्वांतः सुखाय" या कहिये "प्रकृति प्रेम के स्वतः अनुभव के लिये"? यद्यपि प्रेमचन्द के अधिकांश प्रकृतिचित्र भूमिका स्वरूप ही हमारे सामने आये हैं, जैसे "जेठ का सूर्य आमों के झुरमुट से निकल कर आकाश पर छाई हुई लालिमा को अपने रजत प्रताप से तेज प्रदान करता हुआ ऊपर चढ़ रहा था और हवा में गरमी आने लगी थी। दोनों ओर खेतों में काम करने वाले किसान उसे देख कर राम-राम करते और सम्मान भाव से चिलम पीने का निमंत्रण देते थे, पर होरी को इतना अवकाश कहाँ था।" (गोदान पृ० ४)

"अरावली की हरी-भरी, झूमती हुई पहाड़ियों के दामन में जसवंतनगर यों सो रहा है जैसे बालक माता की गोद में। माता के स्तन से दूध की धारें प्रेमोद्गार से विकल, उबलती, मीठे स्वरों में गाती निकलती हैं और बालक के नन्हे से मुख में न समा कर नीचे बह जाती हैं। प्रभात की स्वर्ण-किरणों में नहा कर माता का स्नेह सुन्दर मुख निखर गया है और बालक भी, अँचल से मुँह निकाल कर, माता के स्नेह-पल्लवित मुख की ओर देखता है, हुंकुसता है और

मुसकुराता है, पर माता बारबार उसे अंचल से ढक लेती है कि कहीं उसे नजर न लग जाय।" (रंगभूमि पृ० ४५७)

पहले वर्णन में किसी प्रकार का अलंकार नहीं, वस्तुस्थिति जैसी है, सामने है। दूसरे अवतरण में 'रूपक' का आश्रय लेकर एक अत्यत सुंदर काव्य-चित्र उपस्थित किया जा रहा है। हमारे सारे पिछले काव्य में प्रकृति को अलंकारों और रूढ़िविधानों के भीतर से ही देखा गया है। परन्तु जसवंतनगर का यह चित्र मा-शिशु के सहज-संबंध की तरह ही चिरपुरातन-चिरनूतन है। इस जोड़ की चीज़ हमारे यहाँ थी ही नहीं।

परन्तु जहाँ प्रेमचन्द ने मनुष्य और प्रकृति का संबंध जोड़ा है, वहाँ भी वह अद्वितीय है—"श्यामल क्षितिज के गर्भ से निकलने वाली बाल ज्योति की भाँति अमरकान्त को अपने अन्तःकरण की सारी क्षुद्रता, सारी कलुषता के भीतर एक प्रकाश-सा निकलता हुआ जान पड़ा जिसने उसके जीवन को रजत शोभा प्रदान कर दी। दीपकों के प्रकाश में, संगीत के स्वरों में, गगन की तारिकाओं में, उसी शिशु की छवि थी, उसी का माधुर्य था, उसी का नाम था" (कर्मभूमि, पृ० ६४)

"गगन मंडल में चमकते हुए तारागण व्यंग दृष्टि की भाँति हृदय में चुभते थे। सामने, वृक्षों के कुंज थे। विनय की स्मृति-मूर्ति, श्याम, करुण ज्वर की भाँति कंपित, धुएँ की भाँति असंबद्ध, यों निकलती हुई मालूम हुई, जैसे किसी संतप्त हृदय से हाय की ध्वनि निकलती है।" (रंगभूमि ४५६)

इस प्रकार के अनेक संश्लिष्ट प्रकृति-चित्र प्रेमचन्द के साहित्य में मिलेंगे। भाषा-शैली का सर्वोच्च विकार भी यहीं मिलेगा, जहाँ वह मनोविज्ञान का भव्य रस और प्रकृति-सौंदर्य के साथ-साथ व्यंजित करती चलती है।

३. पात्रों की भाषा (कथोपकथन)

पात्रों की भाषा ही प्रत्येक उपन्यास की जान होती है, अतः यहीं हम उपन्यासकार की सफलता-असफलता की जाँच करते हैं। कथोपकथन ही वह शक्ति है जिसमें पात्र अपने को प्रकाशित करते हैं। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से तो कथोपकथन का अध्ययन आवश्यक है ही, भाषा की दृष्टि से भी वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। एक ही साँस में यदि पात्रों की भाषा से गुण बताना हो तो हम कह सकते हैं कि "वह स्वाभाविक हो, पात्रानुकूल हो, चरित्र-चित्रण-द्योतक हो, श्लील हो, मनोरंजक हो।"

परन्तु यह तो हुई चलती बात। हमें विशद रूप से प्रेमचन्द की पात्रों की भाषा पर विचार करना है। अतः हमें परिस्थिति को सुलझा कर समझाना होगा। प्रेमचन्द से पहले के उपन्यासों में दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग हो चुका था। एक तत्सम (संस्कृत) प्रधान हिन्दी थी, दूसरी ऐसी सरल हिन्दी जो उर्दू-फ़ारसी के शब्दों को भी स्वीकार कर लेती थी—

"इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है। यहाँ आप के आराम, पथिकों और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं। × × × पुराने टूटे-फूटे शिवाले इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमांत के झाड़ जहाँ झुण्ड के झुण्ड कौए और बगुले बसेरा लेते हैं गवँई की शोभा बढ़ाते हैं। पौ फटते और गौधूली के समय गैयों के खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहिरा गिरता हो।"

(श्यामास्वप्न)

इस अवतरण में बहुत ही सुन्दर 'अनुप्रास' का प्रयोग है और 'गौधूली और सीमांत' जैसे कठिन शब्द लिखे गये हैं। दूसरी

प्रकार की भाषा-शैली देवकीनन्दन खत्री की चन्द्रकांता की भाषा थी जिसे काफ़ी लोकप्रियता भी मिली। प्रेमचन्द के सामने भाषा-विषयक दो प्रकार की समस्याएँ थीं। एक तो यह कि वे उन नये पात्रों की भाषा को क्या रूप दें जिनका संबंध खड़ी बोली हिन्दी से स्थापित न हो पाया था, दूसरे कि वे अपनी भाषा की उर्दूवाली रवानी (प्रवाह) को बनाये रखते हुए संस्कृत शब्दों का कहाँ तक प्रयोग करे। प्रेमचन्द की रचनाओं में इन समस्याओं का उत्तर भली भाँति मिल जाता है। पहली समस्या पात्रों की भाषा के संबंध में है—इस पर हम विस्तारपूर्वक कुछ कहेंगे। अन्य स्थलों की भाषा 'प्रेमचन्दी भाषा' है और इस पर हम अलग विचार कर चुके हैं। यदि उनकी भाषा का एक सामान्य उदाहरण उपस्थित करना हो तो हम यह देंगे—

१. "दुनिया सोती थी पर दुनिया की जीभ जागती थी। सबेरे ही देखिये, बालक-वृद्ध सब के मुँह से यही बात सुनायी देती। जिसे देखिये, वह पंडित जी के इस व्योहार पर टीका-टिप्पणी करता था। निन्दा की बौछार हो रही थी, मानों संसार से अब पाप का पाप कट गया। पानी को दूध के नाम से बेचने वाला ग्वाला, कल्पित रोजनामचे भरने वाला अधिकारी वर्ग, रेल में बिना टिकट सफर करने वाले बाबू लोग, जाली दस्तावेज़ बनाने वाले सेठ और साहूकार सब के सब देवताओं की भाँति गरदनें हिला रहे थे।"

२. "प्रातःकाल महाशय प्रवीण ने बीस दफा उबाली चाय का प्याला तैयार किया और बिना शक्कर और दूध के पी गये। यही उनका नाश्ता था। महीनों से मीठी दूधिया चाय न मिली थी। दूध और शक्कर उनके जीवन के आवश्यक पदार्थों में न थे। घर में गये जरूर कि पत्नी को जगा कर पैसे माँगें, पर

उसे फटे-मैले लिहाफ में निमग्न देख कर जगाने की इच्छा न हुई। सोचा, शायद मारे सर्दी के बेचारी को रात भर नींद न आयी होगी, इस वक्त जाकर आँख लगी है। कच्ची नींद जगा देना उचित न था, चुपके से चले आये।"

परन्तु पात्रों की भाषा सदैव इस प्रकार की भाषा नहीं हो सकती थी। पात्रों की भाषा के संबन्ध में समस्या थी विभिन्न वर्गों की भाषा की—गाँव वालों की भाषा क्या हो; शहरातियों की भाषा कैसी हो, मुसलमान हिन्दी बोलें या उर्दू; शहर में भी शिक्षा और पेशे के हिसाब से अनेक श्रेणियाँ हैं जिनकी बोलचाल में अंतर है। जिस सामान्य भाषा के २ अवतरण ऊपर दिये हैं, उनसे इनका अंतर किस प्रकार प्रगट किया जाय कि यथार्थता हाथ से न जाय?

यदि संवाद का उद्देश्य पात्र-निरूपण है तो वह पात्र के अनुकूल होना चाहिये, जैसे दार्शनिक शुद्ध हिंदी बोले या तत्सम प्रधान हिन्दी, ग्रामीण है तो देहाती भाषा, मुसलमान है तो उर्दू। यदि ऐसा नहीं है तो पात्रों में स्वाभाविकता नहीं आ सकती। प्रेमचन्द ने मुसलमानों और ग्रामीणों के संबंध में भाषा-विषयक एक विशेष सिद्धान्त बना लिया और वे उसी पर चले हैं। मुसलमान पात्र कठिन उर्दू का ही प्रयोग करते हैं यद्यपि कहीं-कहीं वे सरल उर्दू भी बोलते हैं जो सरल हिन्दी से बहुत भिन्न नहीं है और कुछ एक कहानियों में हिन्दी का भी प्रयोग करते हैं जैसे अरब कहता है—

"नहीं नहीं, शरणागत की रक्षा करनी चाहिए।- आह! जालिम! तू जानता है मैं कौन हूँ। मैं उसी युवक का अभागा पिता हूँ जिसकी आज तूने इतनी निर्दयता से हत्या की है। तू जानता है तूने मुझ पर कितना बड़ा अत्याचार किया है?

तूने मेरे ख़ानदान का निशान मिटा दिया है। मेरा चिराग़ गुल कर दिया।"

परन्तु कहानी अरब से सम्बन्ध रखती है और प्रेमचन्द अरबी भाषा में कथोपकथन नहीं लिख सकते थे। जहाँ कहानी विदेश से सम्बन्धित है, एक दम नितांत नवीन भाषा-भाषी पात्रों को सामने लाती है, वहाँ तो सामान्य-भाषा का प्रयोग करना ही ठीक होगा। कठिनाई केवल उन मुसलमान पात्रों के विषय में है जो हिन्दुस्तान के ही लोग हैं परन्तु कठिन उर्दू बोलते हैं। इनकी भाषा क्या हो? क्या वही जो यह बोलते हैं या इनकी भाषा के साथ भी वही किया जाय जो विदेशी अरब की भाषा के साथ किया गया है। इस पश्न को लेकर हिन्दी में कथाकारों के दो दल हो गये हैं। 'प्रसाद' के मुसलमान पात्र भी संस्कृत-गर्भित हिन्दी बोलते हैं। बख्शी ने अपनी कहानी कमलावती में रुस्तम से संस्कृतमय भाषण उपस्थित कराया है। सीधा-साधा प्रश्न यह है कि मुसलमान पात्र के लिये जो हमारे ही प्रांत में रहता है शुद्ध हिन्दी बोलना स्वाभाविक होगा या शुद्ध हिन्दी या अधिक उर्दू, कम हिन्दी। प्रेमचन्द के मुसलमान अधिकतर कठिन उर्दू बोलते हैं, जैसे—

"जब से हुज़ूर तशरीफ़ ले गये मैंने भी नौकरी को सलाम किया। ज़िंदगी शिकम-पर्वरी में गुज़री जाती थी। इरादा हुआ कुछ दिन क़ौम की ख़िदमत करूँ। इस ग़रज से "अंजुमन इत्तहाद" खोल रक्खी है। उसका मक़सद हिन्दू-मुसलमानों में मेल-जोल पैदा करना है। मैं इसे क़ौम का सबसे अहम मसला समझता हूँ। आप दोनों साहब अगर अंजुमन को अपने कदमों से मुमताज़ फ़रमाएँ तो मेरी ख़ुशनसीबी है।" (प्रेमाश्रम पृ० ३५०)

"जनाब रिन्दों को न इत्तहाद से दोस्ती न मुखालिफत से

दुश्मनी। अपना मुशरब तो सुलहेकुल है। मैं अब यही तै नहीं कर सका कि आलम बेदारी में हूँ या ख्वाब में। बड़े-बड़े आलिमों को एक बे सिर-पैर की बात की ताईद में जमीन और आसमान के कुलाबे मिलाते देखता हूँ। क्योंकर बावर करूँ कि बेदार हूँ? साबुन, चमड़े और मिट्टी के तेल की दूकानो में आपको कोई शिकायत नहीं। कपड़े, बरतन, अदवियात की दूकाने चौक में हैं, आप उनको मुतलक बेमौक़ा नहीं समझते। क्या आपकी निगाहों में हुस्न की इतनी भी वक़्अत नहीं? और क्या यह जरूरी है कि इसे किसी तंग व तारीक कूचे में बन्द कर दिया जाय? क्या वह बाग बाग़ कहलाने का मुस्तहक़ है जहाँ सरों की कतारें एक गोशे में हों, बेले और गुलाब के तख्ते दूसरे गोशे में और रविशों के दोनो तरफ नीम और कटहल के दरख्त हो, वस्त में पीपल का एक ठूँठ और हौज के किनारे बबूल की कलमें? चील और कौवे दोनो तरफ़ दरख्तों पर बैठे अपना राग अलापते हों और बुलबुलें किसी गोशये तारीक में दर्द के तराने गाती हों? मै इस तहरीक की सख्त मुखालिफत करता हूँ। मै इस क़ाबिल भी नहीं समझता कि उस पर साथ मतानत के बहस की जाय।"
(सेवासदन पृ० १८८)

जहाँ इस तरह की तकरीरें कई पृष्ठों तक चली जाती हैं, वहाँ हिन्दी का पाठक यह सोचे कि उपन्यासकार उसके साथ अन्याय कर रहा है तो कोई बेजा बात नहीं। परंतु उपन्यासकार भी लाचार है। यदि वह फ्रांसीसी और अरबी लोगों की कहानी लिखता है और उनका कथोपकथन हिन्दी में रखता है (और वह इसे हिन्दी में न रखे तो उसे पढ़े कौन, समझे कौन, फिर यह भी सम्भव नहीं कि वह दर्जनों विदेशी भाषाएँ जानता हो। तो पाठक बराबर यह समझे रहता है कि जिस भाषा में कहानीकार

लिख रहा है उस भाषा में कथोपकथन घटित न हुआ होगा। परंतु अपने प्रांत की कहानी में जहाँ मुसलमानों की बात आती है वहाँ इस तरह की बात ढह जाती है—वह मान्यता ही नहीं रहती। यहाँ जैसी परिस्थिति है उसको दृष्टि में रखते हुए कहानी उसे आस-पास ही असत्य लगेगी। क्या यहाँ का मुसलमान प्रसाद की भाषा बोलता है? या समझता है? वस्तुतः जहाँ उपन्यास हिन्दुओं के ही विभिन्न वर्गों की भाषा में थोड़ा भेद रखता है वहाँ उसे और आगे बढ़ कर मुसलमान के मुँह से उर्दू ही कह-लवाना पड़ेगा—फिर चाहे वह एक वर्ग को असरल ही हो जाय। हो सकता है कभी प्रांत के पड़ोसी हिन्दू-मुसलमानों की भाषा लगभग एक हो जाय, परतु अभी तो मुसलमान मजलिसों और घरों की भाषा (कम से कम शहर में) हिन्दुओं की भाषा से कोई सम्बन्ध नहीं रखती। आँख खोल कर हिन्दू-मुसलमानों दोनों में उठने-बैठने वाले प्रेमचन्द इस यथार्थ तथ्य को जानते थे। इसीलिए उन्होंने भाषा की यथातथ्य परिस्थिति को अपनी रच-नाओं में स्थान दिया। भाषा-सम्बन्धी इस विषम परिस्थिति से बचने का तरीक़ा यही है कि हिन्दू उपन्यासकार हिन्दी में लिखते हुए मुसलमानों के घर और समाज में प्रवेश ही न करे—परन्तु एक बार काजल की कोठरी में जाकर 'लीक' से बचना नहीं हो सकता। आलोचकों के एक वर्ग में प्रेमचन्द उर्दू-फारसी भाषा-शैली के प्रयोग के लिए लांछित हैं, परंतु उन्होंने जो किया उसके सिवा कुछ और करना असम्भव और अस्वाभाविक था।

दूसरी समस्या ग्रामीणों की भाषा सम्बन्धी थी—इसे भी प्रेमचन्द को हल करना पड़ा। इस अध्ययन के आरंभ में हम उनका भाषा प्रयोग सम्बन्धी एक अवतरण दे चुके हैं, उससे परिस्थिति साफ़ हो जायगी। गढ़कुंडार (ले० वृन्दावनलाल)

में अर्जुन जो बात करता है अपनी ठेठ देहाती बुन्देलखंडी में करता है, परन्तु इतनी स्वाभाविकता को अकेले अर्जुन के साथ निभाया जा सकता है। जहाँ गाँव भर का चित्रण है वहाँ यदि सब लोग ठेठ देहाती बोलें तो शहरी पाठक के लिए एक विचित्र परिस्थिति उत्पन्न होगी। बोली को समझने वाले सर्वत्र नहीं होंगे, कदाचित् एक विशेष प्रदेश के आगे उसे समझने में कठिनाई होगी। अतएव यह सम्भव है कि इस प्रकार का वार्तालाप पात्रों की स्वाभाविक रूपरेखा खींच सके, परन्तु पाठक उस बोली के सौष्ठव का आनन्द उठा सकेगा। इसी भावना से प्रेरित होकर प्रेमचन्द ने ग्रामीण भाषा का प्रयोग कहीं भी नहीं किया। इतनी दूर तक यथार्थवाद का पल्ला पकड़ कर वह पाठकों के लिए एकदम दुरूह हो जाना नहीं चाहते थे। परंतु फिर भी क्या प्रेमाश्रम के देहाती पात्रों की भाषा वही है जो शहरी पात्रों की है? क्या प्रेमचन्द ने देहाती भाषा में प्रयोग होने वाले सैकड़ों शब्दों को अपने उपन्यासों और अपनी कहानियों में स्थान नहीं दिया है? क्या उनके गोबर, मनोहर, सुजान, कादिर—सभी ग्रामीण पात्रों की भाषा सामान्य देहाती भाषा के पास नहीं पड़ती। इस प्रकार हम देखते हैं कि ग्रामीण भाषा के सम्बन्ध में प्रेमचन्द ने एक बीच का मार्ग ग्रहण किया है—ऐसा नहीं करते तो उनके उपन्यास में भाषाओं का अजायबघर खुल जाता और बात हास्यास्पद होती।

प्रेमचन्द की भाषा की एक खास ख़ूबी उनका मुहावरों का प्रयोग है। उनके सिवा किसी भी अन्य साहित्यकार की भाषा में मुहावरों का इतना अधिक, इतना सार्थक प्रयोग नहीं हुआ है। उनके सारे साहित्य में कई हजार से कम मुहावरे न आये होंगे। भावों की गहनता और तीव्रता प्रगट करने में इन मुहावरों ने

चमत्कारिक सहायता दी है। 'दिल के अरमान निकालने', 'कान खड़े हुए' (कायाकल्प पृ० ३३२) दोनों आदमियों में 'दाँतकाटी रोटी' थी ('वही पृ० ३३३) अहल्या अपनी चीजों को 'तीन तेरह' न होने देना चाहती थी। इससे ननद-भावज में कभी-कभी 'खटपट' हो जाती थी (वही पृ० ५३३) सब विद्वानों के 'गोरखधंधे' हैं (वही पृ० ४०४) उसकी 'तूती बोलेगी' (यही पृ० ५६८) अभाव से जीवन पर्यंत उनका 'गला न छूटा' (वही पृ० ५८८) बेचारे लल्लू को ये सब 'पापड़ बेलने' पड़ेंगे (वही पृ० ४३३)। कहीं-कहीं वे मुहावरों के बल पर ही वर्णन अथवा कथोपकथन सजाते चले जाते हैं—

"जब वह बाहर निकल गये तो गुरुसेवक ने मनोरमा से पूछा—आज दोनों इन्हें क्या पट्टी पढ़ा रहे थे?

मनोरमा—कोई खास बात तो न थी।

गुरुसेवक—यह महाशय भी बने हुए मालूम होते हैं। सरल जीवन-वालों से बहुत घबराता हूँ। जिसे यह राग अलापते देखो समझ लो, या तो इसके लिए अंगूर खट्टे हैं या वह यह स्वाँग रच कर कोई बड़ा शिकार मारना चाहता है।

मनोरमा—बाबू जी उन आदमियों में नहीं हैं।

गुरुसेवक—तुम क्या जानो। ऐसे गुरु-घंटालों को खूब पहचानता हूँ।" (कायाकल्प पृ० १५७)

"हुक्म मिलने की देर थी। कर्मचारियों के तो हाथ खुजला रहे थे। वसूली का हुक्म पाते ही बाग़-बाग़ हो गये। फिर तो वह अंधेर मचा कि सारे इलाक़े में कुहराम मच गया। आसामियों ने नये राजा साहब से दूसरी ही आशायें बाँधी थीं। यह बला सिर पड़ी तो झल्ला गये। यहाँ तक कि कर्मचारियों के अत्याचार देख कर चक्रधर का खून भी उबल

पड़ा। समझ गये कि राजा साहब भी कर्मचारियों के पंजे में आ गये।"

(कायाकल्प, पृ० १६४)

मुहावरों के सिवा कहावतों और सूक्तियों का एक बड़ा ढेर उनके साहित्य में इकट्ठा है। इनसे भाषा-शैली की शक्ति और सौंदर्यमयता में पग-पग पर वृद्धि हुई है। जैसे राम राधा से वैसे राधा राम से (काया-कल्प) शुभ मुहूर्त पर हमारी मनोवृत्तियाँ धार्मिक हो जाती है। (वही, पृ० १८०) सच है, सबसे अच्छे मूढ़, जिन्हें न व्यापत जगत गति (वही, पृ० ६००), आये थे हरिभजन को; ओटन लगे कपास (वही, पृ० ५५१)। मन की मिठाई घी-शक्कर की मिठाई से कम स्वादिष्ट नहीं होती (वही, पृ० ५२१)। इस प्रकार की सूक्तियाँ कहीं दो-चार पंक्तियों की हैं, कहीं वे ग्रंथकार के आत्मचिंतन का रूप धारण कर अधिक विस्तार पा जाती है।

परंतु प्रेमचंद की भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी काव्यात्मकता। उपमा, उदाहरण, उत्प्रेक्षा—कितने ही अलंकारों के भीतर से बह कर आने वाला कल्पना सौंदर्य हमें आकर्षित ही नहीं कर लेता, महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन करता है। कुछ उदाहरण हैं—

"सामने गगन-चुम्बी पर्वत अंधकार के विशालकाय राक्षस की भाँति खड़ा था। शंखधर बड़ी तीव्र गति से पतली पगडंडी पर चला जा रहा था। उसने अपने आपको उसी पगडंडी पर छोड़ दिया है। यह कहाँ ले जायगी वह नहीं जानता। हम भी इस जीवनरूपी पतली, मिटी-मिटी पगडंडी पर क्या उसी भाँति तीव्रगति से दौड़े नहीं चले जा रहे हैं? क्या हमारे सामने उनसे

भी ऊँचे अंधकार के पर्वत नहीं खड़े हैं ?" (कायाकल्प, पृ० ५०८)

"मन में बार-बार एक प्रश्न उठता था, पर जल में उछलने वाली मछलियों की भाँति फिर मन ही में विलीन हो जाता था।"

(वही, पृ० ३१५)

"चक्रधर को ऐसा मालूम हुआ मानो पृथ्वी डगमगा रही है, मानो समस्त ब्रह्माण्ड एक प्रलयकारी भूचाल से आन्दोलित हो रहा है" (वही, पृ० ५२६) "पिता और पुत्री का सम्मिलन बड़े आनन्द का दृश्य था। कामनाओं के वे वृक्ष जो मुद्दत हुई निराशा-तुषार की भेंट हो चुके थे, आज लहलहाते, हरी-हरी पत्तियों से लदे हुए, सामने खड़े थे" (वही, पृ० ५७६) जैसे सुंदर भाव के समावेश से कविता में जान पड़ जाती है और सुंदर रगों से चित्रों में उसी प्रकार दोनों बहनों के आने से झोपड़ी में जान आ गई। अंधी आँखों में पुतलियाँ पड़ गई हैं। मुरझाई हुई कली शांता अब खिल कर अनुपम शोभा दिखा रही है। सूखी हुई नदी उमड़ पड़ी है। जैसे जेठ-वैशाख की तपन की मारी हुई गाय सावन में निखर जाती है और खेतों में किलोलें करने लगती है, उसी प्रकार विरह की सताई हुई रमणी अब निखर गई है। प्रेम में मग्न है। नित्य प्रति प्रातःकाल इस झोपड़े से दो तारे निकलते हैं और जाकर गगा में डूब जाते हैं। उनमें से एक बहुत दिव्य और द्रुतगामी है, दूसरा मध्यम और मंद। एक नदी में थिरकता है, नाचता है, दूसरा अपने वृत्त से बाहर नहीं निकलता। प्रभात की सुनहरी किरणों में इन तारों का प्रकाश मंद नहीं होता, वह और भी जगमगा उठते हैं।

(सेवासदन, ३४०)

उनके साहित्य में इस प्रकार की उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं की

फुलझड़ी बराबर छूटती रहती है। जहाँ कहानी को आकर्षक बनाने के लिए अच्छे प्लाट या कथानक की आवश्यकता है, वहाँ भाषा-सौंदर्य के लिए उपमाओं की कम आवश्यकता नहीं है। पहली बात तो यह है कि इन्हीं के द्वारा पात्रों के द्वारा उपन्यासकार के हृदय पर पड़े प्रतिबिंब की झलक पात्रों को मिल सकती है। चरित्र-विश्लेषण और विवेचन पाठक को इतना नहीं छूता, जितना उपन्यासकार की तत्संबंधी स्वतः-अनुभूति। इसीलिए सफल उपन्यासकार बराबर ऐसी उपमाओं का प्रयोग करते हैं जो ऊपर से देखने पर तो साधारण जान पड़ती परन्तु वैसे उनके भीतर गहरी अनुभूति और गम्भीर तथ्य छिपे रहते हैं।

प्रेमचंद की उपमा-उत्प्रेक्षाएँ एवं उदाहरण बहुत संक्षिप्त होते हैं परंतु मनुष्य-प्रकृति का गहरा अध्ययन उनमें छिपा होता है। उनकी भाषा सरल और सर्व-सुगम होती है। वह आध्यात्मिक वैयक्तिक एवं सामाजिक सचाई को अत्यंत सुष्ठ शब्दों में हमारे सामने रखते हैं। उनसे उनकी तीक्ष्ण पर्यवेक्षण शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है जैसे—

"एक छोटा-सा तिनका भी आँधी के समय मकान पर जा पहुँचता है"। "काँच का टुकड़ा जब टेढ़ा होता है तो तलवार से अधिक काट करता है।" परंतु उन्होंने कहीं-कहीं अत्यंत सुंदर बड़े रूपक भी बाँधे हैं जो काव्य में सौंदर्य-गीतिकाव्य की भाँति स्वच्छ और उत्कृष्ठ है—

"अरावली की हरी-भरी, झूमती हुई पहाड़ियों के दामन में जसवंतनगर यों शयन कर रहा है, जैसे बालक माता की गोद में। माता के स्तन से दूध की धारें. प्रेमोद्गार से विकल, उबलती, मीठे स्वरों में गाती, निकलती हैं, और बालक के नन्हे-से मुख में न समा कर नीचे बह जाती हैं। प्रभात की स्वर्ण-किरणों में नहा

कर माता का मुख निखर गया है, और बालक भी, अंचल से मुँह निकाल-निकाल कर, माता के स्नेह-स्रावित मुँह, की ओर देखता है, हुमुकता है, और मुसकुराता है, पर माता बार-बार उसे अंचल से ढक लेती है कि कहीं उसे नज़र न लग जाय।

सहसा तोप के छूटने की कर्ण-कटु ध्वनि सुनाई दी। माता का हृदय काँप उठा, बालक गोद से चिपट गया।

फिर वही भयंकर ध्वनि! माँ दहल उठी, बालक सिमट गया।

फिर तो लगातार तोपें छूटने लगीं। माता के मुख पर आशंका के बादल छा गये। आज रियासत के नए पोलिटिकल एजेन्ट यहाँ आ रहे हैं। उन्हीं के अभिवादन में सलामियाँ उतारी जा रहीं है।" (रंगभूमि, पृ० ४५८)

उनकी उपमा-उत्प्रेक्षाएँ उनके पात्रों के मनोविज्ञान की इस खूबी से स्पष्ट करती हैं कि हम आश्चर्यचकित रह जाते हैं। जैसे-

"शिकरे के चंगुल में फँसी हुई फ़ाख्ता की तरह कामिनी के होश उड़ गए"

"नदी दूर ऊँचे किनारों में इस तरह मुँह छिपाये हुए थी जैसे कमज़ोरों में जोश"

फिर उनकी चुस्ती (सौष्ठव) तो देखने योग्य है—

"मथुरा की जान उस समय तलवार की धार पर थी"

"जैसे दबी हुई आग हवा लगते ही सुलग जाती है वैसे तकलीफ के ध्यान से उनका ब्रह्मपुरी का सोया हुआ चाँद जग उठा।" और जहाँ वे इनके बल पर प्रकृति चित्रण करते हैं, वहाँ तो साधारण शैलीकार की पहुँच के बाहर हैं—"पेड़ों की काँपती हुई पत्तियों से सरसराहट की आवाज़ निकल रही थी मानो कोई बियोगी आत्मा पत्तियों पर बैठी हुई सिसकियाँ भर रही हो"

प्रेमचंद की भाषा-शैली के क्रमविकास का अध्ययन करने से पता चलता है कि उनकी अपनी वैयक्तिक शैली है। उनकी प्रारंभिक रचनाओं से लेकर उनकी अंतिम रचनाओं तक शैली में विशेष अंतर नहीं आया है, हां उसके भिन्न-भिन्न रूप प्रकाश में आते रहे हैं और वह बराबर पुष्ट होती रही है। कायाकल्प तक शैली में धीरे-धीरे तत्समता और काव्यात्मकता का बराबर विकास होता गया है, अशुद्ध प्रयोग कम होने लगे हैं। कायाकल्प से गोदान तक की भाषाशैली वैभिन्न्य और प्रौढता में अद्वितीय है। वह धीरे-धीरे काव्यात्मकता से हट कर संयम और मितव्ययता की ओर जा रही है। गोदान में हम उसके सबसे सुंदर, सुष्ठ और संयमित रूपों से परिचित होते हैं। भाषा तत्सम-प्रधान है, शैली गीतिकाव्य की शैली की भाँति संगठित, संयोजित और स्वस्थ। प्रेमचंद जो कहना चाहते हैं वे कम-से-कम शब्दों में अधिक से अधिक प्रभाव के साथ कह देते हैं।

प्रश्न यह हो सकता है कि प्रेमचंद की भाषा-शैली समसामयिक निबंधकारों और कथाकारों की भाषा-शैली से भिन्न किस प्रकार है। हम कहेंगे इन बातों में भिन्न है—१. उर्दू शब्दों के प्रयोग से उसमें प्रवाह आ गया है, २ मुहावरों का इतना प्रयोग कि मुहावरे ही उनकी भाषा-शैली की जान हैं, ३. सूक्तियों का अधिक प्रयोग, ४ संयमित काव्यात्मकता, ५ रसनिरूपण की शक्ति। उचित यह है कि हम इस बात का अध्ययन करें कि प्रेमचंद की भाषा-शैली उनकी पहली उर्दू रचनाओं की कितनी ऋणी है और खुद उनकी उर्दू भाषा शैली को उर्दू भाषा-शैली के इतिहास में क्या स्थान है। प्रेमचंद ने हमें हिन्दुस्तानी-हिंदी (प्रेमचंदी हिंदी) दी है। वे हमारी भाषा के श्रेष्ठतम कलाकार हैं। उनके बाद भाषा-शैली के क्षेत्र में प्रयोग चाहे जैनेन्द्र करें या

अज्ञेय, प्रयोग प्रयोग हैं। प्रेमचंद की भाषा की सुषमा, उसका सुलझाव, उसकी मस्ती, उसका प्रवाह, उसका व्यंग्य इन प्रयोगों में कहाँ है। कथा की रोचकता की दृष्टि से तो वे हानिकर ही अधिक हैं। प्रेमचंद के बाद न कथा-साहित्य में, न अन्य किसी क्षेत्र में ही उनकी भाषाशैली का प्रयोग हुआ। इस जमीन पर चलना ही कठिन था। इसी से प्रेमचंद की भाषा-शैली निर्द्वन्द्व, स्वच्छंद, प्रेमचंद की छाप लिये एकांत खड़ी है। हमें चाहिये कि हम उसका विश्लेषण करें और देखें कि उसमें राष्ट्रीय भाषा होने की कितनी क्षमता है।

१५

प्रेमचंद की कहानियाँ

हिन्दी के आदर्शवादी कहानी-लेखकों में प्रेमचंद का स्थान सबसे ऊँचा है। परन्तु उन्हें केवल आदर्शवादी ही कह कर हम उनकी पूरी समालोचना नहीं कर सकते। सच तो यह है कि प्रेमचंद का दृष्टिकोण अवश्य आदर्शवादी था परन्तु वह अपने कहानी के नियम और उसके लगभग सभी अंगों को यथार्थ जीवन से लेते थे। उन्होने अपनी कहानियों में एक प्रकार से आदर्शवाद और यथार्थ का सुन्दर गठबन्धन किया है और एक प्रकार से इन दो विषम दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य स्थापित करने की चेष्टा की है? जिस नई भूमि पर वे काम करते थे, उससे वे भली-भाँति परिचित थे। इसी से उन्होंने अपने दृष्टिकोण का नाम "आदर्शोन्मुख यथार्थवाद" रखा था। वास्तव में यह नाम उनके दृष्टिकोण के लिये बहुत उपयुक्त था। इससे हमें एकदम प्रेमचंद की उस विशेषता का पता चल जाता है जो कहीं-कही उनकी रचनाओं को बल देती है और कहीं-कहीं उन्हें निर्बल बना देती है।

प्रेमचंद ने हिन्दी-साहित्य को ढाई-तीन सौ कहानियाँ दी हैं। इन कहानियों में उन्होंने जीवन की अनेक समस्याओ पर प्रकाश डाला है और समाज, राष्ट्र और व्यक्ति के अनेक अंगों का स्पर्श किया है। यदि हम उनकी कहानियों को कला की दृष्टि से देखे तो भी हम अनेक प्रयोग पायेंगे? उन्होंने पूर्व और पश्चिम की विभिन्न शैलियों को हमारे सामने उपस्थित किया है और अनेक

स्थानों पर अपना मौलिकता का परिचय भी दिया है। प्रेमचंद की कहानियों की संख्या इतनी अधिक है, उनकी कहानियों का क्षेत्र इतना विस्तृत है और उनके कला के प्रयोग इतने बहुसंख्यक हैं कि उन पर संक्षेप में विचार करना कठिन हो जाता है। उनके संबन्ध में विशेष अध्ययन के अभाव के कारण यहाँ पर हम संक्षेप में ही विचार कर सकेंगे।

सबसे पहली बात जो प्रेमचंद की थोड़ी ही कहानियों को पढ़ने के बाद पाठक को स्पष्ट हो जाती है वह यह है कि वे भारतीय संस्कृति से अच्छी तरह परिचित हैं। वे जानते हैं, हमारी संस्कृति का हृदय कहाँ है और उससे जो जीवन-धारायें निकलती हैं, वे किस ओर बहती हैं। भारतीय संस्कृति में एक विशेपता यह है कि उसने देह से अधिक आत्मा पर बल दिया है, उसका आधार आध्यात्मिक है, भौतिक नहीं। प्रेमचंद इस बात को जानते थे। इसीलिए उनकी रचनाओं में दैवीगुणों की प्रधानता है। वे हमें एक बार भौतिकता से हटा कर आध्यात्मिकता की ओर ले जाते हैं। इस प्रकार प्रेमचद का एक सांस्कृतिक संदेश है जो उनकी रचना पर भारतीयना की छाप लगा देता है। पश्चिम ने जहाँ हमारे सामने ज्ञान-विज्ञान के अनेक मार्ग रखे, वहाँ उसने हमारी आत्मा का रस 'चूस' लिया। हम धीरे-धीरे पुराने आदर्शों से हट गये। इस समय हम संक्रातिकाल में हैं। यदि इस युग में हम अपने प्राचीन महत् आदर्शों को अपनी आँख की ओट कर देते हैं और पश्चिम के दिखाए हुए मार्ग पर अंधे की तरह आगे बढ़ते चले जाते हैं तो हमारा भविष्य निश्चय ही काला है। प्रेमचंद ने इस सत्य को हमारे सामने रखा है और हमें चेतावनी दी है। उन्हें प्रत्येक उस बात से प्रसन्नता होती है जो उन्हें पुराने सांस्कृतिक आदर्शों को स्पष्ट करने का अवसर

देती है। उन्होंने भौतिकता को स्वीकार करते हुये आध्यात्मिकता से हाथ नहीं धो लिया, वरन् इन दोनों सीमाओं के बीच का मार्ग निकालने की चेष्टा की।

प्रेमचंद की कहानियों के अनेक वर्ग किये जा सकते हैं। इनमें एक वर्ग उनकी सांस्कृतिक कहानियों का भी होगा। इस-प्रकार की कहानियों में हम उनकी ऐतिहासिक कहानियों को भी गिन सकते हैं। प्रेमचंद की प्रतिभा ऐतिहासिक कहानियों में दिल-चस्पी नहीं लेती थी। भारतीय इतिहास का उनका इतना अच्छा अध्ययन भी नहीं था, जितना प्रसाद का। प्रसाद जब कोई ऐति-हासिक कहानी लिखते थे तो उस विशेष काल के सम्बन्ध में सूक्ष्म खोज करते थे जिसका संबन्ध उनकी कहानी से होता और उस काल की संस्कृति के बिखरे हुये तत्त्वों को कहानी का रूप देकर हमारे सामने रखते थे। वे न कोई सांस्कृतिक संदेश देना चाहते थे और न कोई नैतिक संदेश। वे उस काल की संस्कृति मात्र का चित्र हमारे सामने रख कर अलग हो जाते थे। उनका ध्यान विशेष वातावरण और विशेष मनोविज्ञान पर अधिक रहता था। प्रेमचंद इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं देते थे। उन्होंने ऐतिहासिक कहानियाँ इसलिये लिखीं कि वे भारतीय संस्कृति की विशेषताओं को हमारे सामने उन्हीं के द्वारा रख सकते थे। उन्होंने हमारे इतिहास के ऐसे पृष्ठों को ही चुना जो हमें विशेष सांस्कृतिक शिक्षा दे सकते थे। उनकी अधिकांश कहानियाँ राजपूतों, मराठों और ठाकुरों की कहानियाँ हैं जो बात पर जान देते थे, देश-प्रेम जिनका ईश्वर सङ्ग था, जो शरणागत की रक्षा के लिए सदा तत्पर रहते थे फिर चाहे वह उनका शत्रु ही क्यों न हो। उन वीरों की स्त्रियाँ बलिदान की मूर्त्तियाँ हुआ करती थीं। अपने सतीत्व की रक्षा के लिए वे जलती हुई आग में कूद पड़ती थीं। रण से भागे हुए

पति के लिए उनके द्वार बंद थे। इस प्रकार की सभी कहानियों में चाहे नायक पराजित ही हो और चाहे कहानी दुखांत हो परन्तु भौतिक शक्ति के आगे आध्यात्मिक शक्ति कहीं नहीं झुकतीं। देह के ऊपर आत्मा, तलवार के ऊपर प्रेम, असत्य के ऊपर सत्य और पाप के ऊपर पुण्य की महत्ता स्थापित करना प्रेमचंद का ध्येय था। यही भारतीय संस्कृति का बीज मंत्र भी है।

राजपूत काल के सिवा प्रेमचंद ने उत्तर मुग़ल काल और पूर्व अंग्रेज़ काल पर भी कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों में उन्होंने हमारे सांस्कृतिक पतन के चित्र दिये हैं और समाज के अंगों में घर करते हुये घुन का इशारा किया है। उनकी इन कालों की कहानियाँ राजपूत काल की कहानियों के संदेश को और भी जगमगा देती हैं। जहाँ एक ओर राजपूत योद्धा अपने राजा के लिए और अपने देश के लिये प्राणों का उत्सर्ग करने में भी बिलब नहीं लगाते, वहाँ अवध की नवाबी के विलासतापूर्ण दिनों में मिर्ज़ा, और सैयद अपने बादशाह को आँखों के सामने वंदी हुआ देख कर भी उत्तेजित नहीं होते। वैसे वे शतरंज के बादशाह पर जान दे देते हैं (देखो "शतरंज के खिलाड़ी")।

इन सब कहानियों में हमें प्रेमचंद की कहानियों की एक विशेषता मिलेगी। उनमें ऊँचे दरजे का प्रेम है। वह पीछे की ओर इसलिये देखते हैं कि वास्तव में भविष्य की समस्या अधिक भिन्न नहीं है। वे देश की प्राचीन महत्ता के चित्र उपस्थित करते हैं और पाठकों को देश के लिए भविष्य में बलिदान होने के लिये तैयार करते हैं। उनके कितने ही प्रधान पात्र देश-प्रेम के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

परन्तु प्रेमचंद की तीसरी और कदाचित् एक से बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी कहानियों में बहुत ऊँचे दरजे का

स्थानीय रङ्ग देते हैं। जिस स्थान और समाज का वह चित्रण करने लगते हैं वह हमारे सामने जीवित हो जाता है। यही क्षेत्र उनकी मौलिकता का क्षेत्र है। प्रेमचंद की इस प्रकार की कहानियों के हम दो भाग कर सकते हैं—(१) मध्यवित्त नागरिक के घरेलू जीवन की कहानियाँ, (२) गाँव की कहानियाँ। एक तीसरी प्रकार की कहानियाँ उनकी वे कहानियाँ हैं जिनका संबन्ध मजदूरों से है परन्तु उन्होंने मजदूर-वर्ग का चित्रण कहानी की अपेक्षा उपन्यास में कहीं अच्छा किया है।

प्रेमचंद से पहले जो कहानियाँ लिखी जाती थीं उनमें कल्पना का रंग सत्य के रंग से कहीं अधिक गहरा रहता था। वे अधिकतः नागरिक जीवन से संबंध रखती थीं परन्तु उनका उद्देश्य समाज-सुधार रहता था। जीवन के भीतर बैठने की कोई चेष्टा नहीं होती थी और न सामाजिक विकारों को मनोविज्ञान का विषय बनाया जाता था। प्रेमचंद जब क्षेत्र में आये तब उन्होंने पहले पहल ऐसी कहानियाँ लिखीं जिनका संबंध समाज-सुधार से था। वे आर्यसमाज के धर्मसुधार से प्रभावित भी थे। इस क्षेत्र में भी उनकी कहानियाँ अन्य कहानियों से विशिष्ट हैं। शीघ्र ही उन्होंने अपनी दृष्टि समाज-सुधार से हटा कर मनोविज्ञान पर डाली। उन्होंने मध्यवित्त लोगों और उत्तमवित्त लोगों के मानसिक, आध्यात्मिक और आर्थिक संघर्षों के यथार्थ चित्र उपस्थित किये। प्रति दिन के साधारण जीवन की मनोवैज्ञानिक तत्त्वों की खोज करने वाली पैनी दृष्टि उन्होंने पाई थी। उनसे पहले घरेलू जीवन में मनोविज्ञान की स्थापना नहीं हुई थी यद्यपि मनोविज्ञान कहानी का विषय बन चुका था।

प्रेमचंद का सबसे अधिक मौलिक क्षेत्र भारतीय गाँव था। प्रेमचंद से पहले देहाती जीवन की कहानियाँ नही लिखी गई

थीं। देहात का जीवन भी किसी कहानी का विषय हो सकता है यह कदाचित् किसी लेखक ने नहीं सोचा था। प्रेमचंद ने इसी क्षेत्र को अपनाया और उन्होंने इसका इतना अध्ययन किया कि उनके पदचिन्हों पर भी नहीं चल सके। आज यदि हम चाहें कि एक विदेशी हमारे देश से भली भाँति परिचित हो जाय तो हम प्रेमचंद की कहानियों को छोड़ कर उसे क्या देंगे? भारत की नाड़ी कहाँ दुख रही है? यह उनके सिवा और किसने अधिक समझा है। भारत का सच्चा प्रतिनिधि उसका किसान है और प्रेमचंद की कहानियों में सच्चा रूप हमें मिलेगा। प्रेमचद की देहाती कहानियों को हमें कथा और विषय दोनों के दृष्टिकोण से देखना होगा। देहाती किसान की भौतिक और आध्यात्मिक कठिनाइयाँ क्या हैं, ज़मींदार, महाजन, पुलिस और पटवारी इन सबके बीच में वह किस तरह पिस जाता है।

सामाजिक परम्पराएँ उसे क्या कष्ट देती हैं और स्वयम् उसके पराजित भाव किस प्रकार उसके मन में विष घोल देते हैं और उसके जीवन को नष्ट कर देते हैं। वह कैसे उन कष्टों को सहता है और ईश्वर-विश्वास के सहारे अपनी नाव पार लगाना चाहता है। किस प्रकार अंत में जैसे सारी प्रकृति उसके विरुद्ध खड़ी हो जाती है। जहाँ पानी का एक छींटा क़ाफी होता, वहाँ प्रलय के बादल टूट पड़ते हैं या आसमान तांबे की तरह तपता है और एक बूँद पानी नहीं देता। अनावृष्टि है, बाढ़ है, ओलापाला है, फिर पशु हैं जो आँखें दबते ही पकी खड़ी खेती चर जाते हैं और अंत में परस्पर के ईर्ष्या और द्वेष से उसके महीनों के परिश्रम पर पानी फिर जाता है। किसान इन सभी भौतिक बाधाओं से लड़ता है और एक दिन अंत में हार कर अपना ईश्वर-विश्वास भी खो देता है। प्रेमचंद ने इन सभी

परिस्थितियों में किसान का चित्रण किया है। मनुष्य की आध्यात्मिक विजय यही है कि वह महान् अदृष्ट विरोधी शक्तियों से अंत तक लड़ता रहता है और उसकी हार अवश्यम्भावी होने पर भी हम उसकी आत्मा की महानता के क़ायल हो जाते हैं।

प्रेमचंद मनुष्य को धीरे-धीरे संघर्षों के बीच में से होकर ऊँचे आध्यात्मिक स्तर पर उठा देते हैं। प्रत्येक महान् कहानी-लेखक यही करता है। एक प्रकार से ट्रेजेडी (दुखांत) का मूलमंत्र यही है। हो सकता है कि संघर्ष में मनुष्य की आत्मा टूट जाय और वह अंधकार में रह कर सड़ने लगे। यह आवश्यक नहीं है कि अंत में उसे प्रकाश मिले! यथार्थवादी लेखक प्रेमचंद पर यही दोष लगाते हैं। वे कहते हैं कि प्रेमचंद जिस सत्य को हमें दिखलाते हैं वह जीवन और संसार का सत्य नहीं है। उनका अपना सत्य है। संसार में मनुष्यता और मानवता की विजय सदा ही नहीं होती। जीवन में बहुत कुछ सडा-गला है। लेखक उसे क्यों छिपाये अथवा कल्पना, कला और आदर्श का रंगीन आवरण देकर उसे असत्य और भ्रमात्मक क्यो बनाये? इस तर्क की सिद्धि में बहुत कुछ कहा जा सकता है। प्रेमचंद अपनी अंतिम कहानियों में नग्नरत्न की ओर बढ़ रहे थे और यथार्थवादियों ने उनका स्वागत भी किया था। परंतु प्रेमचंद का बल उनका यही आदर्शवाद था। वह छोटे-छोटे लेखकों की तरह व्यर्थ की मौलिकता पसंद नहीं करते थे। महान् लेखकों की तरह वे जीवन के क्षुद्र कष्टों और भौतिक अथवा सांसारिक व्याधाओं से आत्मा के महान् देवत्व को पराजित नहीं करना चाहते थे।

गाँव के प्रति प्रेमचंद का दृष्टिकोण आदर्शवादी लेखक का दृष्टिकोण है। वह देहात के जीवन की कठिनाइयों का चित्रण अवश्य करते थे परन्तु साथ-साथ वे उस जीवन के

आकर्षण को भी अपनी कहानियों में स्थान देते थे। प्रेमचंद शहर के रहने वाले थे यद्यपि गाँव से उनका निकटतम संबंध था। २०वीं शताब्दी में गाँव और नगर के जीवन में बहुत अंतर हो गया। हमारा मध्यवित्त समाज नगर के आर्थिक संघर्ष और अप्राकृतिक वातावरण से ऊब कर देहात के माल और प्राकृतिक जीवन की ओर एक विशेष मोह की दृष्टि से देखने लगा। उसने देहात के संकटों को जानते हुए भी उसकी प्रशंसा के गीत गाये। अपने विशेष मनोभावों के कारण गाँव उसके लिए सरल जीवन और सुन्दरता के प्रतीक हो गये। प्रेमचंद की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मध्यवित्त जनता के इस दृष्टिकोण से भी प्रभावित थे। उन्होंने उपेन्द्रनाथ "अश्क" को जो पत्र लिखा है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है—"भाई, मनुष्य का बस हो तो कहीं देहात में जा बसे, दो-चार जानवर पाल ले और जीवन को देहातियों की सेवा में व्यतीत कर दे" (९ जूलाई १९३६ को लिखा, देखिये हंस का प्रेमचंद स्मारक अंक)।

अपने इसी आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण वे अपनी कहानियों और उपन्यासों में बार-बार आदर्श गाँव के निर्माण की चेष्टा करते हैं और गाँव के प्राकृतिक दृश्यों को अपनी रचनाओं में प्रधान स्थान देते हैं।

ऊपर हमने प्रेमचंद की उन कहानियों के विषय में लिखा है जो स्थान विशेष और वर्ग-विशेष से सम्बन्ध रखती हैं। इन कहानियों के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि उनसे लेखक का क्षेत्र सङ्कीर्ण हो जाता है और जो पाठक उस विशेष स्थान या वर्ग से परिचित हैं उसके लिए ऐसी कहानियों का महत्व नहीं रह जाता क्योंकि उसे उनमें आनन्द नहीं मिलता। एक हद तक

यह बात ठीक हो सकती है और प्रेमचंद से छोटे कलाकार के हाथ में इस प्रकार की कहानियों का अधि। महत्व नहीं होता परन्तु प्रेमचंद ऊँचे कलाकर हैं। वे यह जानते हैं कि कहानी में विश्वव्यापी मनोवैज्ञानिक तथ्यों को किस प्रकार स्थापित किया जाता है। उनकी प्रत्येक देहाती या घरेलू कहानी के मूल में मानव-जीवन और मानव-प्रकृति के ऐसे तथ्य हैं जो सब स्थानों और सब वर्गों के मनुष्य के लिये एक होते हैं। उन्होंने स्थानीय और समसामयिक घटनाओ को ऊँचे मनोवैज्ञानिक सत्य और ऊँचे आदर्श को उपस्थित करने का साधन बनाया है। उनकी कहानी में देहात और घर वीथिका-मात्र हैं। प्रेमचन्द ने अपने पत्र में इस सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट किया है। साधारण मनुष्य की दृष्टि में प्रतिदिन के जीवन की घटनाएँ एक विशेष स्थान और समय तक सीमित रहती हैं परंतु चिंतनशील कलाकार इन घटनाओं के पीछे छिपे हुये मनोविज्ञान पर विचार करता है और उनमें एक विश्वजनीन कारण की स्थापना करता है जो समय और स्थान की सीमा से ऊपर उठे हुए होते हैं। अधिकांश समालोचक प्रेमचंद की घरेलू और देहाती कहानियों को घर और देहात तक सीमित समझ कर भूल करते हैं। वे उनके पीछे छिपी हुई विराट् मानवीयता और विश्वजनीनता को नहीं देख पाते।

एक और महत्वपूर्ण बात जो हमें प्रेमचन्द में मिलती है वह उनका मानव-प्रकृति का गहरा अध्ययन है। इसे दूसरे शब्दों में हम 'मनोविज्ञान' कह सकते हैं। यही मनोविज्ञान प्रेमचंद का बल है। मनुष्य एक ही तरह की घटना से किस तरह प्रभावित होता है? सुख-दुख, हर्ष-शोक, ईर्षा-द्वेष, प्रेम-घृणा आदि प्राकृतिक मनोभावों को मनुष्य अपने कार्यकलाप में किस प्रकार प्रगट

करता है?—ये सब बातें मनोविज्ञान से सम्बन्ध रखती हैं। अपने विशेष व्यक्तित्व के कारण पृथक्-पृथक् होते हुये भी एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से अनेक बातों में अभिन्न है। कारण यह है कि मनुष्य का मन एक प्रकार से विकसित होता है। यही कारण है कि कहानी को विश्वजनीन बनाने और उसमें ऊँचे तत्त्वों की स्थापना करने के लिये कहानीकार मनोविज्ञान का आश्रय लेता है। प्रेमचद की कहानियाँ मनोवैज्ञानिक तत्त्वों से भरी पड़ी हैं। उन्होंने मनोविज्ञान का आश्रय कई प्रकार से लिया है—शैली, वर्णन के ढङ्ग, उपमा, कथोपकथन, कथानक इन सभी अंगों को वे मनोविज्ञान से पुष्ट करते चलते हैं।

यदि प्रेमचन्द की रचनाओं को उनसे पहले आने वाले कलाकारों की रचनाओं के सामने रखा जाय तो हमें इस क्षेत्र में उनकी महत्ता का ज्ञान हो जायगा। २०वीं शताब्दी के पहले १५ वर्षों की कहानियों में केवल प्रसाद की कहानियों को छोड़ कर हम मनोवैज्ञानिक चित्रण कहीं भी प्रधान नहीं पायेंगे। प्रेमचंद ने पहले-पहल कहानी को मनोविज्ञान से स्पष्ट करने का साधन बनाया और अपनी कहानियों में हर जगह मानव-प्रकृति और विश्वव्यापी नैतिक तत्त्वों की स्थापना की। वर्ड्सवर्थ के स्काई-लार्क (लवापक्षी) की तरह वह पृथ्वी से बहुत ऊँचे उठ सकते थे और साथ ही पृथ्वी के साथ अपना सम्बंध भी बनाये रख सकते थे।

मनोविज्ञान पर आश्रित होने के कारण ही प्रेमचंद की कहानियों में यथार्थवाद को विशेष स्थान मिला है, उनका दृष्टिकोण और जीवन के सम्बन्ध में उनके विचार भले ही आदर्शवादी हों। यही कारण है कि हम उनकी कहानियों और उनके पात्रों को अपने प्रतिदिन के साधारण जीवन में पा सकते हैं। परंतु यदि

हम ध्यान से देखें तो प्रेमचन्द अपनी प्रत्येक कहानी के अंत में यथार्थवाद से दूर हट जाते हैं। उनकी अधिकांश कहानियों का अंत एक विशेष नैतिक दृष्टिकोण को उपस्थित करता है। उनकी धारणा कदाचित् यह मालूम होती है कि प्रत्येक भले काम का फल भला होता है। अंधकार पर ज्योति की और पाप पर पुण्य की विजय होती है। हम जिस जीवन से परिचित हैं उसमें साधारणतः ऐसा नहीं होता। प्रेमचन्द कहानी के अंत में अपने प्रधान पात्र को सुधार देते हैं और दुखांत की ओर जाती हुई कहानी को सुखांत बना देते हैं। यथार्थवादी प्रेमचन्द को यही उपालम्भ देते हैं। परंतु यदि हम प्रेमचन्द की सब कहानियों का सूक्ष्म अध्ययन करें तो हमें यह स्पष्ट हो जायगा कि प्रेमचन्द की अधिकांश कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें अंत किसी दूसरी प्रकार हो ही नहीं सकता और वह अस्वाभाविक नहीं लगता। यदि दोष किसी का है तो वह प्रेमचन्द के मूलतः आदर्शवादी दृष्टिकोण का है जिसके कारण वे जीवन से ऐसी परिस्थितियाँ चुनते हैं जिनका अंत सुखमय हो। वे अपने चरित्र-चित्रण और कथावस्तु में यथार्थवादी हैं परंतु दृष्टिकोण में आदर्शवादी। फिर भी प्रेमचन्द की अनेक कहानियाँ ऐसी हैं जिनमें उनकी सुधारक प्रकृति के दर्शन होते हैं और इसी कारण इस प्रकार की कहानियों का अंत कुछ अप्राकृतिक हो गया है। ऐसा जान पड़ता है कि कहानीकार अपनी कहानियों के द्वारा कुछ विशेष नैतिक तत्त्वों का प्रतिपादन करना चाहता है। कला की दृष्टि से यह बात वांछनीय नहीं है।

यह हुई प्रेमचन्द के विशेष दृष्टिकोण और क्षेत्र की बात। इसके सिवा पात्रों के चरित्र-चित्रण, कहानी के वस्तु-संगठन, शैली और कथानक में हमें प्रेमचन्द की विशेषताएँ स्पष्ट हो

जाती हैं और जो पाठक प्रेमचन्द की कुछ कहानियों से परिचित हैं वह उनके विशेष व्यक्तित्व का अनुभव करते हैं।

हम पहले प्रेमचन्द के पात्रों पर विचार करेंगे। प्रेमचन्द की कहानियों के अधिकांश पात्र आदर्श होते हैं। हम उनसे शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं और उन्हें अपना पथप्रदर्शक बना सकते हैं। इनमें अधिकतः दुर्बलताएँ नहीं होतीं और जो होती भी हैं तो अधिक महत्वपूर्ण नहीं। परन्तु अपने जीवन के अन्त-काल की कहानियों में उन्होंने कुछ यथार्थपात्र भी हमारे सामने रखे हैं। उनके अन्तिम उपन्यास गोदान का नायक होरी भार-तीय किसान की कमजोरी का वास्तविक चित्रण है। उनके जीवन के अन्तिम दिनों में राजनैतिक क्षेत्र में समाजवाद और साहित्यिक क्षेत्र में यथार्थवाद के आन्दोलनों का श्रीगणेश हो गया था और प्रेमचन्द इन आन्दोलनों से प्रभावित थे। इन आन्दोलनों की नींव जीवन के वास्तविक सत्य पर थी। परन्तु प्रेमचन्द के पात्र चाहे आदर्श हों, चाहे यथार्थ, वे दोनों एकदम पूर्ण विकसित रूप में कहानी में उपस्थित नहीं होते। प्रेमचन्द धीरे-धीरे अपने पात्र को विकसित करते हैं। कहानी के अंत में पात्र जो कार्य करता है उसके लिये वे धीरे-धीरे भूमि तैयार करते हैं और कारण उपस्थित करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रेमचन्द पात्र को ऐसे समय हमारे सामने उपस्थित करते हैं जब वह स्वयं विषम परिस्थिति में पड़ा होता है। वह एक विशेष मानसिक संघर्ष लेकर हमारे सामने आता है। उसके सामने दो प्रिय वस्तुयें हैं और उसे दोनों में से एक को चुनना है। अंत में वह एक वस्तु को चुन लेता है, परंतु अकारण ही नहीं। पात्र का मानसिक वातावरण एवं विकास उसे इस चुनाव के लिये तैयार

करता है। यह मानसिक संघर्ष प्रेमचन्द की कहानियों की विशेषता है।

प्रेमचन्द अपने पात्रों को कहानी के प्रारम्भ से ही हमारे सामने लाते हैं। वे उनकी विशेषताये बतला देते हैं और उनका अधिक से अधिक स्पष्ट चित्र हमारे मानसिक पट पर अंकित कर देते हैं। कहानी का प्रधान भाग कहानी के आरम्भ में दी हुई कुछ विशेषताओं को प्रगट करता है। इससे यह लाभ अवश्य होता है कि पाठक आरम्भ से विशेष घटनाओं और विशेष प्रतिक्रियाओं के लिये तैयार हो जाता है। परन्तु यथार्थ-वादी दृष्टिकोण से इस प्रकार के संगठन में एक प्रकार का दोष भी है। यथार्थवादी कहते हैं—हम किसी वस्तु से एकदम परिचित नहीं हो जाते। हम अपने पात्रों की विशेषतायें कैसे जान लें? मनुष्य पहले दूसरे मनुष्यों से कार्य-कलापों और व्यवहारों से परि-चित होता है और इस परिचय के आधार पर वह उसकी कुछ विशेषतायें समझता है। यथार्थवादियों के दृष्टिकोण के अनुसार कहानीकार के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह पात्र की विशे-षताओं अथवा एक विशेष मनोविज्ञान का वर्णन करे। पाठक इन्हें स्वयम् कहानी से चुन लेगा। लेखक का धर्म केवल मनो-वैज्ञानिक और संघर्ष पूर्ण परिस्थिति का चित्रण है। कहानी के पहले ही पात्र के संबन्ध में कुछ लिख देना कला की दृष्टि से भी दोष है चूँकि इस प्रकार लेखक पाठक को आने वाले संघर्ष के संबन्ध में राय देता है एवं समस्या अथवा परिस्थिति के हल को अपनी तरफ से सुझा देता है। इस प्रकार कहानी के अंत में वह आकस्मिकता नहीं रहती जो उस दशा में रहती जब पाठक पात्र के विशेष मनोविज्ञान से अधिक परिचित नहीं है।

अपनी कहानी को कला की ऊँची भूमि पर उठाने के लिए प्रेमचन्द कहानी के संगठन और वातावरण से भी काम लेते हैं। उनके प्राकृतिक वर्ताव व्यर्थ नहीं होते। वे पात्रों के मनोविज्ञान को स्पष्ट करते हैं। वे प्रत्येक वस्तु का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं। यहाँ तक कि पात्रों के वस्त्रों और चेष्टाओं का वर्णन भी काफी स्थान घेर लेता है। इस विस्तार से प्रेमचन्द के दो अर्थ होते हैं। एक तो वे अपनी वर्णन की हुई वस्तु का अधिक से अधिक स्पष्ट चित्र पाठकों के सामने रखना चाहते हैं और दूसरे पाठक के मानसिक संघर्ष की ओर इशारा करते हुये पाठकों को आगे आने वाली घटना के लिए तैयार करते हैं। कहानी-जैसे छोटे साहित्य के माध्यम में अधिक विस्तारपूर्ण वर्णन दोष हो जाता है। अच्छी कला यह है कि कलाकार अभिधा की अपेक्षा व्यंजना से अधिक काम ले और सूक्ष्म वर्णन से विस्तृत चित्र की व्यंजना करे। प्रेमचन्द के बाद के कलाकार अपनी कहानियों में इस विषय में बहुत सतर्क रहते हैं। यदि हम प्रेमचन्द के वर्णनों को देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उनका विस्तार ही कितनी ही कहानियों का गुण है। जीवन की अनेक साधारण घटनाओं को उन्होंने अपने अर्थ देकर और उनका सूक्ष्म एवं विस्तार-पूर्ण वर्णन एवं चित्रण करके उन्हें आकर्षक और महत्त्वपूर्ण बना दिया है। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द की कहानियों में पाठकों को अपनी स्वतंत्र कल्पना से काम लेने के लिये अधिक स्थान नहीं मिलता, परन्तु शायद प्रेमचन्द यह बात चाहते भी नहीं। वे अपनी कहानियों में एक विशेष प्रभाव लाना चाहते हैं और अपने वर्णनों द्वारा वे चेष्टापूर्वक उनका निर्माण करते हैं और उसके विषय निश्चित हो जाते हैं। फल यह होता है कि उनकी कहानियों के दो अर्थ नहीं लग सकते और वर्णनों के

विस्तार के कारण अनेक बार कहानियों में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा हुई है।

प्रेमचंद की कहानियों में भावुकता और रोमांस का अधिक स्थान नहीं। वे हमारे सामने जीवन का ठोस सत्य रखते हैं, जिसमें उत्तेजना और अवास्तविकता नहीं होती। यही कारण है कि भावुक पाठक उनकी कहानियों से शीघ्र ही उकता जाते हैं और उनमें एकरसता का अनुभव करने लगते हैं। एक दृष्टि से यही बात प्रेमचंद की कहानियों की विशेषता है। उनकी कहानियाँ शक्तिशाली हैं। वे उसी किसान की तरह धरती की उपज मालूम होती हैं जिसका चित्रण प्रेमचन्द ने अनेक प्रकार से किया है। यदि हम शरत्चन्द्र और रवीन्द्रनाथ की रचनाओं को उनके सामने रखें तो हमें इन तीनों महान् लेखकों की रचनाओं का अंतर स्पष्ट हो जायगा। हमें शरत्चन्द्र की रचना में ऊँचे दरजे के मनोविज्ञान के साथ ऊँचे दरजे की भावुकता मिलेगी। हमें रवीन्द्रनाथ की रचनाओं में मनोविज्ञान, काव्यकला और दर्शन शास्त्र का सूक्ष्म अध्ययन मिलेगा। प्रेमचन्द ने साधारण मनुष्य के प्रतिदिन के जीवन में मनोविज्ञान की स्थापना की है और वे न भावुकता के चक्कर में पड़े, न सूक्ष्म दार्शनिकता के विवेचन में। उन्होंने हमें पृथ्वी की वस्तुये दी हैं, आकाश में वे कम उड़े हैं।

परंतु यह बात नहीं है कि प्रेमचन्द की कहानियों में जहाँ-तहाँ रोमांस की झलक न हो। वे आदर्शवादी लेखक हैं और यथार्थ जीवन की अनेक परिस्थितियों में से वे अपने लिये कुछ ऐसी परिस्थितियाँ चुन लेते हैं जो विशेष महत्त्वपूर्ण होती हैं। इस प्रकार जीवन का जो चित्र वे उपस्थित करते हैं वह यथार्थ जीवन से दूर जा पड़ता है और उसमें अवास्तविकता आ जाती है। इसके सिवा

उनकी कहानियों में यथार्थ जीवन और सुधारवादी दृष्टिकोण के मेल ने नई बात पैदा कर दी है। उन्होंने यथार्थ और रोमांस की सीमाओं को मिला दिया है। उन्होंने कुछ पूर्णत: रोमांचक कहानियाँ भी लिखी हैं, परन्तु वे सब कहानियाँ मनोविज्ञान पर आश्रित हैं। प्रेमचंद की रोमांस-कहानियों की यह विशेषता है कि हमें वहाँ भी यथार्थ जीवन, मनोविज्ञान और सचाई के दर्शन होते हैं। हम इस तरह भी कह सकते हैं कि उन्होंने जीवन की सची और यथार्थ घटनाओं में रोमांस की प्रतिष्ठा की है।

प्रेमचंद की कहानियों में हम चाहे कला की दृष्टि से कुछ दोष भी पायें परंतु उनकी सब से बड़ी विशेषता जो हमें उनकी ओर आकर्पित करती है उनका सीधा संबंध लेखक के व्यक्तित्व से है। पहली बात तो यह है कि उनमें साधारण से साधारण घटना को आकर्षक बना देने की शक्ति है। उनकी कहानियों में कहीं मानसिक संघर्प है, कहीं काव्यमयता है और कहीं मनो-वैज्ञानिक ऊँचाई। यदि हम कला की बात छोड़ दें तो प्रेमचंद से अच्छा कहानी कहने वाला हमारे साहित्य में दूसरा नहीं मिलेगा। कहानी कहने का ढङ्ग ऐसा प्रभावशैली, प्रवाहमय और शक्तिशाली है कि उनकी प्रत्येक दुर्बलता छिप जाती है। इसके सिवा उनकी अपनी वर्णन-शैली है। प्रेमचंद की वर्णन-शैली बहुत स्वाभाविक है। वे प्रत्येक वस्तु और घटना का वर्णन बहुत सरल, आकर्षक और प्रभावशाली ढंग से करते हैं। जहाँ पाठक एक ओर कहानी की घटनाओं और पात्रों में आनंद लेता है, वहाँ दूसरी ओर वह उनकी भाषा के प्रवाह में भी बह जाता है। प्रेमचंद भाषा के बादशाह हैं। वे हिन्दी और फ़ारसी के शब्दों और मुहावरों का बहुत सुन्दर मेल बैठाते हैं। उनकी कहानी में प्रत्येक चार-पाँच वाक्यों के बाद हमें उपमाओं और

रूपकों के दर्शन होंगे। अलङ्कारों की अधिकता और उनका उचित प्रयोग उनके वर्णन को आकर्षक बना देता है। वे प्रत्येक शब्द को चुनकर रखते हैं और ऐसा जान पड़ता है कि उस शब्द का अधिक उपयुक्त प्रयोग हो ही नही सकता।

प्रेमचंद की कहानियों में हम गम्भीरता के साथ-साथ हास्य का भी अच्छा पुट पाते हैं। वे स्वयम् हास्य-प्रिय व्यक्ति थे और उनकी कहानियों पर इस परिहास-प्रियता का प्रभाव पड़ा है। वे जो कुछ कहते हैं, खुलकर कहते हैं और वे जो कुछ लिखते हैं पाठक के हृदय में सीधा उतर आता है। यदि प्रेमचंद की भाषा के सबसे सुन्दर प्रयोग ढूँढ़ने हैं तो हमें ऐसे स्थानों पर खोज करनी होगी जहाँ उन्होंने प्राकृतिक चित्र दिये हैं अथवा जहाँ उन्होंने नैतिक सत्य का प्रतिपादन किया है। अपने कथानक में यहाँ-वहाँ प्रेमचद ने सुन्दर कहावतों और नैतिक अथवा मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों के ऐसे-ऐसे छोटे हीरे के टुकड़े जड़ दिये हैं जो नीते आकाश में चमकते हुए छोटे-छोटे तारों की तरह जान पड़ते हैं।

प्रेमचद की कहानियों के, उनकी कला के विकास-रूप और विषय-विभाग के अनुसार, कितने ही भेद किये जा सकते हैं। विकास-रूप के हिसाब से उनकी कहानियाँ ३ वर्गों में बँटेगी।

(१) प्रारम्भ की उन कहानियों में जिनमें घटनाचक्र और आकस्मिकता की प्रधानता है, कोई मूल-विचार लेखक आगे नहीं बढ़ता। प्लाट ही सब कुछ है, विचार (बीज) और चरित्र-चित्रण गौण। इन कहानियों में बुरे का फल बुरा है, भले का भला। पलड़ा सदा बराबर रहता है। यह स्पष्ट है कि यह वास्तविकता नहीं है।

(२) (अ) चरित्र-प्रधान और आदर्श-प्रधान कहानियाँ— वास्तव में पूर्णतः चरित्र-प्रधान कहानियाँ प्रेमचंद ने अधिक नहीं

लिखी हैं। वे कला में उपयोगिता का विकास आवश्यक समझते थे। इन कहानियों में बहुधा आदर्श चरित्र-चित्रण को ढक लेता है। इन कहानियों के शीर्षकों से ही उनके विषय का पता लग जायगा, जैसे "माता का हृदय," "स्वर्ग की देवी"।

(आ) विचार-प्रधान और चरित्र-मूलक आदर्शात्मक (सुधारात्मक) भावनामंडित कहानियाँ—लेखक समाज की कुरीतियों को लेता है और कर्मवाद, करुणा, मनुष्यता आदि का सहारा लेकर उनका परिहार करता है, जैसे 'स्त्री और पुरुष' 'दिवाला' 'नैराश्य' 'लीला' 'उद्धार'। प्रेमचन्द की सुधारात्मक भावना सहारे के लिए अतीत की ओर देखती है, पश्चिम से हटती है। (देखिये 'शांति')

(इ) घटनामंडित कहानियाँ जिनमें ऊपर की प्रवृत्तियों के होते हुए भी घटनाचक्र की प्रधानता है, जैसे "शूद्र", "आधार", "निर्वाण", "कौशल"।

(ई) चरित्रप्रधान और संघर्ष (अंतर्द्वन्द) प्रधान कहानियाँ—ऐसी कहानियाँ कम हैं जैसे "दुर्गा का मंदिर", "डिक्री के रुपये", "ईदगाह", "माँ", "घर जमाई", "नरक का मार्ग"। इन कहानियों में प्रेमचंद बराबर आदर्श यथार्थ की ओर बढ़े चले जा रहे हैं। फिर भी कहानियाँ सुखांत हैं, केवल कुछ को छोड़कर; (उदाहरण के लिये 'शांति' जिसमें विवाह की विडंबना का चित्रण है)।

(उ) ऐसी कहानियाँ जिनमें चरित्र-चित्रण के साथ प्रभावात्मकता पर ध्यान रखा गया है और कहानी को अत्यन्त कलात्मक रूप देने की चेष्टा की गई है। प्लाट कम है या है ही नहीं। फिर भी प्रेमचंद न आत्महत्या को छोड़ पाते हैं, न सुधारभावना को, जैसे "घासवाली," "धिक्कार," "कायर", "पूस की रात"।

(३) इन्हीं कहानियों का विकसित रूप वे कहानियाँ हैं जो

"कफन और अन्य कहानियाँ" नाम के अंतिम संग्रह में संग्रहीत हैं। इनमें लेखक आदर्शवादियों की पंक्ति से निकलकर वस्तुवादियों की पंक्ति में जा बैठा है। "कला उपयोगी हो" यह विचार दूर हो गया है, परन्तु कहानी समाज के मर्मस्थल पर नग्न-चित्रण के कारण ही चोट करती है।

यह तो हुआ मूल भावनाओं के हिसाब में श्रेणी-विभाजन। वैसे प्रेमचंद की कहानियाँ समाज और राजनीति के आन्दोलनों को भी चित्रित करती हैं या उनका प्रभाव दिखलाती हैं और इस दृष्टि से भी उनका श्रेणी-विभाजन संभव है।

१६

उपसंहार

हिन्दी उपन्यास आधुनिक साहित्य के अंतर्गत आता है। १९ वीं शताब्दी तक इस नाम की कोई चीज़ हमारे यहाँ नहीं थी। संस्कृत साहित्य में "आख्यान" और "उपाख्यान" थे—'कादम्बरी' उनका एक उदाहरण है, परन्तु चरित्र-प्रधान कहानी एक भी नहीं थी। हिन्दी साहित्य के कथाकाव्यों से हम परिचित हैं—सूफ़ी सतों और अन्य कितने ही कवियों ने आख्यानक काव्य लिखे हैं, परन्तु उनमें कल्पना और काव्य का पुट अधिक है। कथा-विकास और चरित्र-चित्रण की भूमि इतनी ऊँची नहीं, जितनी उपन्यास में होनी चाहिए। ऐतिहासिक घटनाओं को लेकर राजपूत भाटों और चारणों ने 'बातें' और 'ख्यातें' लिखीं हैं परन्तु उनमें भी आश्चर्यमय घटनाओं और दैवत्व की प्रधानता है।

उन्नीसवीं शताब्दी में गद्य में मनोरंजक कथा लिखने का पहला प्रयास हुआ। कथाएं छोटी थीं। आकार में कहानी प्रकार में उपन्यास—इंशा की 'रानी केतकी की कहानी' और सदलमिश्र का "नासिकेतोपाख्यान" इसी प्रकार की कथाएँ हैं। यह खड़ी बोली गद्य का शैशवकाल था। उसमें अभी साहित्यिक-सौन्दर्य प्रस्फुटित नहीं हुआ था, कहानी में "कौतूहल" के तत्त्व

विकसित नहीं हुए थे। इन कथाओं में रोमांच, नीति का समर्थन और धार्मिकता का पुट ही अधिक था। सं० १६१५ में 'राजाभोज का सपना' (राजा शिवप्रसाद) और 'एक अद्भुत अपूर्व स्वप्न' (भारतेन्दु) लिखे गये। परन्तु इस प्रकार के प्रयत्न आधुनिक उपन्यास से कोई महत्वपूर्ण शृङ्खला नहीं जोड़ते।

सबसे पहला उपन्यास सं० १६४३ में लिखा गया। यह श्रीनिवासदास का 'परीक्षा-गुरु' है। इसके शीर्षक नीति-तत्त्वों के समर्थन में उद्धृत अंग्रेजी हिन्दी कविता के रूप में हैं, कथोपकथन में भी अंग्रेज़ी पुट है। परंतु कथा अपने ही समय के समाज की है और उसमें आदर्शवाद नहीं यथार्थवाद के ही दर्शन होते हैं—एक अमीर का लड़का कुसंगति से किस प्रकार बिगड़ जाता है। इसके बाद कितने ही उपन्यास लिखे गये—सौ अजान एक सुजान (बालकृष्णभट्ट), भाग्यवती (श्रद्धाराम फुल्लौरी), वङ्गविजेता (गजाधरप्रसाद शर्मा), स्वर्णलता (राधाकृष्णदास), विरजा (राधाचरण गोस्वामी), इला (कार्तिकप्रसाद खत्री), दीपनिर्वाण (उदितनारायणलाल) । इनमें हरिश्चंद्री हिंदी के विकास के कारण भाषा में संगठन और सौंदर्य तो दिखलाई पड़ता है परन्तु कथा-विन्यास नीचे दरजे का है; किन्तु कौतूहल पूर्ण है—साथ ही समाज और नीति के प्रसङ्ग भी जोड़ दिये गये हैं। आरम्भ के कुछ उपन्यासों के बाद बँगला उपन्यासों के अनुवाद होने आरम्भ हुए, फिर मराठी उपन्यास सामने आये, इसके बाद अंग्रेज़ी उपन्यासों की ओर ध्यान गया। प्रेमचंद के समय तक अंग्रेज़ी उपन्यासों के प्रचुर अनुवाद नहीं निकले थे। परंतु प्रेमचंद अंग्रेज़ी जानते थे, अतः उनका अंग्रेजी उपन्यास साहित्य से सीधा परिचय था। उर्दू के तो वे उपन्यासकार थे ही और सारे उपन्यासों को चाटे बैठे थे।

प्रेमचंद से पहले के हिंदी उपन्यासों में तीन धाराएँ बह रही थीं जो क्रमशः इस प्रकार आईं—(१) देवकीनंदन के उपन्यास चंद्रकांता के साथ ऐयारी और तिलिस्मी उपन्यास, (२) किशोरी-लाल गोस्वामी के साथ सामाजिक उपन्यास और ऐतिहासिक एवं सामाजिक प्रेम-रोमांच और (३) गोपालराम गमहरी के साथ जासूसी, पुलिस और साहसिक उपन्यास। ये तीनों धाराएँ प्रेम-चंद के समय (१९१६) तक साथ-साथ चलती रहीं और जब प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास-क्षेत्र में सेवासदन के साथ पदार्पण किया तो वे वास्तव में किशोरीलाल गोस्वामी के ही क्षेत्र में उतर रहे थे।

चंद्रकांता का संसार रोमांस का संसार है। उसमें चरित्र-चित्रण नहीं; भावों का घात-प्रतिघात नहीं, मनोविकारों का विश्लेषण नहीं, पात्रों में व्यक्तित्व नहीं। केवल कथामात्र है—कुतूहल-प्रधान, मनोरंजक, कि किताब हाथ में ली कि खाना-पीना गया। प्रेमचंद ने अपने छुटपन में उन सब तिलिस्मी और ऐयारी उपन्यासों से परिचय प्राप्त कर लिया था जो हिंदी के इन उपन्यासों के उत्तेजक थे। इन उपन्यासों का प्रभाव उर्दू के मौलिक माध्यम से उनकी रचनाओं पर पड़ा है। परंतु खत्रीजी की रचना-शक्ति और कल्पना एवं वर्णनशक्ति अद्वितीय थी और उनके कारण बनारस शीघ्र ही उपन्यास-लेखन का केंद्र हो गया। "परीक्षागुरु" की कोई परम्परा चली नहीं। इन उपन्यास-महारथियों के कल्पना-चक्र और जादू लेखनी ने उसे ढक दिया।

इन मौलिक रचनाओं के साथ-साथ बँगला और मराठी के उपन्यास पहले से हिंदी में आ रहे थे। बंकिम कथा के कितने ही लेखकों के अनुवाद निकले। इनसे साहित्य में सुरुचि फैली, तब

प्रेमचंद आये और ठीक अवसर पर आये। तब तक हिंदी के पाठक भारत के सर्वश्रेष्ठ सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों से अनुवादों के द्वारा परिचित हो चुके थे।

प्रेमचंद हिंदी में "प्रेमा" (१९०६) के साथ उतरे। यही बाद में 'प्रतिज्ञा' नाम से परिष्कृत रूप में आई। क्षेत्र सामाजिक था। विधवा-विवाह। प्रेमचंद ने पहले समाज को ही अपना विषय बनाया और उनके लगभग सभी एकांततः सामाजिक उपन्यासों का मूल रूप (उर्दू में) इसी समय लिखा गया। वरदान, ग़बन और निर्मला—तीनों की कथावस्तु दूसरे रूप में उर्दू भाषा में लिखी जा चुकी हैं। हिंदी में यह चीजें बाद को आईं। 'प्रेमा' में यदि विधवा विवाह था, तो 'निर्मला' में दोहाजू के सङ्ग विवाह और दहेज़, 'ग़बन' में आभूषण-प्रियता और समाज में अपनी स्थिति बढ़चढ़ कर दिखाने की प्रवृत्ति। "प्रेमा" के प्रकाशन के साथ ही उन पर हिंदी के महारथी आलोचकों की बौछारें पड़ीं परन्तु जब दस वर्ष बाद प्रेमचंद सेवासदन के साथ आये, तो सब अपनाने दौड़े। 'सेवासदन' में वेश्याजीवन पर आक्षेप है और चौक से वेश्याओं को हटाने के लिये आंदोलन है। इसमें हमारे अपने घर के जितने सुंदर दृश्य हैं, हमारी कमजोरियों का जैसा चित्रण है, वैसा कहीं नहीं था। समाज का संयत यथार्थवर्णन और उच्च आदर्शवाद। वर्णनशैली तो 'प्रेमा' की भी अद्वितीय थी, परन्तु उसके प्रकाशन के समय लोग उसकी समस्या से ही उलझे रहे और उसकी ओर ध्यान न दिया। अब इस पर लट्टू हो गये।

'सेवासदन' की लोकप्रियता से प्रेमचन्द प्रभावित अवश्य हुये और उन्होंने अपना दूसरा उपन्यास हिंदी में ही लिखना निश्चित किया। 'प्रेमाश्रम' सामने आया। उसमें राष्ट्रीय जीवन के बड़े

क्षेत्र की ओर लेखक ने पहला क़दम उठाया। असहयोग आन्दोलन (१९२१) ने राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न की थी, प्रेमचन्द उससे प्रभावित थे, इसीसे उन्होंने नया क्षेत्र ग्रहण किया। उनके पाठक भी यह सामयिक चीज़ पाकर मुग्ध हो गये। अब तक न हिंदी में कोई राजनैतिक उपन्यास था, न सामयिक घटनाओं की चर्चा ही कथा-साहित्य में रहती थी, इससे हम प्रेमचन्द की मौलिकता और उनके साहस को समझ सकते हैं। इसके बाद उन्होंने कायाकल्प, रंगभूमि, कर्मभूमि और गोदान में हमारी राजनैतिक, सामाजिक, औद्योगिक एवं सुधारवादी सभी समस्याओं को अनेक पहलुओं से देखा। "रंगभूमि" उनका सबसे विशद उपन्यास है—इसका जैसा व्यापक क्षेत्र किसी अन्य उपन्यास का नहीं है। समस्या है औद्योगीकरण। 'रंगभूमि' और 'कर्मभूमि' दोनों पर १९३०-३२ के आन्दोलनों का प्रभाव है। 'कर्मभूमि' में नगर की समस्याएँ भी हैं। परंतु इन सब उपन्यासों में जो एक चीज़ हमें बराबर मिलती है वह है भारतीय गाँव। प्रेमचंद ने जब प्रेमाश्रम में गाँव को अपनाया तो अंत तक उसे निबाहते रहे और गाँव के दुखों के कारण में और उसके निवारण के उपायों में बराबर गहरे-गहरे बैठते गये। गोदान (१९३६) गाँव की महाकथा (Sagav) है। उनका कथाक्षेत्र व्यक्ति, परिवार, समाज, ग्राम, नगर, राष्ट्र—धीरे-धीरे इन सब को समेट कर महाकाय धारण करता गया है।

परंतु समस्याएँ ही प्रेमचंद के उपन्यासों की सब कुछ नहीं है। यदि वे समस्यामूलक उपन्यास ही लिखते तो बात दूसरी थी—उनके उपन्यास समस्यामूलक नहीं हैं, यह कोई भी कह सकेगा। तब उनकी विशेषता क्या है—व्यक्ति और समूह का मनोविज्ञान, उत्कृष्ट काव्यरस, सर्वोच्च नैतिक सिद्धान्त, जीवन की

यथार्थता के ऊपर खड़ा आदर्शों का ताजमहल। प्रेमचन्द अपने जीवन में बराबर प्रगतिशील रहे, मन खुला रहा, आँखें सतर्क रहीं, लेखनी उन्मुक्त रही। उन्होंने जीवन के सब कोने झाँके। उन्होंने अपने जीवन, अपने व्यक्तित्व और अपने अनुभवों का सारा रस हिंदी में उंडेल दिया। आज वे अमर हैं।

लोगों को शिकायत है, प्रेमचन्द में कथा रस उतना नहीं जितना शरत् में, लोगों को शिकायत है प्रेमचन्द रवीन्द्रनाथ जैसे मनोवैज्ञानिक नहीं, लोगो को शिकायत है प्रेमचन्द समय से ऊपर नहीं उठ सके। उन्होंने अपने युग की समस्याओं को पाठकों के सामने रख दिया और स्वयं अलग हो गये। कोई उन्हें कम यथार्थवादी कहता है, कोई उन्हें कम आदर्शवादी बतलाता है। अभी हम प्रेमचंद की सामग्री को आँक ही कहाँ सके हैं? अभी हमने उतनी वैज्ञानिक समीक्षा ही कहाँ की है? अभी हमें उन्हें समझना है? उनमें यह नहीं, उनमें वह नही, फिर भी उनमें बहुत कुछ था और जो है उसके आगे हमें नत-मस्तक होना पड़ेगा। तुलसीदास के बाद हिंदी साहित्य-क्षेत्र में इतनी विशद, महान और उन्नत आत्मा नहीं आई है।

किसी भी साहित्यिक का महत्व उस समय कई गुना बढ़ जाता है जब वह अपनी संस्कृति और अपनी जाति के आदर्शों का अपनी रचनाओं में समावेश करता है, जब तक कि वह विश्व-जनीन भावनाओं की उपेक्षा न करे। परंपरागत आये हुए राष्ट्र के आदर्शों को मानवीय भावनाओं के विकास से ओत-प्रोत होना चाहिये। 'प्रसाद' और 'प्रेमचंद' ऐसे ही आधुनिक हैं जिन्होंने अपनी प्राचीन संस्कृति की ओर ध्यान दिया है। अपनी संस्कृति के पन्नों को उलट कर उन्होंने उन पर आधुनिकता का सुंदरतम विश्वास छोड़ा है। प्रेमचंद ने अपनी समसामयिक भावनाओं

का अत्यन्त स्पष्ट चित्र हमारे सामने रखा है। भाषा-सौंदर्य और कुतुहल-वर्द्धन-मात्र के लिए उन्होंने किसी कहानी या उपन्यास की रचना नहीं की। उन्होंने अपनी रचनाओं में राष्ट्र के सामने जो संदेश रक्खा वह प्राचीन सभ्यता की सुंदरतम आकांक्षाओं और भावनाओं को आश्लेप करता है। महान संघर्ष के बाद शांति, देह का नाश परंतु आत्मा का अभिषेक—इनके लिए पात्रों को कितना संघर्ष करना पड़ा है। सद् प्रवृत्तियों की पराजय कहीं भी नहीं। प्रकाश चाहे क्षण भर अंधकार से ढक जाय, परंतु अंत में उसकी जय निश्चित है। इसी आदर्शवाद के कारण परिष्करण या सुधार का भाव भी सर्वत्र विद्यमान है।

प्रेमचन्द समय के साथ चलने वाले आदमी थे—कुछ अंशों में तो वे समय को रास्ता दिखाने वाली मशाल थे, सच्चाई थे। उन्होंने प्रथम बार जनता के मूक विचारों और उसकी भावनाओं को वाणी दी है। उन्होंने जनता की माँग को बड़ी उत्तेजना के साथ सामने रखा है। वे किसानों-मजदूरों की भावनाओं को उनकी समस्त नैसर्गिक शक्ति के साथ सामने लाये हैं।

परन्तु जहाँ उनके उपन्यासों की समस्याएँ राष्ट्रनिष्ठ अथवा वर्गनिष्ट हैं, वहाँ वे पात्रों की सजीवता और वैयक्तिकता को हाथ से नहीं जाने देते। वे मनोविज्ञान के पंडित हैं। परिस्थितियाँ और वर्णगत उलझनें पात्रों को आगे बढ़ाती और कथा को निर्दिष्ट दिशा में ले जाती हैं तो व्यक्ति (पात्र) की दुर्बलताएँ और उनकी मौलिक प्रवृत्तियाँ भी इन क्षेत्रों में कम काम नहीं करतीं। इसीसे प्रेमचंद सुधारक-उपन्यासकार की श्रेणी में नहीं आते। उन्होंने व्यक्ति के मनोविज्ञान, कला और कथा को सुधारवाद के नीचे नहीं दबने दिया। उनका संसार का अनुभव

और उनकी व्यक्तित्व की पहचान इतनी बढ़ी-चढ़ी है कि उनके पात्रो में बहुत कम ऐसे निकलेंगे जो लगभग एक-से हैं। इतना स्वभाव भेद किसी अन्य हिंदी उपन्यासकार के बस की बात नहीं।

आज वे नहीं हैं। सुनते हैं उनका युग समाप्त हो गया। पर-राष्ट्रनीति और राजनीति कही से कहीं आ गई हैं। नई रोशनी में प्रेमचंद के बताए हुए समस्याओं के कितने हल फीके पड़ गए हैं, परंतु समस्याएँ अब भी वही हैं। उन्हें ढूँढ़ने के लिए हमें प्रेमचंद को छोड़ कर कहीं नहीं जाना पड़ेगा—वही गुलामी, वही गाँवों की तबाही, वही वर्गसंघर्ष! प्रेमचंद गांधी-युग के कलाकार थे, उनकी समस्याओं का हल समझौते में या ग़रीब की मौत में होता था। दूसरा कोई चारा नहीं था। परंतु प्रेमचंद को यह गांधीजी से नही सीखना पड़ा, उनके कुटिल अनुभवों ने उन्हें वह सीमाएँ बतला दी थीं, जहाँ तक उनके पात्र स्वतन्त्रता-पूर्वक जा सकते थे। इस सीमा के आगे समझौता था या आत्मघात! नए साहित्य में समाजवाद का बोल-बाला है। परंतु अभी इस साहित्य ने प्रेमचंद-द्वारा उपस्थित की हुई (और अब भी बनी हुई) परिस्थितियों को समाजवादी दृष्टिकोण से नहीं परखा है। जब वह परखेगा, तो किसी को प्रेमचंद के प्रगतिशील होने में संदेह नहीं रहेगा!

पुनश्च

१

अभी कुछ दिन हुए, 'कथाकार प्रेमचन्द' नाम से प्रेमचन्द के जीवन और उनकी साहित्य-समीक्षा को लेकर ७५० पृष्ठों का एक वृहद् ग्रंथ प्रकाशित हुआ है। लेखक हैं श्री मन्मथनाथ गुप्त और श्री रमेन्द्रनाथ वर्मा। इस वृहद् ग्रंथ में लेखकों ने 'प्रेमचन्द: एक अध्ययन' की सामग्री का उपयोग किया है और जहाँ मतैक्य या मतभेद हैं, वहाँ अपने विचार भी प्रगट किये हैं। इस नये संस्करण में उन सब प्रसङ्गों की विस्तृत विवेचना आवश्यक हो जाती है।

जहाँ तक प्रारम्भिक उपन्यासों और प्रेमचन्द के कलाविकास एवं उनकी प्रगतिशीलता का सम्बन्ध है, 'कथाकार प्रेमचन्द' के लेखक प्रेमचन्द से आश्वस्त जान पड़ते हैं, परन्तु उनकी विचारों की भूमि समाजवादी होने के कारण उन्होंने स्थान-स्थान पर प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती आलोचकों की कटु समीक्षा की है और उन्हें रूढ़िवादी और अवैज्ञानिक बताया है। जहाँ तक 'एक अध्ययन'-के लेखक का सम्बन्ध है, वरदान और प्रेमा (प्रतिज्ञा) के बारे में कोई बड़ा मतभेद नहीं है, परन्तु सेवासदन, प्रेमाश्रम, रंगभूमि, कायाकल्प, ग़बन और गोदान के सम्बन्ध में भी

मतभेद नहीं है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हम इन उपन्यासों को अलग-अलग लेंगे—

सेवासदन

'श्री रामरतन भटनागर इसलिए प्रेमचन्द पर बहुत गरम हुए हैं कि सेवासदन में वेश्या-समस्या का कोई हल नहीं है। वे कहते हैं—सुमन समाज में स्वीकृत नहीं हो सकी है, पद्मसिंह अब भी उससे बचे-बचे रहते हैं, शांता और सदन का परिश्रम समस्या का कोई हल उपस्थित नहीं करता। यदि दो-चार उत्साही युवक वेश्याओं से विवाह भी कर ले तो भी परिस्थिति का अंत नहीं हो जाता। प्रस्ताव तो समस्या को और भी पीछे छोड़ देता है। जब 'वेश्याएँ रहेंगी ही, तो बात क्या हुई? स्पष्ट है कि प्रेमचन्द समस्या के आर्थिक या मनोवैज्ञानिक पहलू के भीतर नहीं घुसते। वे मध्यवर्ग की सुधारवादी प्रकृति से आगे नहीं बढ़ते।' इस पर लिखते हुए वे कहते हैं—'क्या उपन्यासकार का यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक समस्या का एक हल पेश कर दे? फिर हल पेश करने के तरीके भी तो हो सकते हैं। यदि उपन्यासकार यह दिखा दे कि किन कारणों से समस्या का रूप यों है, इसके पीछे कौन-से आर्थिक-मनोवैज्ञानिक कारण हैं, दूसरे शब्दों में वह यदि रोग का निदान कर दे, और रोग-मुक्ति किस दशा में हो सकती है, इसका इशारा कर दे, तो क्या हम यह न समझेंगे कि उसने अपना कर्तव्य पूरा कर लिया? दार्शनिक-सामाजिक निबन्धकार तो हल पेश करते ही रहते हैं, कलाकार क्या उसी प्रकार से प्रत्येक समस्या का हल पेश करेगा, या उसके हल में और दूसरों के पेश किए हुए हल में कुछ फर्क होगा? यदि हाँ, तो वह फर्क क्या हैं? इस बात पर यदि हम विचार करें तो देखेंगे कि कलाकार को हल इस रूप

में पेश करना पड़ेगा कि हल तो आ जाय, किन्तु यह जरूरी नहीं कि वह दूसरों की तरह लट्ठमार तरीके से आवे। सच तो यह है कि हल जितने ही सूक्ष्म तरीके से आवेगा, (अवश्य सूक्ष्मता का अर्थ यह नहीं है कि इन भुल पकीरी हो, या हल ही लुप्त हो जाय) उतना ही कला का परिपाक अच्छा होगा। यों तो प्रत्यक्ष हल देने के लिए Party Literature या दल का साहित्य काफी है, फिर Balles Letters या सुकुमार साहित्य की आवश्यकता क्या है?' तर्क के लिए तो यह विचार-धारा ठीक है परन्तु इससे कुछ आता जाता नहीं। सच तो यह है कि हम यह आशा कलाकार से नहीं करते कि वह प्रत्येक समस्या का कोई हल भी हमें दे, परन्तु या तो वह समस्या या परिस्थिति का वस्तुवादी चित्रण उपस्थित करके हट जाये, या उसका जो हल उपस्थित करे, वह कमजोर और सत्य ही न हो। वास्तव में तटस्थ रहकर किसी भी समस्या का चित्रण करना असम्भव है और यदि कलाकार को समस्या का ठीक-ठीक निदान मालूम है, तो समस्या के विभिन्न अंगों पर उसका वल (Emphasis) भी ग़लत न होगा। नहीं तो वह अपनी वनाई विशाल मरुभूमि में घूमता-भटकता फिरेगा।

इसी दृष्टि से हमने 'सेवासदन' के सम्वन्ध में अपना मंतव्य उपस्थित किया। 'सेवासदन', 'यामा' और 'दिल्ली का दलाल' उपन्यासों की तुलना करने से हमारी बात साफ समझ में आ जायेगी। 'सेवासदन' के लेखक का मंतव्य यह जान पड़ता है कि हमारे समाज में वेश्यावृत्ति का बीज हिन्दू नारी की हीन सामाजिक अवस्था है। वह एकदम पति पर आश्रित है और जहाँ यह आश्रय किसी भी तरह छूट जाता है, वहाँ वेश्यालय सजाने के सिवा उसके पास और कोई साधन

ही नहीं रह जाता। समाज के नेता चाहे कहें जो, वे कर्म में पीछे ही रह जाता है। 'कोनो वांक ?' (किसका अपराध) उपन्यास में कन्हैयालाल मुंशी ने भी यही प्रश्न उठाया है, परन्तु उनके उपन्यास में यह पति-पत्नी की ही समस्या नहीं है, यह हिंदू पुरुष समाज की नारी संबन्धी लोलुपता और सदाचार हीनता के कारण और भी भयावह है। हिन्दू समाज की विधवा नारी जिस लांछना और 'छिः-छिः' में घिरी हुई नरक की घोर यातनाएँ पा रही है, उसके लिए कौन उत्तरदायी है ? शताब्दियों के जड़ता-जड़े समाज में नारी की देह को लेकर जो व्यवसाय चल रहा है, उसे कौन नहीं जानता ? नर के न रहने पर क्या नारी का इस समाज में कोई स्थान है ? 'मणि' की विपदा यह प्रश्न उभारती है। समाज के प्रत्येक वर्ग में उसे नरपिशाचों के दर्शन हुए। सगे-कुटुम्बी, संत महात्मा, सुधारक-विचारक, सेठ-साहूकार सबके लिए नारी भोग्या-मात्र है। उपन्यास को समाप्त करते-करते पाठक पूछ उठता है—किसका अपराध, मणि का या समाज का ? प्रेमचन्द के 'सेवासदन' का अन्त वनिताश्रम में हुआ है। पथभ्रष्ट नारी के लिए यही एक स्थान है, परन्तु 'दिल्ली का दलाल' में यही वनिताश्रम व्यभिचार के अड्डे बन गये हैं। वस्तुस्थिति कुछ ऐसी ही है। कन्हैयालाल मुशी ने एक क्रांतिचेता युवक मुचकंद की कल्पना की जो पथभ्रष्ट 'मणि' को आश्रय देता है। परन्तु मुचकन्द जैसे युवक अभी समाज में कितने मिलेंगे ? प्रस्तावना में मुंशी लिखते हैं—'इतना तो विश्वास है कि जब तक स्त्रियों की दीनता और उनके दुःख पर इस दुनिया के स्तम्भ का निर्माण होता है, जब तक विवाह के प्रश्न पर हम लोग स्वाभाविक दृष्टि से देखना नहीं सीखते, तब तक आत्मविकास की बलि देकर, रूढ़ि-प्रतिष्ठा में मनुष्यता

की हत्या करने पर हम तुले हुए हैं और जब तक हृदय के विशुद्ध और नैसर्गिक भावों के विकास का अवसर देने के बजाय उनको कुचल डालने में ही समाज अपना गौरव समझता है—तब तक ऐसी वार्ताएँ समय-प्रतिकूल नहीं समझी जायेंगी।' 'यामा' में वेश्या जीवन के मनोवैज्ञानिक और वस्तुवादी पहलू पर ही अधिक बल दिया गया है। वेश्याजीवन की निःसारता, उसकी ऊब, उसकी आशाकांक्षा सभी उसमें है, परन्तु यह तो निश्चित है कि केवल यौन-मनोविज्ञान और काम-विकारों के आधार पर हम वेश्याजीवन की व्याख्या नहीं कर सकते। स्त्री की आर्थिक हीनता और पुरुष प्रधान समाज की निरंकुशता ही नारी के इस पतन का कारण है। तीनों ही उपन्यास नारी जीवन के इस पहलू को ओट कर देते हैं। वैसे कथा-प्रसंग में इस विषय के इंगित अवश्य आते हैं, नहीं आते ऐसा असम्भव था, परन्तु उन्हें तीव्रता नहीं मिल सकी है। स्त्री-पुरुष की सामाजिक, आर्थिक और वैवाहिक समानता ही नारीजीवन की सारी विडम्बनाओं का एकमात्र हल है, यह स्पष्ट रूप से कहीं भी नहीं कहा गया है। परन्तु इसके लिए हम प्रेमचन्द और अन्य उपन्यासकारों को लांछित नहीं कर सकते। समस्या को इस रूप में हमने उस समय देखा ही नहीं था। समाज-सुधार के जो आन्दोलन उस समय हो रहे थे उनमें हृदय-परिवर्तन पर ही अधिक बल था। प्रेमचन्द ने भी समस्या का यही हल समझा कि वे कुछ पात्रों का हृदय बदल दें और उनसे एक 'आश्रम' की व्यवस्था करा कर निश्चिंत हो जायें। इसमें उन्हें छोटा करने की कोई बात नहीं है। न जो हमने कहा है, वह उन्हें छोटा करने के लिए है।

'प्रेमाश्रम' के सम्बन्ध में लिखते हुए उन्होंने हमारे इस

प्रेमाश्रम

कथन का विरोध किया है—'प्रेमाश्रम हिंदी का ही नहीं, भारत का पहला राजनैतिक उपन्यास है, वे आनन्दमठ की बात उठाते हैं। आनन्दमठ की रचना कांग्रेस की स्थापना से पूर्व हो चुकी थी और उसमें आये हुए 'वन्देमातरम्' गीत के कारण ही उसे राजनैतिक उपन्यास मान लेने का कोई कारण दिखलाई नहीं पड़ता। आनन्दमठ में राजनैतिक चेतना न उतनी है, न उस प्रकार की है, जितनी और जिस प्रकार की 'प्रेमाश्रम' में है। भारतीय राजनैतिक संग्राम के अनेक पक्षों का चित्रण पहली बार यहीं हुआ है। 'गोरा' और 'घरे-बाहरे' में रवीन्द्रनाथ इस क्षेत्र में उतर चुके थे, परन्तु इन उपन्यासों में राजनैतिक चेतना सामाजिक द्वन्द्व और प्रेम प्रसंग से दबी हुई थी। भारतीय गाँव की प्रतिदिन की परिस्थितियों का जैसा चित्रण 'प्रेमाश्रम' में बन पड़ा, वैसा उससे पहले था ही नहीं। इसी उपन्यास में पहली बार वर्ग चेतना के दर्शन हुए। 'आनन्द-मठ' को यह श्रेय देना स्वयं उस कृति के साथ अन्याय करना होगा।

कायाकल्प

'कायाकल्प' के सम्बन्ध में यह मतभेद सबसे बड़ा हो जाता है। जहाँ तक कथा से संगठन का सम्बन्ध है, 'कथाकार प्रेमचन्द' के लेखक इससे सहमत हैं कि 'कायाकल्प' की दो कथायें अत्यन्त निर्बल सूत्रों से जुड़ी हुई हैं। अतः उपन्यास का कथा-संगठन बहुत ही शिथिल और लचर है। परन्तु वे प्रेम रोमांच (या 'कायाकल्प') वाले कथांश के सम्बन्ध में हमारे मंतव्य के एकदम विरोधी हैं। हमारे कथन का उद्धृत अंश इस प्रकार है—'जन्म-जन्मांतर में प्रेम प्रसङ्ग के चित्रित करने में क्या तथ्य

है ? जान पड़ता है प्रेमचन्द स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध को दो स्तरों पर रख कर देख रहे हैं। आध्यात्मिक स्तर पर रखकर वे देखते हैं कि प्रेम अलौकिक है, दिव्य है, मनुष्य को उसका आस्वाद अप्राप्य है। वासना की झाँई पड़ते ही प्रेम की मृत्यु हो जाती है। यह प्रेम का आदर्श बहुत ऊँचा है, दिव्य आदर्श है। हमारे सबके लिए तो सामाजिक और व्यावहारिक स्तर ही ठीक है, जहाँ स्त्री पुरुष के लिए विवाह के सूत्र में बँधकर जीवन पर्यंत और एक की मृत्यु के बाद दूसरे को इस 'मर्यादा' की रक्षा करनी पड़ती है। जन्म-जन्मांतरों की बात न हम जान सकते हैं, न जानना भला ही है। परन्तु विवाह तन का नहीं, मन का है।' इस पर विवेचना करते हुए श्री मन्मथनाथ गुप्त इस कथन को 'रहस्यवादी ढर्रे की बहक' कहते हैं। उनका मत है—'भटनागर जी ने वासना की झाँई वाली जो व्याख्या की है, वह बहुत मनोज्ञ होने पर भी तथा विद्वान समालोचक की काल्पनिकता की साक्षी होने पर भी तथ्य से कहीं दूर है।' समाजवादी आलोचक होने के नाते वे न आत्मा को स्वीकार करते हैं, न पुनर्जन्म को। जन्मांतरवाद की धारणा को ही वे प्रगति विरोधी समझते हैं। उनके अनुसार देवप्रिया वाले हिस्से में प्रेमचन्द पक्के प्रतिक्रियावादी तथा पुरुष-प्रधान समाज के पिट्टू हैं। प्रेम की चिरन्तनता और जन्मांतरवाद उनके लिए भ्रम-मात्र है। परन्तु प्रेमचन्द भारतीय आदर्शवादी परंपरा से पूर्णरूपेण परिचित हैं। जिस समय वे 'कायाकल्प' (१९२८) लिख रहे थे, उस समय उन पर 'गोदान' (१९३६) के प्रेमचंद का आरोप नहीं किया जाना चाहिये। 'गोदान' के प्रेमचन्द धर्म, ईश्वर, जन्मांतरवाद और वर्ण परम्परा के प्रति शंकालु ही नहीं, विरोधी भी हैं। परन्तु 'कायाकल्प' के प्रेमचंद को 'गोदान'

के प्रेमचन्द तक पहुँचने के लिए कई मंजिलें पार करनी हैं। जो हो, यह निश्चित है कि हमें 'कायाकल्प' को उससे पूर्व की रचनाओं से जोड़ना पड़ेगा। इसी के अनुसार देवप्रिया वाले अंश की व्याख्या सम्भव है। हमने बतलाया है कि प्रेम, वासना, विवाह और यौन की अनेक समस्याओं से प्रेमचन्द स्वतः परिचित थे और उनके अधिकांश उपन्यासों में ये समस्यायें आई हैं। 'कायाकल्प' में अनेक जोड़े हैं; प्रेम, वासना और आत्मसमर्पण के अनेक प्रसङ्ग है। इन प्रसङ्गों को रखने में उपन्यासकार का क्या मंतव्य था? क्या वह प्रेम की व्याख्या करना चाहता था और इसी के लिए उसने एक अतीन्द्रिय प्रेम प्रसङ्ग की कल्पना की? जो हो, यह निश्चित है कि कायाकल्प के प्रेमचन्द समाजवादी नहीं हैं और चाहे जन्मांतरवाद और चिरन्तन प्रेम भ्रम हो—वे इन भ्रमों में पड़े हैं। इन भ्रमों से उद्धार पाने का मार्ग ही वे ढूँढ़ रहे हैं। आज चाहे हम इसे रहस्यवाद कहें या कुछ और ये मानव की कुछ चिरंतन समस्यायें हैं और प्रेमचन्द ने उन्हें इसी रूप में देखा है।

'कायाकल्प' को हमने 'गोदान' और 'रंगभूमि' के बाद प्रेमचन्द का सबसे उत्कृष्ट उपन्यास माना है और आज भी इस कथन में हम प्रेमचंद की कोई भी अप्रतिष्ठा नहीं समझते। इन तीनों उपन्यासों के तीन भिन्न-भिन्न क्षेत्र हैं, परन्तु भाषा-शैली की शक्ति, विषयों की व्यापकता और कथाओं की रोचकता एवं पात्र-निरूपण में वे अद्वितीय है। अन्य उपन्यास या तो इन्हीं उपन्यासों की प्रतिच्छाया हैं, जैसे कर्मभूमि स्पष्टतः रंगभूमि से प्रभावित है, या उनके क्षेत्र इनकी अपेक्षा अधिक सीमित है। हिंदी का कोई भी प्रेम-रोमांस 'कायाकल्प' की समता नहीं कर सकता। यह निश्चित है कि इस उपन्यास को लिखते समय

प्रेमचन्द कल्पना और कला की अत्यन्त उदात्त भूमि पर थे। हम यह मानते हैं कि 'कायाकल्प' में लौकिक और अलौकिक दो भिन्न-प्रकृति कथानकों को एक साथ रखकर प्रेमचंद जी ने पाठक के विश्वासों के प्रति खिलवाड की, परन्तु इससे उपन्यास छोटा नहीं हो जाता।

इस प्रकार की कुछ अन्य उक्तियाँ अन्य कृतियों की आलोचना के सम्बन्ध में भी हैं, परन्तु प्रत्येक साहित्यकार को उसकी विकास की भूमि पर रखकर देखना होगा। हम अपने समय की भावनाओं या अपने ज्ञान और विचार से पूर्ववर्ती रचनाओं को नहीं आँक सकते। ऐसा करेंगे तो रचना और रचनाकार दोनों के प्रति अन्याय करेंगे। 'कथाकार प्रेमचंद' में समाजवादी दृष्टिकोण से प्रेमचंद की अच्छी व्याख्या है, परन्तु लेखकों को यह ध्यान रखना चाहिये था कि प्रेमचंद समाजवाद से परिचित कब हुए और उनकी कितनी पूर्व-रचनायें अन्य 'वाद' या अन्य विचारों से प्रभावित हैं। सच तो यह है कि प्रेमचंद के साहित्य की व्याख्या न गाँधीवाद के माध्यम को हो सकती है, न समाजवाद के; उनका जीवन, उनकी परिस्थितियाँ, उनके साहित्यिक और राजनैतिक आदर्शों के प्रकाश में ही उनकी रचनाओं की ठीक-ठीक व्याख्या हो सकेगी। अभी हम प्रेमचंद के जीवन, उनकी परिस्थितियों और उनके मनोविज्ञान से पूर्णतः परिचित नहीं हैं और यह काम कम श्रम-साध्य भी नहीं है।

पुनश्च

२

यद्यपि प्रेमचंद ने अपने साहित्यिक जीवन को १९०३—४ के लगभग उर्दू मासिक-पत्र 'जमाना' में स्केच और निबन्ध लिखकर आरम्भ किया—कुछ वर्ष पहले वे एक-दो उपन्यास भी लिख चुके थे—यह निश्चय है कि वे पूर्णतय: साहित्य में १९१६ ई० में 'सेवासदन' के प्रकाशन के साथ आये। इससे पहले का समय उनके लिए साहित्य क्षेत्र में उम्मेदवारी का समय था, वे लिखकर लिखना सीख रहे थे और गद्य के अनेक क्षेत्रों में प्रयोग कर रहे थे। १९१६ से लेकर अपनी मृत्यु के वर्ष १९३६ तक वे बराबर लिखते रहे। उर्दू के एक अज्ञात-से लेखक से उठकर वे अखिल-भारतीय कीर्ति के धनी कलाकार बने। मृत्यु के बाद उनकी रचनाओं का ताँता बँध गया, उनकी कहानियों और उपन्यासों की व्याख्या निरंतर लम्बी होती गई। उन्हें आर्थिक और दैहिक कष्टों के बीच से गुजरना पड़ा, इसी से वे कदाचित् समय के पहले ही चले गये, परन्तु उन्होंने अपने व्यक्तित्व की आग में तप कर कथालेखन की एक नई कला को गढ़ा। कलात्मक संयम, चरित्र-चित्रण, वर्णन-प्रवाह और काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से वे अपने सम-

सामयिक लेखकों में सबसे अधिक चमके। राजनीति में जो 'गाँधी-युग' कहा जाता है, हिंदी कथा-साहित्य में वही 'प्रेमचंद युग' है।

१९१६ में प्रेमचन्द का पहला बड़ा सामाजिक उपन्यास 'सेवासदन' प्रकाशित हुआ। इसके बाद क्रमशः प्रेमाश्रम (१९२२), निर्मला (१९२३), रंगभूमि (१९२४), कायाकल्प (१९२८), ग़बन (१९३१), कर्मभूमि (१९३२) और गोदान (१९३६) सामने आये। उनका अंतिम उपन्यास 'मंगलसूत्र' अधूरा रह गया, और अभी अप्रकाशित ही है। उनकी छोटी कहानियों की संख्या ३०० से अधिक जाती है और रचनाक्रम के हिसाब से उन्हें उपस्थित करना बड़ा कठिन है। उनकी पहली कहानी—'संसार का सबसे अनमोल रत्न'—१९०० में ज़माना में प्रकाशित हुई। पहले कहानी संग्रह 'सोज़े वतन' (१९०९) से 'कफ़न और अन्य कहानियाँ' संग्रह (१९३९) तक प्रतिवर्ष हमें उनके द्वारा सामयिक जीवन और राजनैतिक हलचलों के बीसियों चित्र मिले। उनके साहित्य को समसामयिक भारतवर्ष का एक बृहद् 'अलबम' भी कहा जा सकता है। इन तीन सौ से अधिक कहानियों में जिस कला, जिस साहित्यिक कुशलता और जीवन की जिस पकड़ के दर्शन होते होते हैं, वह हमें आश्चर्य-चकित कर देती है।

प्रेमचन्द के पहले उपन्यास सेवासदन (१९१६) के प्रकाशन ने हिंदी कथा संसार में अभूतपूर्व क्रांति उपस्थित कर दी। हिंदी के पहले उपन्यास परीक्षागुरु (१८८६) से शुरू कीजिये, तो सेवासदन तक तीस वर्ष होते हैं। इन तीस वर्षों में सामाजिक, रोमांटिक, तिलिस्मी, ऐयारी और जासूसी उपन्यास सैकड़ों की संख्या में लिखे गए; और जनसाधारण में उपन्यास अत्यन्त लोकप्रिय हो गया। परन्तु न इन उपन्यासों में साहित्यिकता

है, न कला के दर्शन होते हैं, न घर और समाज के जीवन का परिचय होता है। प्रेमचन्द ने रोमांसों की परम्परा में अपना नाम नहीं जोड़ा। उन्होंने सामाजिक और राजनैतिक तत्त्वों को लेकर उपन्यास गढ़े। रचनाक्रम की दृष्टि से उनकी सामाजिक रचनाएँ पहले आईं—इसका सर्वोत्तम विकास 'सेवासदन' (१९१६), प्रेमा (१९०१, ०४, ०६ जो 'हमखुरमा और हमसवाब' और प्रतिज्ञा नाम से परिवर्तित और परिवर्द्धित हुआ), वरदान (१९०४), सेवासदन (१९१६), निर्मला (१९२३) और ग़बन (१९३१) में हुआ—इन उपन्यासों में प्रेमचन्द किशोरीलाल गोस्वामी की भूमि पर चलते और उसे कई तरह विकसित करते दिखलाई देते हैं। बीसवीं शताब्दी के पहले दशकों में सामाजिक क्षेत्र में बड़ी रस्साकशी चल रही थी। एक ओर आर्य-समाज और प्रगतिशील हिंदू और दूसरी ओर रूढ़िवादी। प्रेमचन्द ने प्रगतिशील पक्ष को सबल बनाया। उनके सामाजिक उपन्यास सुधारवादी के उत्साह से भरे हुए हैं। उन्होंने हिन्दू कुटुम्ब, समाज, रीति-रिवाज और रूढ़ियों को नई परिस्थितियों के प्रकाश में रखा और नये-पुराने में समझौता करने की चेष्टा की। जो बुतशकन थे, उन्हें इन्होंने हिन्दोस्थान के महान सांस्कृतिकदाय की ओर इशारा किया और जो रूढ़िवादी है, उनके लिए वे चैलेन्ज बनकर आये। जहाँ तक किशोरीलाल गोस्वामी के सामाजिक उपन्यासों की कला का सम्बन्ध है, यह निश्चय है कि उनका यह पक्ष बड़ा निर्बल था। प्रेमचन्द ने अपने सामाजिक उपन्यासो में कला का समावेश किया और इस तरह वे गोस्वामी जी से बहुत आगे निकल गये। 'वरदान' और प्रतिज्ञा सामाजिक उपन्यास की अपेक्षा रोमांस ही अधिक हैं, यद्यपि उनकी पृष्ठभूमि में बीसवीं शताब्दी के पहले दो

दशकों का हिंदू सामाजिक जीवन चित्रित हो जाता है—प्लेग, बाढ़, गोशाला आन्दोलन, आर्य-समाजियों और रूढ़िवादी हिन्दुओं के शास्त्रार्थ, विधवा विवाह, दोहाजू की समस्या। ये कुछ महत्वपूर्ण समस्यायें थीं। सेवासदन (१६१६) ने पहली बार एक चुनौती हमारे सामने रखी। उसका विषय था सर्वकाल का नरक—वेश्या जीवन। इसी उपन्यास ने प्रेमचन्द को हिंदी उपन्यासकारों की अगली पंक्ति में स्थान दिला दिया और उनके लिए उज्ज्वल भविष्य निश्चित किया। चरित्र-चित्रण और परिस्थिति का मनोवैज्ञानिक विश्लेपण इस उपन्यास की सबसे बड़ी शक्ति है। इस उपन्यास में कई त्रुटियाँ भी थीं—सुधारवादी अतिशयोक्तियाँ, लंबे और जी उबाने वाले भाषण, अर्थहीन अवांतर प्रसङ्ग, परन्तु फिर भी यह उपन्यास भारतीय उपन्यासों में अद्वितीय था। 'निर्मला' में दोहाजू की समस्या पर प्रकाश डाला गया था। हिन्दू समाज में कभी एक पत्नी के रहते, कभी न रहते जो दूसरा विवाह कर लिया जाता है, उससे अनेक समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। प्रेमचन्द का अन्तिम सामाजिक उपन्यास 'ग़बन' था। इसमें भारतीय स्त्री-समाज की आभूषण-प्रियता पर व्यंग था और मध्यवित्तों की सारी दुर्बलताओं को कला के द्वारा उभारा गया था। परन्तु इसे सामाजिक उपन्यास कहें भी क्यों—यह तो चरित्र प्रधान उपन्यास ही अधिक है। जालपा, रामनाथ, रतन और जोहरा इसके चार पात्र हैं। इन्हीं को घेर कर कथा चलती है। यहीं पहली बार प्रेमचन्द ने एक दुर्बल चरित्र पात्र को नायक बनाया है। रामनाथ प्रेमचन्द का पहला वस्तुवादी पात्र है। 'कर्मभूमि' के अमरकांत की वीथिका इसी ने तैयार की है।

परन्तु प्रेमचन्द की विशेषता यह है कि उन्होंने कथा में

राजनीति का समावेश किया और लोकप्रिय हलचलों को अपने उपन्यासों का आधार बनाया। प्रेमाश्रम (१६२२), रंगभूमि (१६२४), कर्मभूमि (१६३२), कायाकल्प (१६२८) और गोदान (१६३६) इसी श्रेणी की रचनाएँ हैं। समसामयिक उपन्यास साहित्य में इस श्रेणी की कोई भी चीज़ नहीं है। रवीन्द्र बाबू का 'घरे-बाहरे' और शरत् बाबू का 'पथेरदावी' व्यापक अर्थों में राजनैतिक उपन्यास कहे जा सकते हैं। शरत्चंद्र ने बंगाल के गाँव को चित्रण करने के लिये केवल एक उपन्यास लिखा (पल्ली समाज)। उनकी शेष सभी रचनाएँ सामाजिक हैं या मध्यवित्त बंगालियों की मनोवैज्ञानिक उलझनों से संबोधित हैं। 'प्रेमाश्रम' (१६२२) के साथ प्रेमचन्द ने हिंदी उपन्यास के क्षेत्र में नया प्रवर्तन किया और इस श्रेणी का उनका अन्तिम उपन्यास 'गोदान' भारतीय गाँव का महाकाव्य है। प्रेमचन्द के इन सामाजिक राजनैतिक उपन्यासों के तीन सूत्र हैं—भारतीय गाँव, उद्योगीकरण और अहिंसात्मक सत्याग्रही राजनैतिक आन्दोलन कृषक-समाज और उनकी मुसीबतें, हिन्दू-मुसलिम समस्या, गाँव के जीवन में शहरों का प्रवेश, धार्मिक और सामाजिक अंधविश्वास, अंधकार की शक्तियाँ—यही कुछ प्रेमचंद के राजनैतिक उपन्यासों के विषय हैं। उनका पहला उपन्यास प्रेमाश्रम (१६२२) बनारस के समीपवर्ती लखनपुर ग्राम के उजड़ने और बसने की कथा है। विदेशी राजशक्ति के सारे अस्त्र—जमींदार, कामदार, पुलिस, शहरी अधिकारी—सब उन अत्याचारों की बड़ी-बड़ी लहरों के पोषक हैं जो जब-तब गाँव को निगलती रहती हैं। प्रेमचन्द का ग्रामीण समाज इन भयावह लहरों के प्रति एकदम निश्चेष्ट नहीं है। धरती का सच्चा पुत्र, गाँव माता का सपूत बलराज इन लहरों की चुनौती को स्वीकार

करता है—फल है जालिम गौस खाँ की हत्या। इसके उपरांत निरंकुशता का जो चक्र चलता है, वह लखनपुर को पीस डालता है। लखनपुर उजाड़ होता है। चौपाले ख़ाली। घर सुनसान। 'रंगभूमि' में प्रेमचन्द ने १००० पृष्ठों के बड़े चित्रपट में आधुनिक भारतीय जीवन के सभी अगों को कथा का विषय बनाया। १९२१ के असहयोग आंदोलन का सबसे सफल प्रतिबिंब इस उपन्यास में दिखलाई पड़ता है। इस उपन्यास में दो मिली-जुली कहानियाँ चलती हैं, एक का नायिक सूरदास है, दूसरी का विनय। विनय, जाह्वी और सोफिया के चरित्र, देशी राज्यों के प्रजा-आन्दोलन इत्यादि अनेक महत्वपूर्ण तत्त्वों का समावेश इस उपन्यास में है। पांडेपुर का सूरदास सचमुच ही प्रेमचन्द की अनोखी कृति है। वह गाँव के उद्योगीकरण का विरोध करता है, उसे विश्वास है, इस उद्योगीकरण से गाँव की आत्मा का हनन हो जायगा। आलोचकों ने सूरदास और विनय में गाँधी और जवाहरलाल की झलक देखी है, परन्तु इससे कलाकार प्रेमचन्द लांछित नहीं होते। उनके चरित्र इतने हाड़-माँस के बने हैं कि ज़रा भी अलौकिक नहीं जान पड़ते। प्रेमचन्द कल्पना और कलम के बादशाह हैं। एक महान् राजनैतिक नेता और सूत्रधार की तरह उन्होंने सैकड़ों पात्रों को जनता के युद्ध में उतारा है और उनमें अपनी आत्मा का साहस और अपने मन के सपने भरे हैं। सामूहिक परिस्थितियों और आंदोलनगत मनुष्यों के चरित्र का इतना सूक्ष्म और सुन्दर चित्रण शरत् और रवीन्द्र बाबू में भी नहीं है। यह अवश्य है कि प्रेमचन्द को इस दिशा में रूसी उपन्यासकारों—विशेषतय: तोल्सताय—से प्रेरणा मिली। रूसी उपन्यास भी समूचे राष्ट्र की चित्रपटी लेते हैं। परन्तु प्रेमचन्द ने इस प्रेरणा को ग्रहण

कर जैसे जादू कर दिया हो। स्वयं प्रेमचन्द ने अपने अगले उपन्यासों में इतना चारित्रिक वैभिन्न्य, इतने हाड़माँस के मनुष्य, इतने कथासूत्र, इतने सुन्दर प्रसङ्ग-संगठन हमें नहीं दिये। 'कायाकल्प' (१६२८) में प्रेमचन्द ने दो कहानियाँ ली हैं—मृत्य और अमृत्य को मिलाने की यह चेष्टा उपन्यास को शिथिल बना देती है। अलौकिक कथा प्रसङ्ग पर मेरी कॉरेली की रचनाओं का प्रभाव जान पड़ता है, कदाचित् संसार के उत्कृष्ट प्रेम-रोमांचकों का भी उस पर प्रभाव है। परन्तु गाँव की कथा में प्रेमचन्द अपने निजी अनुभव की दृढ़ भूमि पर खड़े हैं। १६३०—३२ के आंदोलन ने प्रेमचन्द को कर्मभूमि लिखने की प्रेरणा दी। स्वयं उनकी अपनी अन्य कृति 'रंगभूमि' से यह रचना बहुत अंशों में मिलती-जुलती है, परन्तु उसका चित्रपट इतना विशद नहीं है। अनेक अंशों पर 'रंगभूमि' के अनुकरण की छाप है, परन्तु कृति फिर भी प्रेमचन्द के ही अनुरूप है। जान पड़ता है, प्रेमचन्द के अपने जीवन की असफलताओं और दुर्बलताओं की छाप उनकी रचनाओं पर पड़ने लगी। बाद के उपन्यासों में न विट्ठलदास (सेवासदन) हैं, न प्रेमशंकर (प्रेमाश्रम), न सूरदास-विनय (रंगभूमि)। इनके स्थान पर हमें अनेक दुर्बल चरित्र नायक मिलते हैं जो बराबर मृगतृष्णा के पीछे दौड़ते हैं और इस प्रकार अपनी शक्तियों को नष्ट कर देते हैं। 'प्रेमाश्रम' (१६२२) के ज्ञानशंकर की परम्परा ही इन नायकों में बढ़ती दिखलाई देती है। 'ग़बन' (१६३१) में रामनाथ है, कर्मभूमि (१६३२) में अमरकांत। कर्मभूमि की प्रधान कहानी का सम्बन्ध म्युनिसिपिलिटी के सुधार और हरिजन-समस्या से है। अंतिम उपन्यास 'गोदान' में प्रेमचंद ने दुर्बल-चरित्र नायकों को छोड़ दिया है। 'गोदान' का होरी

विनय और सूरदास की पपम्परा का अद्भुत चरित्र है। सूरदास और होरी भारतीय साहित्य के अनुपम रत्न बने रहेंगे। वे हमारे राष्ट्रीय संग्राम की प्रतिमूर्ति हैं। होरी की कहानी भारतीय किसान की युग-युग से पददलित परन्तु अत्यन्त बलवती आत्मा की अग्नि-परीक्षा की कहानी है। होरी की सरलता, नायक की चिर विजय पर उसका अदम्य विश्वास, घर और कुटुम्ब के प्रति उसका मोह, वह जो अपना मानता-जानता है उसके प्रति बलिदान की भावना, उसका ग्रामीण हास-विनोद का ढंग, उसकी व्यावहारिकता, उसकी मानवता! अभी होरी की उम्र ही क्या है—परन्तु वह चला जाता है। इसके लिए हम किसे धन्यवाद दें—युग-युग की गुलामी को या अपने चिरंतन सामाजिक रूढ़िवाद को। उसकी छोटी सी किसानी लालसा, उसके दरवाज़े के आगे एक दुधारू गाय बँध जाये, छोटी-सी यह लालसा भी पूरी नहीं हो पाती। इतने-इतने बीघे गन्ने बोने वाला यह सामान्य, प्रतिष्ठित कृषक एक छोटी-सी गाय नहीं पाल सका। जब वह चल बसा, तो उसकी पत्नी धनिया गाय क्या, बछड़ा भी गोदान के रूप में नहीं दे सकी। पाँच आने पैसे—यही 'गोदान' रहा। प्रेमचन्द का व्यंग तीखा और स्पष्ट है। परन्तु होरी की इस शहादत ने उसे अमर बना दिया। उसकी दैहिक मृत्यु के बाद भी उसका कठोर, कर्मठ व्यक्तित्व जीवित रहता है। यह व्यक्तित्व उस सब के प्रति चुनौती की तलवार बन जाता है जिसका होरी ने आयु पर्यंत विद्रोह किया और जिसके कारण उसकी सरल सी कृषक-सुलभ लालसा पूरी न हो सकी। आज के प्रश्नों के युग में 'गोदान' एक बड़ा प्रश्न चिह्न है। कला की वस्तु के नाते वह क्लासिक बन चुका है। संसार के साहित्य में उसके जोड़ की वस्तुयें अधिक नहीं हैं।

परन्तु कहानीकार प्रेमचन्द उपन्यासकार प्रेमचन्द से कहीं अधिक बड़े हैं। बड़े उपन्यासों में वह कहीं-कहीं विशृंखल हो जाते हैं, कहीं-कहीं उनके हाथ से रंग अधिक गहरा लग जाता है, कहीं-कहीं कथा-संगठन शिथिल है, कहीं-कहीं अनेक पृष्ठों तक व्यर्थ का विस्तार चलता है। फिर कहीं-कहीं वह भाषा और कवित्व के गोरख-धंधे में फँस जाते हैं। परन्तु उनकी कहानियों में ये त्रुटियाँ नहीं हैं। रवि ठाकुर के बाद प्रेमचन्द भारतवर्ष के सबसे बड़े कहानीकार हैं। प्रेमचन्द ने अपने एक लेख में रवि बाबू का ऋण स्वीकार किया है, परन्तु उनके विषय एकदम नये हैं। अपनी शैली को उन्होंने स्वयं विकसित किया है और उन्हीं के द्वारा हिंदी कहानी अपनी पूर्णता को प्राप्त हुई है। तीस वर्ष तक वे कहानी-उपन्यास लिखते रहे, तीस वर्ष तक हमारा राष्ट्र स्वतंत्रता और सामाजिक संतुलन के राजपथ पर बढ़ता रहा। इन तीन सौ से ऊपर कहानियों में हमारे राष्ट्रीय जीवन के पिछले तीस वर्षों का कितना इतिहास भरा पड़ा है। एक दर्जन से अधिक ग्रन्थों में ये कहानियाँ संग्रहीत हैं। इन कहानियों में हम चेखव और गोर्की, रवीन्द्रनाथ और शरत्चंद्र की कला को एक स्थान पर पा जाते हैं। प्रेमचन्द 'कला के लिए कला' सिद्धान्त के समर्थक नहीं हैं। तोल्सताय और गोर्की की तरह उनका भी एक महान लक्ष्य था। वह जन-जीवन की सभी प्रगतिशील शक्तियों को बल देना चाहते थे। उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानियाँ या तो चरित्र निरूपित करती हैं या किसानों, मजदूरों और उपेक्षितों का चित्रण करती हैं। मृत्यु के कुछ वर्ष पहले, जब वह गोदान (१९३२—१९३६) लिख रहे थे, जान पड़ता है, उनके जीवन में बराबर कटुता बढ़ती गई। न जाने कैसी पीड़ा, कैसी धिक्कार से उनका हृदय भर गया।

गाँधीवादी आदर्शवाद और सन्तोष की जड़ें हिल गई। उनकी कला व्यंगप्रधान हो गई। उन्होंने उन सब शक्तियों को खुली चुनौती दी जो मनुष्य की आत्मा को कुंठित कर देती हैं। 'गोदान' और 'कफन' की कहानियों में वर्ग-संघर्ष साफ़ दिखलाई पड़ता है। इन बाद की रचनाओं से प्रेमचन्द की प्रगतिवादी गति-विधि स्पष्ट हो जाती है। इन कुछ कहानियों की अपनी अलग श्रेणी है और उनकी चुनौती भी स्पष्ट है। यह दुःख का विषय है कि प्रमचंद ने जिस कला का सूत्रपात अपने अंतिम दिनो में किया, उसे अनेक कलाकारों द्वारा अपनाया जाना और कला और साहित्य में एक नितान्त नये युग का प्रवर्त्तन वे न देख सके। स्वतंत्रता का प्रभात आते-आते उनकी सशक्त वाणी शून्य में विलीन हो गई। अन्तिम दिनो में उन्होंने प्रगतिशील लेखक संघ (लखनऊ) की पहली बैठक और दूसरे अवसरों पर जो भाषण दिये थे उनसे स्पष्ट है कि वे नए सामाजिक और राजनैतिक निर्माण के साक्षी थे। गोर्की की भाँति उनकी आवाज़ हमारे लिए बहुत भारी चीज़ थी। नई पीढ़ी के लेखकों और कवियों को उनसे क्या कुछ बल न मिला होता! उनकी कला उपेक्षित सदाशयों को शक्ति देती और उनका क़लम विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायों को जोड़ने वाली एक महान ताक़त सिद्ध होता। समसामयिक लेखको में प्रेमचद ही एक ऐसे लेखक थे जिन्हें हिन्दू और मुसलमान समान रूप से मानते थे और जिनकी भाषा-शैली दोनों पक्षों के लिए ग्राह्य थी।

प्रत्येक देश में महान राष्ट्रीय हलचलों के समय अनेक नेता, वक्ता, लेखक और कलाकार ऐसे जन्म लेते हैं जिनमें अनेक सम्भावनाएँ रहती हैं और जिनका राष्ट्र को गर्व होता है। महात्मा गाँधी द्वारा संचालित राष्ट्रीय संग्राम ने १९२१ के

बाद अनेक महापुरुष हमें दिये। जीवन के अनेक क्षेत्रों में इन महापुरुषों ने काम किया। जवाहरलाल, कनुभाई, प्रेमचंद, भारती, खबरदार, इक़बाल। और भी न जाने कितने! नये भारत के इन नेताओं में प्रेमचंद का अपना स्थान सुरक्षित है। कला और साहित्य, प्रगतिशील चिंतन और निर्माणात्मक प्रेरणा के क्षेत्र में प्रेमचंद दीपस्तम्भ की भाँति रहे। इस रूप में वे सदैव स्मरणीय रहेंगे। परन्तु वे और भी बहुत कुछ थे। वे हमारे राष्ट्रीय प्रभात के चारण थे। पिछले तीन दशकों के इतिहासकार को युग की प्रतिभा को ठीक-ठीक आँकने के लिए प्रेमचंद की कहानियों और उपन्यासों के पन्ने उलटने पड़ेंगे। इन कहानियों और उपन्यासों में सामयिक बहुत कुछ है, परन्तु चिरंतन भी कम नहीं है। देशभक्त और गाँधीवादी प्रेमचंद से कलाकार प्रेमचंद बहुत ऊँचे उठे हुए हैं—आने वाली पीढ़ियों को प्रेमचंद का यही रूप सबसे अधिक सजीव लगेगा, इसमें आज किंचित भी सन्देह नहीं है।

२४ मार्च, १९४८
इलाहाबाद

'आलोचनात्मक अध्ययन'

माला

जो पुस्तक आपके हाथ में है वह हमारी 'आलोचनात्मक अध्ययन' माला का एक पुष्प है। इस माला में हम हिंदी के कवियों, कथाकारों और साहित्य मनीषियों का संक्षिप्त विवेचनात्मक, आलोचनात्मक अध्ययन उपस्थित कर रहे हैं। अन्य प्रमुख प्रांतीय भाषाओं के साहित्यिकों और कलाकारों को भी हम साथ-साथ लेना चाहते हैं। यही नहीं कालान्तर में शिक्षा के महान् साहित्यिकों के भी इस प्रकार के अध्ययन हम उपस्थित करेंगे। इस माला में डा० रामरतन भटनागर की निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं :—

कवियों का अध्ययन

विद्यापति	२॥)
कबीर	२॥)
सूरदास	२॥)
मलिक मुहम्मद जायसी	२॥)
तुलसीदास	२॥)
नंददास	२॥)
केशवदास	२॥)
विहारी	२॥)
भारतेन्दु हरिश्चन्द	२॥)
मैथिलीशरण	२॥)
प्रसाद	२॥)
निराला	२॥)

उपन्यासकारों का अध्ययन

प्रेमचद	२॥)

प्रसिद्ध रचनाओं का अध्ययन

कामायनी	२॥)

महत्वपूर्ण प्रवृत्तियों का अध्ययन

छायावाद	२॥)
रहस्यवाद	२॥)
हिन्दी-कविता	२॥)
हिन्दी-गद्य	२॥)
हिंदी भक्ति-काव्य	२॥)

साहित्य के विभिन्न अंगों का अध्ययन

साहित्य समीक्षा	२॥)
हिन्दी साहित्य	५)

किताब महल • प्रकाशक • इलाहाबाद

में लिखी सुन्दरता है। सीता जी के वीणावादन से मुग्ध होकर घिर आये हुए मयूर की शिखा, सूए की नाक, कोकिल का कंठ, हरिणी की आँखें, मराल की मंद-मंद चाल चलने वाले पाँव इसलिए उनके राम से इनाम नहीं पाते कि ये वस्तुएँ वस्तुत: सुन्दर हैं बल्कि इसलिए कि कवि इन्हें परम्परा से सुन्दर मानते चले आये हैं, नहीं तो इनमें कोई सुन्दरता नहीं। इसलिए सीताजी के मुख की प्रशंसा करते हुए वे कह गए हैं—

देखे भावे मुख, अनदेखे कमलचंद

कमल और चंद्रमा देखने में सुन्दर नहीं लगते? हद हो गई हृदयहीनता की। सुधी आलोचक पंडित-प्रवर स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते हैं—"वन, नदी पर्वत आदि इन याचक कवियों को क्या दे देते जो ये उनका वर्णन करते! जायसी, सूर, तुलसी आदि स्वच्छन्द कवियों ने हिंदी कविता को उठाकर खड़ा ही किया था कि केशव ने पशुओं की भाँति उसके पैर छानकर गंदे बाजारों में चरने के लिए छोड़ दिया। फिर क्या था, नायिकाओं के पैरों में मखमल के गुदगुदे बिछौने और गुलाब के फूल की पंखड़ियाँ गड़ने लगीं। यदि कोई षट्ऋतु की लीक पीटने खड़े हुए तो कहीं शरद की चाँदनी से किसी विरहिणी का शरीर जलाया, कहीं कोयल की कूक से कलेजों के टुकड़े किये, कहीं किसी को प्रमोद में मत्त किया, क्योंकि उन्हें तो इन ऋतुओं के वर्णन को उद्दीपन मानकर संयोग या वियोग-शृङ्गार के अन्तर्गत ही लाना था। उनकी दृष्टि प्रकृति के इन व्यापारों पर तो जमती ही नहीं थी, नायक या नायिका पर ही दौड़-दौड़ कर जाती थी। अत: उनके नायक-नायिका की अवस्था विशेष और प्रकृति की दो चार इनी-गिनी वस्तुओं से जो सम्बन्ध होता था, उसी को दिखाकर वे किनारे हो जाते थे।"

(नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, भाग १४, संख्या १०)

इतना होने पर कहीं-कहीं केशव में प्राकृतिक सुन्दर चित्र उपस्थित हो जाते हैं, ये ऐसे स्थलों पर जहाँ वे समसामयिक काव्य से प्रभावित हैं या जहाँ उन्होंने कल्पना के घोड़ों की रास अपने हाथ में रखी है। सूरदास का एक पद है—

> उगत अरुन विगत सर्वरी ससाँक किरन—
> हीय दीय दीपक मलीन छीन दुति समूह तारे

इसी जैसा कुछ वर्ण केशव ने प्रातःकाल जागरण का किया है—

> तरनि किरन उदित भई दीपज्योति मलिन गई
> सदय हृदय बोध उदय ज्यौं कुबुद्धि नासै
> चक्रवाक निकट गई चकई मन मुदित भई
> जैसे निज ज्योति पाय जीव ज्योति भासै

उन्होंने आक्षेपालंकार में जो बारहमासा लिखा है वह भी सत्य है। 'रसिकप्रिया' में घने अँधेरे बादलों का चित्र देखिये—

> राहिन्ह आइ चले घरकी दसहूँ दिसि मेघ महा मिलि आए
> दूसरौ बोल न ही समुझै कहिके सब यौं छिति मैं तम छाए

परन्तु ऐसे वर्णन कितने हैं!

५

केशव की भाषा और शैली

केशव के समय तक हिन्दी भाषा के विकास का पूर्ण इतिहास हम नहीं बना पाए हैं, परन्तु उनसे पहले ब्रजभाषा साहित्यिक भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी, यह निश्चय है। यही नहीं उसका पर्याप्त विकास भी हो चला था। साहित्य के क्षेत्र में तब तक अन्य कई भाषाएँ भी आ चुकी थीं। वीरगाथा ने हमें डिंगल का काव्य दिया था, कबीर और अन्य संत कवियों की कविता में खड़ी बोली का अन्य बोलियों से मिश्रित रूप—विशेषकर पूर्वी और पंजाबी। इसे पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने सधुक्कड़ी भाषा कहा है। कबीर ने—मेरी बोली पूरबी—लिख कर अपने काव्य की भाषा को काशी की बोली बतलाया है। अवधी में सूफी कवि लिख चुके थे। तुलसी ने जायसी की भाषा को संस्कृत की गरिमा से भर कर मानस की साहित्यिक अवधी का महल खड़ा किया था। परन्तु ब्रजभाषा ने विशेष साहित्यिक प्रतिष्ठा प्राप्त की। इसीसे साफ पता लगता है कि तुलसी की अधिक रचनाएं इसी ब्रजभाषा में हैं। जान पड़ता है मानस के बाद उन्होंने ब्रजभाषा काव्य का (विशेषकर सूर के काव्य का) अच्छा अध्ययन किया और उसे अपना माध्यम बनाया। यह अवधी पर ब्रजभाषा की विजय है। कन्नौजी, बुन्देलखण्डी और ब्रजभाषा के क्षेत्र परस्पर मिले हुए हैं, अतः साहित्य में ब्रजभाषा ने ही इन क्षेत्रों में आधिपत्य कर लिया और शेष भाषाओं का साहित्य जन-गीतों से आगे नहीं बढ़ सका। ऐसा क्यों हुआ,

इसका भी कारण है। यह युग कृष्ण-भक्ति के प्रचार का था। काव्य और उपदेश इस प्रचार के माध्यम थे। व्रज कृष्ण-भक्ति का केन्द्र था और यहीं विभिन्न सम्प्रदायों के भीतर से कृष्ण-काव्य का साहित्य सामने आया। यह शीघ्र ही सीमान्त के भाषा प्रान्तों में लोकप्रिय हो गया और उसी के अनुकरण में उसी की भाषा में कविता की गई।

इस प्रकार सामयिक व्यवस्था और परम्परा से केशव को व्रजभाषा मिली; परन्तु वे स्वयं बुन्देलखण्ड में रहे, अतः उन पर बुन्देलखण्डी की छाप होना आवश्यक था। फारसी की शब्दावली का प्रयोग सूर और तुलसी में भी है, केशव भी उससे नहीं बचे। परन्तु फिर केशव की भाषा असाधारण और क्लिष्ट क्यों है, यह प्रश्न है। यह असाधारणता कई प्रकार की है—

१—असाधारण प्रयोग जैसे सुख का प्रयोग सहज के में।

२—निरर्थक प्रयोग जैसे जू, सु

३—लिंग-भेद—देवता शब्द बराबर स्त्रीलिङ्ग में लिखा गया है।

४—ठेठ बुन्देलखण्डी शब्दों और मुहावरों का प्रयोग जैसे, स्यो, गौर मदाइन।

५—संस्कृत के व्याकरण के ढंग के प्रयोग।

कछु आपुन अध अधगति चलंति
फल पतितन कहँ ऊरध फलंति

६—तुक के लिए असाधारण प्रयोग

जहँ तहँ लसत महामद मत्त
वर वारन वार न दल दत्त

यहाँ दलदत्त का अर्थ है सेना को दलने में। वारन श्लेष है, हाथी, देर नहीं लगती (वार+न)

७—वीरगाथा के शब्दों और तुकों का प्रयोग—

देखि बाग अनुराग उपज्जिय
बोलत कलध्वनि कोकिल सज्जिय

८—अप्रचलित प्रयोग जैसे ब्रह्मा के लिए सरसिज योनि, सूरन (सुग्रीव)

९—अन्वय की कठिनाई समास रूप से थोड़े में बहुत भर देने का प्रयत्न—

केहि कारण पठये यहि निकेत
निज देन लेन संदेश हेत

= निज संदेश देन—लेन हेत संदेश

१०—व्यर्थ प्रयोग, जैसे निदान

११—गलत प्रयोग, हे=थे, सोदर=सहोदर, जीव=जी, चार=चर

१२—संदिग्ध प्रयोग विलगु=बुराई

१३—ठेठ हिन्दी शब्दों की संधि सोउब=सो+अब

१४—नए शब्द, निघ्रन=जिसे घृणा न लगे

इस प्रकार की अनेक विशेषताएँ केशव के काव्य को जटिल बना देती हैं। रसिकप्रिया केशव का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। उसकी भाषा इतनी असंस्कृत नहीं है, जितनी रामचन्द्रिका की। कारण यह है कि रामचन्द्रिका में केशव प्रत्येक प्रकार असाधारण बनना चाहते हैं। उन्होंने संस्कृत वर्णिक छन्दों का बड़ी मात्रा में प्रयोग किया है—इन छन्दों के चोखटे में हिन्दी के अधिक शब्द बिगड़ गए तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। फिर केशव यह भी चेष्टा नहीं करते कि इन छन्दों को माँज ही लें। केवल उदाहरण के लिए एक दो छन्द लिख देते हैं। अतः उनकी शैली सरल और सुबोध नहीं हो पाती। अनेक मात्रिक छंदों का पहली बार प्रयोग

केशव ने ही किया है। यहाँ भी अभ्यास-विरलता के कारण कच्चाई है।

कुछ छन्दों का उदाहरण देने से बात और स्पष्ट हो जायगी कवि भरद्वाज के रूप का वर्णन करता है—

प्रशयित रज राजैं हर्ष वर्षा समै से
विरल जटन शाखी स्वर्नदी कूल कैसे
जगमग दरशाई सूर के अंशु ऐसे
सुरग नरक हंता नाम श्रीराम कैसे

(१) प्रशयित = संस्कृत।

रज = रजोगुण, धूल (भरद्वाज वर्षा के हर्षमय समय के समान हैं। जब धूल नहीं रहती है)

राजैं = बिराजते हैं

हर्ष = हर्षित, हर्षमय (उनके मन में रजोगुण प्रशायित है)

से = जैसे

(२) शाखी = वृक्ष (वह गंगा किनारे के ऐसे वृद्ध वृक्षों की तरह हैं जिनकी जड़ें प्रकट हो गई हैं)

स्वर्नदी = स्वर्ग नदी = गंगा (भरद्वाज की जटाएँ भी प्रकट हैं)

(३) जगमग दरशाई = प्रकाशवान, दिखलाई पड़ते हैं। (सूर्य की किरण की तरह हैं, दीप्त हैं या जग-मार्ग दिखाते हैं)

(४) सुरग = स्वर्ग का ठेठ

सुरग नरक हन्ता = स्वर्ग नरक का नाश कर मोक्ष देने वाले (श्रीराम नाम जो मोक्ष की प्राप्ति कराता है)

(५) नाम श्रीराम = श्रीराम नाम

यहाँ भाषा-विनिमय विचित्रताओं के साथ कवि का वैचित्र्य भी स्पष्ट है जैसे श्लेष का प्रयोग (जटन=जड़े, जटा) रज (धूल, रजोगुण); दूर की सूझ (विरल जटन शाखी स्वर्नदी कूल) और क्लिष्ट कल्पना=सुरग नरक हंता। जहाँ ये तीनों बातें मिल गईं और अभिव्यक्ति असम्पूर्ण है वहाँ केशव का काव्यकूट ही समझिए। ऐसे स्थलों पर पाठक की बुद्धि की बड़ी परीक्षा हो जाती है।

सुग्रीव राम को सीता का पट देते हैं—

पंजर कै खजरीट नैनन को केशोदास कैधौं मीन मानस को जलु है कि जारु है। अंग को कि अंगराग गेंडुवा कि गलसुई किधौं कोट जीव ही को उर को कि हारु है॥ बधन हमारो कामकेलि को कि ताड़िबे को ताजनो विचार को कि व्यजन विचारु है। मान की जमनिका कै कजमुख मूंदिवे को सीताजू को उत्तरीय सब सुख सारु है॥

भाषा-विषयक परिस्थिति—

(१) फारसी का शब्द ताजनो (ताजियाना)=कोड़ा
(२) गेंडुवा=खास बुन्देली शब्द=तकिया
(३) गलसुई=" " =गले के नीचे लगाने का छोटा गोल और मुलायम तकिया
(४) जमनिका=सं० यवनिका
(५) जारु, हारु, विचारु, सारु, यहाँ जारु=जाल
(६) उत्तरीय सं०=ओढ़नी

कल्पना और व्यंजना—

(१) क्या यह मेरे खंजन रूपी नेत्रों के लिए पिंजड़ा है अर्थात् जब यह सीताजी के बदन पर रहता था तो नयन इसी में उलझ जाते थे।

(२)मन रूपी मछली के लिए जाल है या मेरा मन इसी के सहारे जीवित है।

(३) मायाजाल है अर्थात् मेरे मन को फाँस लेता है।

(४) इसके अंग से लगते ही ऐसे शीतल हो जाता है जैसे अंगराग का लेप कर लिया है।

(५) सुख प्रदान करता है जैसे तकिया गलसुई है।

(६) प्राण-रक्षक जीवित रहो।

(७) हृदय के लिए शोभाप्रद हार है।

(८) जब मैं कामकेलि करता था तो यह हाथों का बंधन हो जाता था।

(९) यह काम-विचारोत्तेजक है, जैसे कोड़ा है या व्यजन (पखा)।

(१०) मान के समय सीता इसी से कमल-मुख मूँदती थी।

इस तरह यह स्पष्ट है कि भाषा से अधिक कठिनाई क्लिष्ट कल्पना की है—साधारण पाठक की कल्पना इतनी उदात्त नहीं होती। इस कल्पना का आधार रीतिशास्त्र विषयक ज्ञान है, अतः पाठक को रीतिकाव्य की रूढ़ियों को जानना भी अपेक्षित हो जाता है, जैसे 'अंग को कि अंगराग' में अंदर की शीतलता अपेक्षित है, 'ताड़िवे को ताजनो विचारि को' में उसकी कामोद्रेकता।

क्लिष्ट कल्पना का एक उदाहरण है लक्ष्मण पम्पासर से कहते हैं कि तुम कमलाकर हो (कमलों की खान, कमला के घर)। राम कमलापति (लक्ष्मी के पति, विष्णु) हैं, अतः यह तुम्हारे दामाद हुए, तुम ससुर, इससे इन्हें दुख न दो (दुख देत तड़ाग तुम्हें न बनै कमलाकर ह्वै कमलापति को)। इसमें सारी क्लिष्ट कल्पना "कमलाकर" और "कमलापति" पर खड़ी की गई है।

केशव कमल की छतरी के ऊपर भौंरे को देखते हैं तो एक असाधारण उपमा ही उन्हें सूझती है—

सुन्दर सेत सरोरुह में करहाटक हाटक की द्युति कोहै
तापर भौंर भलो मनरोचन लोक विलोचन की रुचि रोहै
देखि दई उपमा जलदेविन दीरघ देवन के मन मोहै
केशव केशवराय मनो कमलासन के सिर ऊपर सोहै

(जैसे कमलासन = ब्रह्मा; श्वेतपँखुड़ियों के बीच में छतरी है जिस पर भौंरा बैठा है—केशवराय = विष्णु = नीलाम्बर विष्णु ब्रह्मा के सिर पर विराजमान हैं) इस प्रकार की उपमा स्पष्टतया उत्प्रेक्षा मात्र है—भला विष्णु ब्रह्मा के सिर पर क्यों बैठें, और बैठें ही, तो कौन सुन्दर बात होगी। भाषा का ऊबड़-खाबड़पन एक दूसरी कठिनाई पैदा करता है। दीरघ देवन = बड़े-बड़े देव।

लोक विलोचन की रुचि रोहै = लोक-नेत्रों की रुचि पर चढ़ जाता है—दर्शकों को अच्छा मालूम होता है। रोहै = आरोहै (आरोहण करता है)।

केशव का काव्य पांडित्य-जन्य है। उसको समझने के लिए सस्कृत पंडित का ज्ञान चाहिए। राम करुणा (करुणा नामक पुष्प वृक्ष) से याचना करते हैं—

कहि केशव याचक के अरि चम्पक शोक अशोक भये हरिकै
लखि केतक केतकि जाति गुलाब ते तीक्ष्ण जानि तजे डरिकै
सुनि साधु तुम्हें हम बूझन आए रहे मन मौन कहा धरिकै
सिय को कछु सोधु कहौ करुणामय हे करुणा! करुणा करिकै

शोक अशोक भये हरि कै = अशोक शब्द का अर्थ है, जिसे शोक नहीं, अतः अशोक को दूसरे के शोक का क्या अनुभव होगा?

यहाँ करुणामय, करुण तो "करुणा" वृक्ष के शब्द से ही कल्पित है। याचक के अरि चम्पक = काव्य-प्रसिद्धि है कि मधु-याचक भ्रमर चम्पक पर नहीं बैठता।

केतक=केवड़ा, तीनों में काँटे होते हैं अतः कल्पना
केतकि=केतकी की कि यह सब तीक्ष्ण स्वभाव
जाति=जायफल के हैं, इससे पूछते डरते हैं

यह सब बुद्धि का चमत्कार भले ही हो, रसात्मक काव्य (कविता) नहीं है।

सुगंध को केशव कहेंगे सौगंध तो भला कौन अर्थ लगा सकेगा (गोदावरी वर्णन), कंजज (ब्रह्मा), हरिमंदिर (समुद्र, वैकुण्ठ), विषमय (जलमय), इसी प्रकार की चेष्टाएँ हैं।

सच तो यह है कि केशव का सारा काव्य शब्द-कोष पर और भाव की वक्रता पर खड़ा है। पहले का रूप है श्लेष, दूसरे का विरोधाभास। श्लेष से युक्त विरोधाभास के कितने ही उदाहरण पग-पग पर मिलेंगे। गोदावरी अंग को ही लीजिए। कहते हैं—

निपट पतिव्रत धरणी (यहाँ पतिव्रत-धारण का अर्थ है समुद्र विमुख रहना) निगति सदा गति सुनिये। अगति महा-पति गुनिये (यहाँ सारी कल्पना 'गति' 'निगति' 'अगति' पर आश्रित है।) निगति=जिसकी गति नहीं (पापी), गति (मोक्ष), अगति=गतिहीनता, स्थिरता, निश्चलता। गोदावरी की यह विचित्रता है कि जिसकी गति नहीं हो सकती उसको गति देती है और अपने पति को गति-रहित रखती है (विरोधाभास)।

सं० निजेच्छया (निज इच्छा से)
सम्भोग=भोग-विलास की वस्तुएँ
सविलास=विलास-पूर्वक, भली-भाँति, सहज ही

इस प्रकार के अनेक स्वतंत्र और परंपरारहित प्रयोग केशव के काव्य को कठिन बना देते हैं। वास्तव में, अपनी भाषाशैली के कारण ही उन्हें "कठिन काव्य के प्रेत" कहा गया है।

भाषा-काठिन्य का एक कारण यह भी है कि केशव ने ब्रज-भाषा में अपनी प्रांतीय बोली बुन्देलखंडी का भी बड़ा पुट दे

दिया है—शब्द-कोष का ही नहीं, मुहावरों का भी, जिनकी आत्मा से ब्रजभाषा किंचित भी परिचित नहीं है। बाबू भगवान-दीन के अनुसार कुछ बुन्देली शब्द ये हैं—पंचम (अर्थ, बुन्देला), खारक (छोहारा), मढ़कर (कठिनता से), चोली (पान रखने की पिटारी), छीपे (छुपे), छंदी (तंग गली को कहते हैं जो एक ओर से बन्द हो), स्यों (सहित), उपदि (अपनी पसंद से), घोरिला (खूँटी), वरँगा (कड़ी), हुगई (ओमारा), गेंडुये (तकिया), गलसुई (गाल के नीचे रखने का छोटा तकिया), सुख (सहज ही) गौरमदाइन (इन्द्रधनुष)। इसके अतिरिक्त स्वयं ब्रजभाषा के अत्यंत अपरिचित शब्द नारी (समूह), ऐलौ (आड़) जैसे उनकी कविता को असाधारण बना देते हैं। विदेशी शब्द कम हैं और उन्हें तद्भव रूप में ही ग्रहण किया गया है।

भाषा के बाद शैली पर विचार करना समीचीन होगा। शैली की दृष्टि से तो अनेक दोष हम गिना सकते हैं। अपने ग्रंथों में दोनों के जितने उदाहरण गिनाये हैं, वे सब उनकी कविता में ही निकाले जा सकते हैं। उन्होंने अधिकांश स्थलों पर संस्कृत के भावों और विचारों का अनुवादमात्र किया है और समास पद्धति को विशेष रूप से अपनाने की चेष्टा की है—छंद भी छोटे-छोटे चुने हैं और यह प्रयत्न भी किया है कि इन छोटे छंद की गागर में ही सागर भर दिया जाय। इसका फल यह हुआ कि उनका बहुत बड़ा काव्य "असमर्थ" दोष से दूषित है। वे कहते हैं—

पानी पावक पवन प्रभु, ज्यौं असाधु त्यों साधु

कहना यह है कि पानी, पावक, पवन और प्रभु साधु और असाधु दोनों से समान ही व्यवहार करते हैं, परन्तु "ज्यौं असाधु त्यौं साधु" कहने से इस बात का कोई अर्थ नहीं निकलता।

इसी प्रकार कहीं-कहीं शब्दों के अप्रसिद्ध अर्थों का भी प्रयोग मिलता है जैसे—

विषमय=जलयुक्त

जीवन=पानी

ऐसे अर्थ केवल कोष के सहारे ही उपयोगी हो सकते हैं। लक्षणा और व्यंजना का तो केशव के काव्य में प्राचुर्य है, जैसा हम अन्यत्र भी कह चुके हैं। इस प्रकार केशव की काव्यशैली असाधारण तत्वों पर खड़ी की गई है; इसीसे वह प्रसाद-युक्त तुलसी की काव्यशैली की तरह जनता की वस्तु नहीं बन सकी है, न बन ही सकेगी।

६

केशव के काव्य-सिद्धांत

केशव के काव्य-सिद्धांतों का अध्ययन करने के लिए हमारे पास उनके दो ग्रंथ हैं—कविप्रिया और रसिकप्रिया। इन ग्रंथों ने हिन्दी साहित्य को विशेष रूप से प्रभावित किया है, और केशव के काव्य को समझने के लिए, वे भूमिका का काम दे सकते हैं; अत: उनका अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इस अध्याय में हम उन्हीं को अपने अध्ययन का विषय बनायेंगे।

केशव की रस-सम्बन्धी मान्यताओं के लिए रसिकप्रिया (रचनाकाल संवत् १६४८) महत्त्वपूर्ण है।

केशव के अनुसार शृंगार रस सब रसों का नायक है (१-१६)। केशव शृंगार को अपेक्षाकृत विस्तृत अर्थों में लेते हैं—रतिभाव का चातुर्य्यपूर्ण प्रकटीकरण जिसके भीतर कामशास्त्र वर्णित चातुर्य भी सम्मिलित है (१-१७)। शृङ्गार की दो जातियाँ हैं १—संयोग २—वियोग। प्रत्येक दो प्रकार का है—प्रच्छन्न और प्रकाश। प्रच्छन्न संयोग-वियोग वह है जिसे केवल प्रेमी-प्रेमिका और उनके समान ही उच्च कुल वाली सखी जानें (१-१६)। प्रकाश संयोग-वियोग वह है जिसे सब लोग जानें (१-२१)। इस प्रकार हम इस तालिका द्वारा शृङ्गार का विभाजन प्रकट कर सकते हैं—
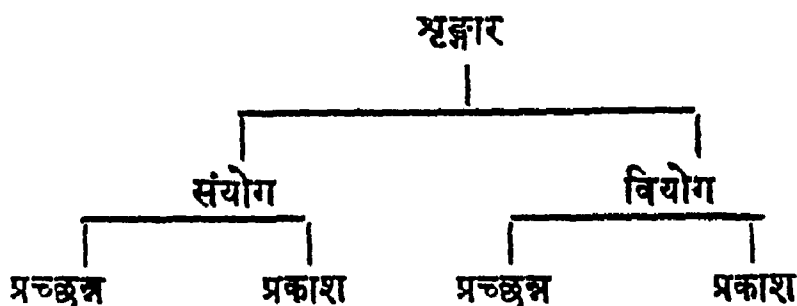
यहाँ केशव ने संयोग-वियोग को इस प्रकार विभाजित करके मौलिकता प्रकट करने की चेष्टा की है।

नायक

शृंगार के आलंबन नायक-नायिका हैं। इसके विभाग वे ही हैं जो परंपरा से चले आते हैं जैसे—अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ट। परन्तु चूंकि केशव पहले शृंगार को प्रच्छन्न और प्रकाश दो भेदों में बाँट देते हैं; इसलिए इनमें से प्रत्येक के भी दो भेद हो जाते हैं।

केशव ने नायक की परम्परागत विशेषताओं का साधारणीकरण कर दिया है। उनका नायक है—अभिमानी, अनासक्त (त्यागी), तरुण, कामशास्त्र प्रवीण, भव्य, क्षमी, सुन्दर, धनी, सभ्य (कुलीन रुचिवाला)। उसे रूप का अभिमान होगा। अनासक्त भाव से यह स्पष्ट है कि वह मधुकर-वृत्ति रखेगा। कामशास्त्र की प्रवीणता उसके लिए आवश्यक है। इस प्रकार उन्होंने एक नई श्रेणी के नायक की ही सृष्टि कर डाली है। नायक के इस रूप की प्रतिष्ठा हो जाने पर ही उस काव्य की रचना हो सकती है जो रीतिकाल का गौरव है। केशव का नायक जन-साधारण से कुछ ऊँची श्रेणी का है, परन्तु वह वात्स्यायन के नागरिक जैसा सम्पन्न भी नहीं है। धीरे-धीरे कवियों ने उसे जन-लोक में ला खड़ा किया यहाँ तक कि ग्रामीण नायक-नायकाओं को भी महत्त्वपूर्ण स्थान मिलने लगा और गँवारी-चित्रण चल पड़ा।

नायक के लिए तरुण और कामशास्त्र-प्रवीण होना ही मात्र आवश्यक अंग रह गए।

अनुकूल नायक वह है जो परनारी के प्रतिकूल हो, अपनी स्त्री से ही प्रेम करे (२-३)। दक्षिण नायक की परिभाषा में सर्वमान्य परिभाषा से अंतर है, उसका चित्त चलायमान है, परन्तु वहाँ पहली नायिका के भय के कारण ही दूसरी नायिकाओं से अधिक स्नेह नहीं चलता (२-७) केशव की मान्यता है कि वास्तव में नायक दूसरी नायिकाओं से भी सम्बन्धित है, परन्तु उसकी प्रीतिरीति पहली से इस प्रकार होती है कि वह अविश्वास नहीं करती (२-१) शठ नायक मन में कपट रखता हुआ भी मुँह से मीठी बातें करता है। दक्षिण नायक को उस नायिका से भी प्रीति है, इसे नहीं है, झूठे ही दिखाता है। उसे अपराध का भी डर नहीं है (२-१०)। धृष्ट नायक को गाली और मार खाने में भी लाज नहीं रहती (१-१४)। केशव की दक्षिण नायक की परिभाषा से यह स्पष्ट है कि वे यह मानते हैं कि एक पत्नीव्रत असंभव बात है। यह बात उस युग की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालती है, जब कुछ श्रेणियों में अनाचार इतना बढ़ गया था कि पति अपनी पत्नी से संतुष्ट न होकर वारांगनाओं और परकीयाओं के लिए आग्रहपूर्ण प्रयत्न करता था। साधारण जनता में यह कुप्रवृत्ति भले ही न हो, केशव जिस वातावरण में रह रहे थे, उसमें एकपत्नीव्रत नायक की रति असमर्थता का ही उदाहरण मानी जाती होगी।

नायिका

नायिका का विभाग कई प्रकार से है। जाति की दृष्टि से वह पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी अथवा हस्तिनी है। इनके भेद कामशास्त्र के अनुसार ही हैं, कोई विशेष अन्तर नहीं

(३३१-१२) । वास्तव में यह जाति-भेद कविता का विषय नहीं है, न इस पर अच्छी कविता ही हो सकी है; परन्तु रीतिकाव्य में कदाचित् केशव द्वारा ही इसकी रूढ़ि पड़ गई और रसग्रन्थ में इन नायिकाओं के उदाहरण और लक्षण आवश्यक हो गये। संस्कृत रस-ग्रन्थों में इनका कोई महत्त्व नहीं है।

नायक के दृष्टिकोण से नायिका के ३ भेद हैं—स्वकीया, परकीया और सामान्या। सामान्या (वारागना) का काव्य में वर्णन वर्जित है, अतः केशवदास ने उसका लक्षण और उदाहरण नहीं लिखा। स्वकीया और परकीया तक ही दृष्टि सीमित रखी। स्वकीया निज पत्नी है, परन्तु केशवदास उसकी परिभाषा दूसरी प्रकार से करते हैं—"जो मन, वच, क्रम से आराधै। सम्पत्ति, विपत्ति और मरण में नायक में ही जिसकी रति रहे।" स्पष्ट ही यह "स्वकीया" का विस्तार है। यह आवश्यक नहीं है कि वह अपनी विवाहिता हो, प्रेमिका-मात्र ही रह सकती है। परकीया के लक्षण का भी विस्तार है—"सबतैं पर परसिद्ध जो ताकी प्रिया जु होय ६७।" यही नायक "सबतैं पर" है जो भ्रमरवत् आचरण करता है। वह विवाहिता होगी, तो "ऊढ़ा", और अविवाहिता होगी तो "अनूढ़ा"।

पहले इस स्वकीया नायिका के भेदों को लेकर चलते हैं। इनका वर्गीकरण इस प्रकार है—

नवबधू मुग्धा
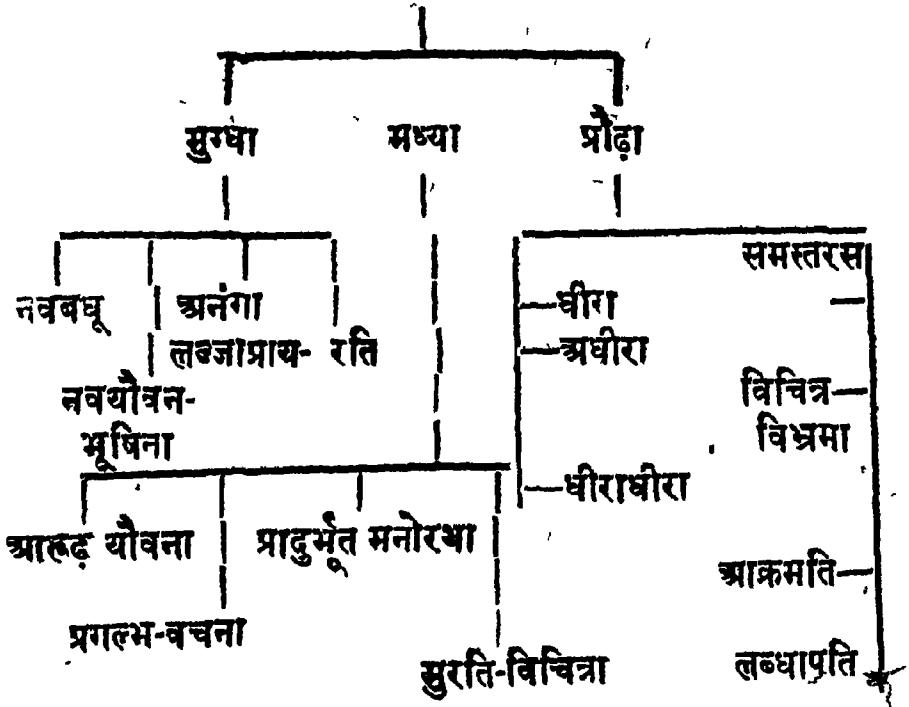
जिसकी द्युति दिन-दिन दूनी बढ़े (३-१८)।

नवयौवन-भूषिता

यौवन का प्रवेश हो और बालावस्था छूटती जाय। यहाँ नायिका वयःसंधि की अवस्था में है (३-२०)।

अनंगा

इसे सद्यःयौवना समझना चाहिए। यौवन के सब चातुर्य जाने, परन्तु करे बालिका-विधि से (३-२२)।

लज्जाप्रायरति

जो लाजयुक्त सुरति के कारण पति से बैर बढ़ावै (३-२४)। स्पष्ट है कि उपरोक्त नवबधू मुग्धा तो सामान्य नवबधू ही है।

अन्य तीन भेद रति-भाव के क्रमिक विकास की दृष्टि से गढ़े गये हैं। मुग्धा नायक के पास नहीं सोती। सखी लेकर सोती है तो सुख नहीं मिलता (६-२६)। वह सपने में भी सुख मान-कर रति नहीं करती। नायक को छलबल का प्रयोग करना पड़ता है। उसका मान साधारण भय दिखाने से ही छूट जाता है (३-२८, ३०)।

आरूढ़ यौवना मध्या

पूर्ण यौवना है (३-३३)।

प्रगल्भ-वचना

बोलने में उलाहना दे, त्रास दिखाये, शंका न करे (३-३५)।

प्रादुर्भूत मनोभवा

जो काम कलाविद हो गई हो और स्वयं कामेच्छा से भरी रहे (३-३७)।

सुरति विचित्रा

जो इस प्रकार विचित्र रति करे जिसे वर्णन करना कठिन हो, परन्तु सुनने में आनन्द हो।

यहाँ पर कवि १४ रति, १६ शृङ्गार और सुरतांत का वर्णन करता है। १६ शृङ्गार है—१ मज्जन, २ अमलवास, ३ जानक, ४ केश सँवारना, ५ अंगराग, ६ भूषण, ७ मुखवास, ८ कज्जल ६ १० मीठा बोलना, ११ हँसना, १२, १३ सुन्दर चलना, देखना, १४ पतिव्रत पालना, १५ मुखराग, १६ लोचन-विहार। चौदह रतियों में से सात रति वास्तव में वहिर्रति हैं—आलिंगन, चुम्बन, स्पर्श, मर्दन, नखदान, रददान, अधरदान। सात अंतर्रति हैं। वास्तव में ये सात आसन हैं—स्थिति, तिर्यक, सम्मुख, विमुख,

अधः, ऊर्द्ध, उत्तान। सुरतांत-सम्बन्धी एक पद देकर केशव ने काव्य में इसका प्रयोग भी समीचीन स्वीकार कर लिया है, यद्यपि, उन्होंने सुरतारंभ और सुरति को स्थान नहीं दिया है।

मध्या के ३ भेद और हैं—धीरा, अधीरा, धीराधीरा। धीरा व्यंग्य लिए कोप करती है, अधीरा टेढ़ी बात कहे, परन्तु उसमें व्यंग्य न हों, धीराधीरा व्यंग्य अव्यंग दोनों से काम लेकर उलाहना दे (३-४६)।

प्रौढ़ा के ४ भेद हैं (३-५१)।

समस्त रसकोविद

काम-रसकोविद है और रस की खान है। उससे सुख साधन की सिद्धि होती है (३-५२)

विचित्र विभ्रमा

जिसकी दीप्ति देखकर ही दूती उसे प्रिय से मिला दे (३-५४)।

अक्रामति

जो मन-वचन-क्रम से अपने प्रिय को वश में कर ले (३-५६)

लब्धापति

पति और कुल के सब मनुष्यों से कानि करे (३-५६)। प्रौढ़ा के ३ भेद और हैं—धीरा, अधीरा, धीराधीरा (३-६०)। जो आदर के बीच अनादर करे और प्रकट में हित करे, वह धीरा है। जो प्रकृति को छिपाये रखे, नायक के हँसाने पर हँसे, नायक के बुलाने से बोले, स्वयं न बोले आदि, वह आकृति गुप्ता धीरा है। पति के अपराध को गिन कर जो हित न करे वह अधीरा है और जो मुख से रूखी बात कहे, जिसके मन में प्रिय की भूख हो, वह धीराधीरा है।

परकीया के दो भेद हैं—ऊढ़ा, अनूढ़ा (विवाहिता और अविवाहिता)। इनके विलास गूढ़ और अगूढ़ हैं (३ ६६)। अनूढ़ा गूढ़ बात किसी से नहीं कहती। ऊढ़ा अंतरंग सखी से गूढ़ बात कह देती है, बहिरंग सहेली से अगूढ़ कहती है (३-७२)।

दर्शन के ४ ढङ्ग हैं—साक्षात, चित्र, स्वप्न और श्रवण। इनमें से प्रत्येक में मनोदशा का क्या सूक्ष्म अंतर हो जाता है, इसे उदाहरण से प्रकट किया गया है।

दंपति की चेष्टा

सखी बीच में होती है, उसी के द्वारा प्रणय-निवेदन चलता है (५-१)। नायिका इस प्रकार व्यवहार करती है कि प्रीति प्रकट न हो (जाना जाय कि प्रिय से प्रेम नहीं है), जब प्रियतम अन्यत्र देखने लगे, तब उसे देखे। जब यह जाने कि नायक उसे देख रहा है तो सखी से चिपट जाय। झूठे ही हँस-हँस पड़ती हो। सखी से बात करती हुई किसी बहाने प्रियतम को अपने अंग दिखलाती है। कहीं चेष्टा प्रच्छन्न होती है, कहीं प्रकाश (५—५,६,७,८) प्रेम की बढ़ी हुई अवस्था में नायिका स्वयं-दूतत्व को तैयार होती है। पत्री आदि के द्वारा स्वयं-दूतत्व करती है या उसका मानसिक संकल्प करती है। यह स्वयं-दूतत्व प्रकाश हो सकता है या प्रच्छन्न। अब नायिका प्रीति को बहुत तरह जता कर लाज तज कर प्रियतम से मिलती है (५-२०)। अनूढ़ा लाज से स्वयं तो नहीं बोलती, उसकी सखी उसकी दशा जानती है (३-३३)।

प्रथम मिलन

प्रथम मिलन-स्थान के सम्बन्ध में केशव का मत है कि निम्न-लिखित स्थान हो सकते हैं—दासी का घर, धाय का घर, सहेली का घर, सूना घर। प्रथम मिलन किसी भी समय संभव है—

परन्तु रात, विशेतः मेघाच्छन्न रात, इसके लिए विशेष उपयुक्त है। मानसिक दशा और परिस्थितियाँ भी अनेक हैं—भय, उत्सव, व्याधि का बहाना, न्यौते के मिस, बन-विहार, जल-विहार।

भाव-विलास

प्रेम की जो बात मुख, आँख, बचन से निकलती है, उसे भाव कहते हैं (६-१)। भाव पाँच प्रकार के हैं—विभाव, अनुभाव, स्थायी, सात्विक, व्यभिचारी (६-२)। जिनसे अनेक रस अनायास ही प्रगट हों, वे विभाव हैं (३)। इसके दो भेद हैं— आलंबन, उद्दीपन। परिभाषा इस प्रकार है—

> जिन्हें अतन अवलंबई, ते आलंबन आन
> जिससे दीपति होत है ते उद्दीप बखान

केशवदास ने आलंबन की सूची इस प्रकार दी है—

> दंपति जोवन रूप जाति लच्छण युत सखिगन
> कोकिल कलित बसन्त फूलि फल दलि अलि उपवन
> जलयुत जलचर अमल कमल कमला, कमलाकर
> चातक मोर सुशब्द तड़ित घन अम्बुद अंबर
> शुभ सेज दीप सौगन्ध गृह पान खान परधानि मनि
> नव नृत्य भेद वीणादि सब आलंबन केशव बरनि

उद्दीपन हैं

> अविलोकन, आलाप चार, रंमन नख रददान
> चुम्बनादि उद्दीपिये मर्दन परस प्रवान

अनुभाव

अनुभाव आलंबन-उद्दीपन के अनुकरण हैं अर्थात् भाव-अनुभाव के बाद आते हैं (६—८)।

स्थायी भाव

रति, हास्य, शोक, क्रोध, उछोह, भय, निंदा, विस्मय (६-६)।

सात्विक भाव

स्तंभ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कंप, वैवर्ण, अश्रु, प्रलाप।

व्यभिचारी भाव

ऐसे भाव हैं जो बिना नियम ही प्रकट होते हैं—ये हैं निर्वेद-ग्लानि, शंका, आलस्य, दैन्य, मोह, स्मृति, धृति, क्रीड़ा, चपलता, श्रम, मद, चिंता, क्रोध, गर्व, हर्ष, आवेग, निंदा, नींद, विवाद, जड़ता, उत्कंठा, स्वप्न, प्रबोध, विषाद, अपस्मार, मति, उग्रता, आशा, तर्क, अति व्याधि, उन्माद, मरण, भय।

हाव

शृङ्गार-चेष्टा को हाव कहते हैं (६-१५)। हाव हैं—हेला, लीला, ललित, मद, विभ्रम, विहित, विलास, किलकिंचित, विच्छित्ति, विब्बोक, मोट्टाइत, कुट्टमित, बोध।

१—हेला—लोकलाज छोड़ प्रियतम को देखे (१८)।

२—लीला—जहाँ प्रियतम प्रिया का रूप बना ले, प्रिया प्रियतम का रूप बना ले (२१)।

३—ललित—बोलना, हँसना, देखना, चलना, सब का यथार्थ (जैसे हो, ठीक वैसा ही) वर्णन ललित है (२४)।

४—मद—पूर्ण प्रेम के प्रताप से गर्व और तरुणपन जनित विकार से ही मद का रूप बनता है (२७)।

५—विभ्रम—दर्शन-सुख आदि में लगे रहने के कारण जहाँ वस्त्राभूषण उल्टे पहन लिये जायें, या अटपटा काम हो (६०)।

६- विहित—बोलने के उपयुक्त अवसर पर लाज के कारण न बोल सके (३३)।

७—विलास—खेलने, बोलने, हँसने, चितवन, चाल में जहाँ जल-थल आदि में विलास उपजे (३६)।

८—किलकिंचित—श्रम, अभिलाष, सगर्व, स्मिति, क्रोध, हर्ष, भय एक ही साथ जहाँ उपजें (३६)।

९—विव्वोक—रूप और प्रेम के गर्व से जहाँ कपट अनादर होता हो (४२)।

१०—विच्छित—भूषण पहनने से जहाँ अनादर होता है (४५)

११—मोट्टाइत—जहाँ हेला-लीला से सात्विक भाव उत्पन्न हो और उसे बुद्धि से रोकने के प्रयत्न किये जायँ, वहाँ मोट्टाइत भाव है (४८)।

१२—कुट्टमित—जहाँ केलि में कलह हो या कलह में केलि हो, कपट भाव रहे (५२)।

१३—बोध—जहाँ गूढ़ार्थ हों बोध सरल न हो, ऐसे प्रकार से मन का भाव प्रकट करना (५५)। यह एक प्रकार का कूट समझिए।

नायिका-भेद

नायिका ८ प्रकार की होती हैं—(१) स्वाधीनपतिका, (२) उत्कला (उत्कंठिता), (३) वासकशय्या, (४) अभिसंधिता (कलहांतरिता), (५) खंडिता, (६) प्रोषित प्रेयसी, (७) लब्धा-विप्रा, (८) अभिसारिका।

१—स्वाधीनपतिका—पति नायिका के गुण में बँधा रहे।

२—उत्का (उत्कला, उत्कंठिता)—किसी कारण से प्रियतम घर नहीं आया, इस शोच से शोचित हो।

३—वासकसज्जा—प्रियतम के आने की आशा से जो द्वार की ओर देखती रहे।

४—अभिसंधिता—मान मनाते समय नायक मानिनी का अपमान करे और उसे छोड़कर चला जाय, जिससे उसे वियोग का दुख हो।

५—खंडिता—प्रियतम ने आने को कहा, प्रातः आये, रात को सौत के घर रहे थे, अब बहुत तरह बात बनाते हैं।

६—प्रोषितपत्निका—जिसका प्रियतम अवधि देकर किसी कार्य निमित्त बाहर जाय।

७—विप्रलब्धा—नायक ने दूती को संकेत स्थान बताकर नायिका को लिवा लाने को कहा, भेजा। जब वह संकेत में आई तो आप नहीं मिला।

८—अभिसारिका—प्रेम की प्रबलता के कारण स्वयं जाकर मिलती है। इसके बाद स्वकीया, परकीया, सामान्या के अभिसार के भेद का वर्णन है जो महत्त्वहीन है। यह इस प्रकार है—

> अति लज्जा पग डग धरै चलत वधुन के सग
> स्वकिया को अभिसार यह भूषण भूषित अंग
> बनी सहेली शोभही बंधु वधू सग चार
> मग में देइ बराइ डग, लज्जा को अभिसार
> चकित चित्त साहस सहित नील वसनयुत गात
> कुलटा संध्या अभिसरै उत्सव तम अभिरात
> चहूँ ओर चितवै हँसै, चित चोरै सविलास
> अंगराग रंजित नितहि भूषण भूषित भास

स्वकीया के ३ भेद हैं—उत्तम, मध्यम, अधम।

(१) उत्तमा—अपमान से मान करती है और नायक के मान करते ही मान छोड़ देती है।

(२) मध्यमा—लघुदोष से ही मान करने लगती है, बहुत प्रयत्न से ही छोड़ती है।

(३) अधमा—जो बिना प्रयोजन और बारम्बार रूठे। इनके अतिरिक्त देशकाल-वय से भी नायिकाओं के अनेक भेद किये जा सकते हैं (४५)। अंत में, केशव अगम्या का भी वर्णन कर देते हैं। ये अगम्य हैं—सम्बन्धिनी, मित्र-पत्नी, ब्राह्मण-पत्नी जो पालन-पोषण करे उसकी पत्नी, अधिक ऊँची जाति की नायिका, न्यून जाति की चांडालादि जाति की नायिका, विधवा और पूजिता।

विप्रलंभ

जहाँ नायक-नायिका में वियोग है, वे एक स्थान पर न हो सकें। उसे विप्रलंभ शृंगार कहेंगे (८-१)। यह चार प्रकार का है—१—पूर्वानुराग, २—करुण, ३—मान ४—प्रवास। पूर्वानुराग की केशव की परिभाषा अस्पष्ट और असम्पूर्ण है—

देखति ही द्युति दम्पतिहि उपज परत अनुराग
बिन देखे दुख देखिये, सो पूरब-अनुराग

(८-३)

मान पूर्ण प्रेम के प्रताप से अभिमान के कारण उत्पन्न होता है। इसके ३ भेद हैं—लघु, मध्यम, गुरु। लघुमान उस समय उपजता है जब नायिका नायक को अन्य स्त्री को देखता हुआ देख लेती है या सखी से सुनती है। नायिका प्रिय का कहा नहीं करती, उससे लाज नहीं मानती। मध्यम मान में नायिका नायक को किसी अन्य स्त्री से बात करते देखती है। प्रियतम मानता हो, परन्तु हार जाये और अन्त में उसके हृदय में भी मान उत्पन्न हो जाय। गुरु मान में अन्य नारी के रमण के चिन्ह देखे या नायक को उसका नाम लेते हुए सुने। लोक-मर्यादा का उल्लङ्घन करके जहाँ नायिका प्रियतम को कुछ बात कहती है; वहाँ गरु मान नायक में

उत्पन्न होता है (प्रकाश ६)। मान-मोचन के छः ढंग हैं—साम, दाम, भेद, प्रणति, उपेक्षा, प्रसंग-विध्वंस, दंड।

(१) साम—किसी ढंग से मन मोह के मान छुड़ा दे।

(२) दाम—छल से, कुछ देकर, वचन-चातुरी से मोह कर। जहाँ लोभ से मानिनी मान छोड़ दे, उसे गणिका मानवती कहेंगे।

(३) भेद—सखी को सुख देकर अपना लेवे। तब मान छुड़ाए।

(४) प्रणति—अति प्रेम से काम-वशीभूत होकर अपना अपराध जानकर प्रियतम नायिका के पाँव पड़े। परन्तु यदि नायक ने अपराध नहीं किया हो और काम-वशीभूत भी नहीं हो, तो इस प्रकार की प्रणति से रसहानि होगी।

(५) उपेक्षा—जहाँ मान की बात छोड़ कर कुछ और प्रसंग चला दिया जाय, जिससे मान छूट जाय।

(६) प्रसग-विध्वंस—भय से नायिका के चित्त में भ्रम पड़ जाय और मान की बात भूल जाय।

केशव ने दंड को छोड़ दिया है। वह अवांछनीय है। पे सहज उपाय बताते हैं—

> देशकाल बुधि वचन तें कलरव कोयल गान
> शोभा शुभ सौगंध ते, सुख ही छूटत मान
>
> (प्रकाश, १०)

करुण—केशव की करुण-रस की परिभाषा स्पष्ट नहीं है।

प्रवास—प्रियतम किसी कार्य से परदेश चला जाय।

विरह की दस दशाएँ कही गई हैं—१—अभिलाषा, २—चिंता, ३—गुणकथन, ४—स्मृति, ५—उद्वेग, ६—प्रलाप, ७—उन्माद, ८—व्याधि, ६—जड़ता, १०—मरण।

(१) अभिलाषा—शरीर से मिलन की इच्छा

(२) चिंता—कैसे मिले, कैसे नायक वश में हो।

(३) गुणकथन—"जहँ गुणगण मणि देहि द्युतिवर्णन-वचन विशेष"

(४) स्मृति—और कुछ अच्छा न लगे, सब काम भूल जाये, मन मिलने की कामना करे।

(५) उद्वेग—जहाँ सुखदायक अनायास दुःखदायक हो जाये।

(६) प्रलाप—मन भ्रमता रहे, तन-मन में परिताप हो, परन्तु वचन प्रियपक्ष में कहे। केशव का यह लक्षण विचित्र है। वैसे शास्त्रकार अनर्गल वचन को या अनर्थक कथन को प्रलाप कहते हैं।

(७) उन्माद—कभी रोये, कभी हँसे, कभी इकटक देखे, कभी झटके से उठकर चल दे।

(८) जड़ता—जहाँ सुध-बुध भूल जाय, सुख-दुख समान माने।

(९) व्याधि—अंग-अंग विवर्ण हो जाय, ऊँची साँस ले, नेत्रों से नीर बहे, प्रलाप हो।

(१०) मरण—छलबल से भी नायक की प्राप्ति न हो, तो पूर्ण प्रेम-प्रताप से मरण को प्राप्त हो। मरण का केवल उल्लेखमात्र ही हो सकता है—"केवल निमित्त मात्र।" इसीलिए केशव ने उदाहरण नहीं दिया—

मरण सुकेशवदास पै बरन्यों जाइ निमित्त
अजर अमर तासों कहै कैसे प्रेम चरित्र

सखी

सखियाँ ये होंगी—धाय, दासी, नायन, नटी, पड़ोसिन, मालिन, सुनारी, बरहनी, शिल्पिनी, चुरिहारनी, रामजनी, संन्यासिनी, पटवा की स्त्री, नायक और नायिका इन्हें ही सखी बनाते हैं (प्रकाश, १२) सखियों के काम ये हैं—शिक्षा, विनय, मनाना,

मिलन के लिए शृङ्गार करना, उलाहना देना (प्रकाश, १३)

अन्य रस

हास्यरस—जहाँ नेत्रों में या वचन में कुछ विचित्रता लाकर मोह उत्पन्न किया गया हो। हास्यरस के भेद हैं—मंदहास, कलहास, अतिहास, परिहास।

(१) मंदहास—नेत्र, कपोल, दंश और ओष्ठ थोड़े खुलें।

(२) कलहास—जहाँ कोमल निर्मल मनमोहक विलास हो और कुछ कलध्वनि भी निकले।

(३) अतिहास—जहाँ निःशंक हँसे, आधा वचन कहकर फिर हँसे पड़े।

(४) परिहास—यह नायक-नायिका में नहीं, परिजनों में होगा जो इनकी मर्यादा छोड़ कर हँस पड़ेंगी।

करुणा—प्रिय के कष्टों को देखकर (विप्रिय कारणते) करुणरस की सृष्टि होती है।

रौद्र—क्रोध होने से चित्त उग्रता को प्राप्त होता है।

वीर—उत्साह से उत्पन्न होता है।

भयानक—जिसके देखने-सुनने से भय उपजे।

वीभत्स—जिसके देखने सुनने से तन-मन उदास हो, ऐसा निंदामय कथन आदि।

अद्भुत—जिसे देख सुनकर अचंभा हो।

समरस—सबसे मन उदास होकर एक ठौर रहे (सबसे निर्वेद, नायक या नायिका में अनुरक्ति, १४)

अनरस—विरोधी रसों के एक साथ आने पर "अनरस" हो जाता है। इसके पाँच भेद हैं—प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुःसंधान पात्रादुष्ट (१) प्रत्यनीक—जहाँ शृंगार-वीभत्स-भयानक-रौद्र-करुण मिले (विरोधी रस), (२) नीरस—जहाँ "कपट" हो, मुँह से मिले, मन में कपट रखे, (३) विरस—जहाँ शोक में

भोग अथवा भोग में शोक का वर्णन हो, (४) दुःसाधन—जहाँ एक अनुकूल हो, दूसरा प्रतिकूल, (५) पात्रादुष्ट—जहाँ बिना विचार जैसा सूझा रख दिया गया हो। जहाँ जैसा न होना चाहिये, वैसा पुष्ट करे। केशव का मत है कि निम्न रसों में वैर है—वीभत्स-भय, शृंगार-हास, अद्भुत-वीर, करुणा-रौद्र।

वृत्तियाँ

वृत्तियाँ ४ हैं—कौशिकी, भारती, आरभटी, सात्विकी। जहाँ करुणा, हास्य, शृंगार हो और सरल भाव हों वहाँ कौशिकी है। जहाँ वीर, अद्भुत, हास का वर्णन हो और शुभ अर्थ हो, वहाँ भारती वृत्ति है। जहाँ रौद्र, भयानक, वीभत्स हो, पद-पद पर यमक हो, वहाँ आरभटी है। जहाँ अद्भुत, वीर, शृङ्गार, समरस-समान हो, वहाँ सात्विकी है।

अलंकार

केशव के अलंकार सम्बन्धी सिद्धान्तों को समझने के लिए हमारे पास उनका ग्रंथ कविप्रिया है जिसमें इस विषय पर विस्तार-पूर्वक लिखा गया है। कविप्रिया पाँचवें प्रकाश के १ले छंद में ही केशव लिखते हैं—

जदपि सुजाति सुलच्छणा सुबरन सरस सुवृत्त
भूषण बिनु न बिराजई कविता वनिता मित्त

अर्थात् "यद्यपि कविता ध्वनिमय हो, सुस्पष्ट लक्षणा-युक्त हो, रसानुकूल सुन्दर वर्ण भी उसमें हों, रस की पूरी सामग्री भी उसमें हो, तथा सुन्दर छन्द में कही गई हो, पर बिना अलंकार के शोभित नहीं होती।"

स्पष्ट है कि केशव अलंकार को ही प्रथम स्थान देते हैं,

इस प्रकार ध्वनि, व्यंग्य, गुण और रस को भी आवश्यक अंग समझते हैं। वे अलंकारवादी हैं।

परन्तु केवल अलंकारवादी कहने से काम नहीं चलेगा। केशव ने 'अलंकार' के अर्थों का विस्तार किया है। उन्होंने अलंकार के दो बड़े भेद किये हैं—साधारण या सामान्य और विशेष। पहली श्रेणी केशव की मौलिक कल्पना है। साधारण परिभाषा में हम जिन्हें अलंकार मानते हैं, वे दूसरी श्रेणी में आते हैं; परन्तु केशव ने साधारण अलकार को कम महत्त्व नहीं दिया है। तीन प्रभावों में उन्हीं का वर्णन है। वे सामान्यालकार के ४ भेद करते है-- वर्णन अर्थात् रंगज्ञान, वर्ण्य अर्थात् आकारज्ञान, भूमिश्री अर्थात प्राकृतिक वस्तुओं का ज्ञान और राजश्री अर्थात् राजा सम्बन्धी वस्तुओं का ज्ञान। अलंकार के अर्थों का विस्तार करते हुए केशव ने "कविशिक्षा" सम्बन्धी शास्त्र को भी उसके अर्न्तगत रख दिया है। वास्तव में 'अलंकार' से केशव काव्य-परिपाटी में चले आते हुए प्रयोग या कविकौशल का अर्थ ले रहे हैं। उन्होने अलंकारों को भी "कविरूढ़ि" समझा है, जिनके रहस्य को जानना उतना ही आवश्यक है, जितना कविसत्य और साधारण रूप से कविशास्त्र को। केशव के काव्य के अध्ययन के लिए ये प्रभाव महत्त्वपूर्ण है, इसलिए कि इनमें उन्होंने संस्कृत की पुरानी काव्य-परम्पराओं का पालन करते हुए हिंदी में काव्य-परम्परा चलाने की चेष्टा की है और स्वयं अपनी मान्यताओं से प्रभावित हुए हैं।

'विशेषालकार' के अन्तर्गत केशव ने ३७ अलंकार रखे हैं—१ स्वाभावोक्ति, २ विभावना, ३ हेतु ४ विरोध, ५ विशेष, ६ उत्प्रेक्षा, ७ आक्षेप, ८ क्रम, ९ गणना, १० आशिन, १ प्रेमा, १२ श्लेष, १३ सूक्ष्म, १४ लेश, १५ निदर्शना, १६ ऊर्जस्वा, १७ रस, १८ अर्थान्तर-न्यास, १९ व्यतिरेक, २०अपन्हुति, २१ उक्ति, २२ व्याजस्तुति, २३

व्याजनिन्दा, २४ अमित, २५ अर्थोक्ति, २६ मुक्त, २७ समाहित, २८ सुसिद्ध, २९ प्रसिद्ध, ३० विपरीत, ३१ रूपक, ३२ दीपक, ३३ प्रहेलिका, ३४ परवृत, ३५ उपमा, ३६ यमक, ३७ चित्र। केशव ने इन्हीं को 'विशिष्टालंकार' या 'विशेषालंकार' कहा है। मुख्य अलकार यद्यपि ३७ माने गये हैं, परन्तु भेद-प्रभेद से वे अनेक हो जाते हैं, जैसे—

(१) विभावना के दो भेद (२)

(२) हेतु के तीन भेद—सभाव हेतु, अभाव हेतु और सभावाभाव हेतु (३)

(३) विरोध का एक भेद विरोधाभास है।

(४) आक्षेप के अनेक भेद हैं

काल-भेद ३—भूत प्रतिशेध, भावी प्रतिशेध, वर्तमान प्रतिशेध। प्रकार भेद ८—प्रेम, अधैर्य, धैर्य, संशय, मरण, आशिष, धर्म, उपाय, शिक्षा।

(५) श्लेष के ७ भेद हैं—अभिन्न पद, भिन्न पद, अभिन्न क्रिया-श्लेष, भिन्न क्रिया-श्लेष, विरुद्ध क्रिया-श्लेष, नियम-श्लेष, विरोधी श्लेष।

(६) अर्थान्तरन्यास के ३ भेद हैं—युक्त, अयुक्त, अयुक्त-युक्त युक्त-अयुक्त।

(७) व्यतिरेक के २ भेद हैं—युक्ति, सहज।

(८) उक्ति के ५ भेद हैं—वक्र, अन्य, व्यधिकरण, विशेष, सहोक्ति।

(९) रूपक के ३ भेद हैं—अद्भुत, विरुद्ध, रूपक-रूपक।

(१०) दीपक के २ भेद—मणि, माला।

(११) उपमा के २२ भेद हैं—संशय, हेतु, अभूत, अद्भुत, विक्रिय, दूषण, भूषण, मोह, नियम, गुणाधिक, अतिशय, उत्प्रेक्षित,

श्लेष, धर्म, विपरी, विर्पाय, लाक्षणिक, असभावित, विरोध, माला, परस्पर, संकीर्ण।

(१२) यमक के कई भेद हैं—आदि पद, द्वितीय पद, इत्यादि, अत्यमित, सत्यमेत इत्यादि, सुखकर (सरल), दुखकर (कठिन) इत्यादि।

(१३) चित्र के भी कई भेद हैं।

केशव के इस अलंकार-विवेचन पर उनके पांडित्य और उनकी अभिरुचि का प्रभाव है। उनकी कविता के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी प्रवृति काठिन्य, चमत्कार और पांडित्य प्रदर्शन की ओर थी। इसीलिए उन्हें यमक और श्लेष पसंद हैं। पद-पद पर पाठक से इनकी भेंट होती है। उन्हें उपमा भी प्रिय है। अतः उन्होंने श्लेष-यमक और उपमा के कई-कई भेद किए और पांडित्य-चमत्कार की ओर अभिरुचि होने के कारण एक पूरा प्रभाव चित्रालंकार पर लिख डाला। यह चित्रालंकार 'चित्र-काव्य' ही है।

दूसरी बात जो स्पष्ट होती है वह है उनकी अवैज्ञानिकता और उनका अलंकार-प्रेम। प्राकृति कवि की दृष्टि रस पर होती है, अलकार पर नहीं, केशव अलंकारवादी हैं। उन्होंने 'रस' को भी अलंकार मान लिया है और उसे "रसवत्" नाम दिया है। रस-वर्णन की शैली नहीं है, न उसमें अभिव्यंजना का चमत्कार है। बुद्धि को नहीं छूता, हृदय को छूता है। अतः वह किसी भी तरह अलंकार नहीं होगा।

रसमय होय सुजानिये रसवत केशवदास
नवरस कौ संक्षेप ही समुझौ करत प्रकास

(११ वाँ प्रभाव)

यह लिखकर उन्होंने प्रत्येक रस का एक रसवत् अलंकार गढ़

वाला है। वास्तव में रस-निरूपण अलंकार के अंदर नहीं आता। कुछ लोग, जहाँ कोई रस अन्य रस का अङ्गीवत होकर आवे, उसका पोषण करे या उसकी शोभा बढ़ाये, वहाँ रसवत् अलंकार मानते हैं, परन्तु केशव इनसे भी कई कदम आगे हैं। रसवत् अलंकार के उदाहरण रस के उदाहरण मात्र हैं। इस 'रसवत्' अलंकार की उद्भावना से केशव एकदम अलंकारवादियों की श्रेणी में आ जाते हैं।

तीसरी बात यह है कि केशव के कितने ही अलंकार वास्तव में "अलंकार" परिभाषा के अंदर नहीं आते।

(१) स्वभावोक्ति कोई अलंकार नहीं है।

(२) केशव के 'क्रम' अलंकार की परिभाषा स्पष्ट नहीं है। वह शृंखला या एकावली है।

(३) 'गणना' कोई अलंकार नहीं है—उससे काव्य-तथ्यों या मान्यताओं का ही निरूपण होता है।

(४) 'आशिष' व्यर्थ की ठूँस है।

(५) इसी तरह 'प्रेमालंकार'।

(६) 'प्रहेलिका' अलंकार केशव की सूझ है, यह 'चित्रालंकार' के अन्दर आ सकता था। 'सूक्ष्मालंकार' और 'लेशालंकार' भी नवीन उद्भावनाएँ हैं। इनमें 'प्रेमकूट' कहे गए हैं।

(७) 'ऊर्ज्व' अलंकार भी वास्तव में कोई अलंकार नहीं है।

कविप्रिया अलंकार-ग्रन्थ है। परन्तु केशव ने अलंकार शब्द को विस्तृत अर्थ में लिया है। उन्होंने अलंकार के भेद यों किए हैं—
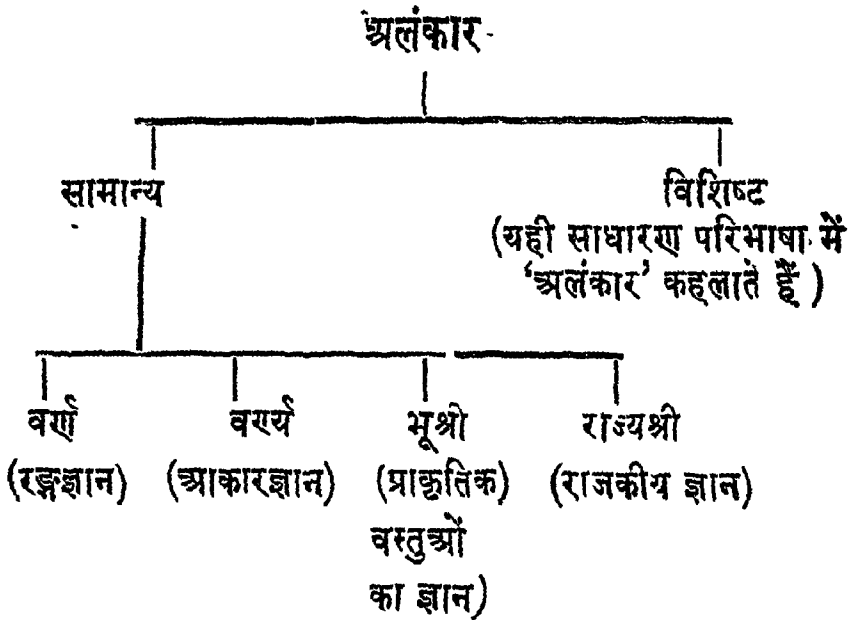
सामान्य अलङ्कार में कवि शिक्षा की अनेक बातें आ गई हैं, परन्तु उनसे भाषा-शैली अथवा काव्य गुणों का कोई सम्बन्ध नहीं। उनके द्वारा काव्य-रूढ़ि आदि का ही ज्ञान प्राप्त होता है। वर्णालङ्कार में यह बतलाया गया है कि विशिष्ट-विशिष्ट रङ्ग किन-किन वस्तुओं के विशेषण अथवा प्रतीक हैं, जैसे श्वेत यश का रङ्ग है। भूश्री अलंकार में बताया है कि महाकाव्यांतर्गत वर्णित प्राकृतिक वस्तुओं के वर्णन में क्या-क्या बातें हैं—देश, नगर, बन, नदी, आश्रम, सरिता, ताल, सूर्योदय, सागर, षटूऋतु। राज्यश्री अलङ्कार के अन्तर्गत राज एवं राजा सम्बन्धी अनेक बातों का ज्ञान अपेक्षित हैं—(१) राजा, राजपत्नी, राजकुमार, पुरोहित, दलपति. दूत, मंत्री (२) हय, गज, (३) मंत्र, पयान, सग्राम, आखेट, जलकेलि, (४) स्वयंवर, विरह, मान, करुण विरह, प्रवास विरह, पूर्वानुराग, सुरति। इस प्रसंग से सामयिक राज-जीवन पर प्रभाव पड़ता है। मध्ययुग के अधिकांश कवि राजाओं के आश्रित थे, अतः राजश्री उनका प्रिय विषय है। ऊपर स्पष्ट है कि "राजश्री" में प्रमुखता विलास एवं प्रेम को मिली है

जिनमें शृंगार के सभी अंग हैं—संयोग और वियोग के सभी अङ्ग हैं। राजाओं का अधिकांश जीवन इन्ही प्रेमचक्रों में बीतता था, जो समय बचता उसके लिए जल-केलि, आखेट आदि आमोद-प्रमोद थे। थोड़ी बहुत संग्राम की परम्परा भी थी। हय-गज-युद्ध प्रमुखता प्राप्त किये थे। इनका वर्णन चल पड़ा था। वास्तव में अधिकांश काव्य "यशगीत" मात्र था। 'राजश्री' अलङ्कार के अंगों को स्पष्ट करते हुए केशवदास ने अधिकांश उदाहरण राजा राम के बहाने लिखे हैं। यही बाद को "रामचन्द्रिका" में स्थान पा गये।

इस अलङ्कार-विवेचन के अतिरिक्त काव्योपयोगी अन्य ज्ञान का भी समावेश है, जैसे काव्य-दोष, कवि की परिभाषा एवं विशेषता और कवि-भेद एवं कवि-रूढ़ियाँ। केशव के अनुसार कवि तीन प्रकार के हैं (१) उत्तम (हरिरसलीन), (२) मध्यम (जो मानव-चरित वर्णन करते हैं—'प्राकृत जन-गुनगान' (तुलसी) (३) अधम (जो लोगों को प्रसन्न करने के लिए परनिंदात्मक कविता या भडौएँ आदि लिखते हैं)। कवि या तो सच बात को झूठ बनाकर बोलते हैं या झूठ बात को सत्य बना कर कहते हैं या कुछ बातों का नियमबद्ध वर्णन करते हैं। अन्तिम काम आचार्य कवियों का है। यह कवि-नियम या कविरूढ़ि की स्वीकृति है जिसका वर्णन सामान्यालंकार के अन्तर्गत किया गया है, जैसे स्त्रियों के अनेक शृंगार होने पर भी केवल १६ शृङ्गार ही कहे जाते हैं; ज्ञान को उज्ज्वल मानना, क्रोध को लाल।

दोष

केशव ने अनेक नवीन दोषों की भी सृष्टि की है, और उनके उदाहरण भी दिये हैं। उन्होंने निम्नलिखित काव्य-दोष माने हैं—अन्ध, वधिर, पंगु, नग्न, मृतक, अगण, हीनरस, यतिभङ्ग, व्यर्थ, अयथार्थ हीनक्रम, कर्णकटु, पुनरुक्ति, देवविरोध,

कालविरोध, लोक-विरोध, आगम (शास्त्र-विरोध), रसदोष। इनमें से रसदोष का विस्तृत विवेचन रसिकप्रिया १६वें प्रकाश में हुआ है।

केशव के इन आचार्यत्व-प्रधान ग्रन्थों की अभी विस्तृत विवेचना नहीं हुई है; परन्तु फिर भी विद्वानों ने जो कुछ कहा है उसमें बहुत सार है—"आचार्य में जिन गुणों का होना आवश्यक था, वे सब केशव में वर्तमान थे। वे संस्कृत के भारी पण्डित थे, साहित्यशास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे, विद्वान थे, प्रतिभा-सम्पन्न थे और इन्द्रजीतसिंह के मुसाहिब, मंत्री और राजगुरु होने के कारण ऐसे स्थान पर थे, जहाँ से वे लोगों में अपने लिए आदर-बुद्धि उत्पन्न कर सकते और अपने प्रभाव को बहुत गुरु बना सकते। केशव की छः पुस्तकों में से रामालकृत-मञ्जरी, कविप्रिया और रसिकप्रिया साहित्यशास्त्र से सम्बन्ध रखती हैं। रामालंकृत-मञ्जरी पिंगल पर लिखी गई है, कविप्रिया अलकार ग्रंथ है और रसिकप्रिया में रस, नायिकाभेद, वृत्ति आदि पर विचार किया गया है। रामालंकृत-मञ्जरी अभी छपी नही है। कहते है, उसकी एक हस्तलिखित प्रति ओरछा दरबार के पुस्तकालय में है।"

"केशव ने कवि-शिक्षा का विषय कोटकाँगड़ा के राजा माणिक्य-चंद्र के आश्रय में रहनेवाले केशव मिश्र के अलंकारशेखर नामक ग्रन्थ के वर्णकरत्न (अध्याय) से लिया। अलंकारशेखर कविप्रिया के कोई ३० वर्ष पहले लिखा गया होगा। इसके वर्णकरत्न में केशव मिश्र ने उन विषयों का वर्णन किया है जिन पर कविता की जानी चाहिये, यथा भिन्न भिन्न रङ्ग, नदी, नगर, सूर्योदय, राजाओं की चर्चा आदि। केशवदास ने इन विषयों को वर्णालंकार और वर्ण्यालंकार दो भागों में बाँटा है। वर्णालकार के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न रंग लिये गए हैं और शेष वर्णनीय विषय वर्ण्यालंकार में है। अलंकार शब्द का यह

विलक्षण प्रयोग है। शास्त्रीय शब्द अलंकार के लिए केशवदास ने विशेषालंकार शब्द का व्यवहार किया है। इस प्रकार केशव ने अलंकार का अर्थ विस्तृत कर दिया जिसके वर्णालंकार, वर्ण्यालंकार और विशेषालंकार तीन भेद हो गये। विशेषालंकारों अर्थात काव्यालंकारों के विषय में केशवदास ने विशेषकर दंडी का अनुसरण किया है। अध्याय के अध्याय काव्यप्रकाश से लिए गए हैं। कहीं-कहीं राजानक रुय्यक से भी सामग्री ली है। विषय प्रतिपादन के साधारण ढंग को सामयिक परम्परा से प्राप्त करने पर भी प्रधान अंगों पर बहुत पुराने आचार्यों का आश्रय लेने का फल यह हुआ कि रस की मिठास का मूल अलंकारों की झनझनाहट के सामने कुछ न रह गया। साहित्यशास्त्र के साम्राज्य में रस को पदच्युत होकर अलंकार की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी और रसवत् अलंकार के रूप में उसका छत्रवाहक होना पड़ा। पुराने रीतिवादी आचार्य इतनी दूर तक नहीं गये थे। वे रसवत् अलंकार नहीं मानते थे। केशव की व्यवस्था के अनुसार जहाँ कहीं रसमय वर्णन हो वहीं रसवत् अलंकार हो जाता है। सूक्ष्म भेद-विधान की ओर केशव ने बहुत रुचि दिखलाई है। उन्होंने उपमा के २२ और श्लेष के १३ भेद बताए हैं। केवल संख्या वृत्ति के उद्देश्य से भी कुछ अलंकार ऐसे रखे गये हैं जिन्हें शास्त्रीय अर्थ में अलंकार नहीं कह सकते, जैसे प्रेमालंकार और अर्थालंकार। जहाँ प्रेम का वर्णन हो, वहाँ प्रेमालंकार और जहाँ और सहायकों के कम हो जाने पर भी अलंकार बना रहे वहाँ ऊर्ज्वलंकार। प्रेम के वर्णन से काव्य की शोभा बढ़ सकती है, पर वह अलंकार नहीं हो सकता। × × × रसिकप्रिया में रस, नायिकाभेद, वृत्ति आदि विषयों का परम्पराबद्ध वर्णन किया गया है। भेदोपभेद-विधान की तत्परता उसमें भी अधिक दिखलाई गई है। नायिकाओं

का (पद्मिनी, चित्रिणी आदि) जाति निर्णय भी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत तो लिया गया है, यद्यपि उसका काव्यशास्त्र से सम्बन्ध है।" (डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल—आचार्य कवि केशवदास, लेख)

रसिकप्रिया के आधार रसमंजरी, नाट्य-शास्त्र और काम-सूत्र ग्रन्थ हैं। इस ग्रन्थ में भी केशव ने मौलिकता का आग्रह प्रकट किया है

(१) उन्होंने सर्वप्रथम शृङ्गार से रसराजत्व को स्थापित किया है।

(२) उन्होंने शृंगार के दो भेद किए—प्रच्छन्न और प्रकाश। ऐसा करने के कारण उन्हें सारे नायिकाभेद के दो रूप गढ़ने पड़े— प्रच्छन्न और प्रकाश। हो सकता है, केशव ने इसे कोई विशेष महत्त्व की चीज समझा हो, परन्तु वास्तव में "प्रच्छन्न संयोग" वियोग-काव्य की वस्तु नहीं हो सकता है, उसमें रस का पूरा-पूरा परिपाक ही दिखलाया जा सकता है।

(३) उन्होने नायिकाभेद का विशेष विस्तार किया जो अवांछनीय था, जिसकी कोई भित्ति ही न थी, और उसमें काम-शास्त्र की पद्मिनी, चित्रिणी आदि नायिकाओं के जाति-भेद और तत्सम्बन्धी अनेक बातें जोड़ दीं। विपरीत आदि अनेक गर्हित और गोप्य कामशास्त्र सम्बन्धी प्रकरणों का काव्य में प्रयोग तो सूरदास प्रभृति महानुभावों ने किया; परन्तु केशव ने उसे शास्त्रीय बल देकर स्पष्टरूप से काव्य का विषय स्वीकार किया। ऐसा करने से उन्होंने उस अश्लील काव्य के स्रोत का प्रवाह खोल दिया जिसके कारण रीतिकाव्य लांछित है।

(४) उन्होंने शृंगार के रसराजत्व की स्थापना के बहाने प्रेम जैसे दैवी भाव को कलुषित कर दिया। प्रेम में रौद्र और वीभत्स

रस दिखलाने की पहली चेष्टा केशवदास की है; परन्तु बाद में भी उनके अनुकरण में ऐसे पद बने, जो रस के विरूपावस्था के उदाहरण हैं और कवियों की मानसिक विकृति को ही प्रकट करते हैं। फिर "शृंगार के उपादानों का—विभाव, अनुभाव, सञ्चारिओं का सूचक, तार्किक तथा शास्त्रीय विवेचन नहीं हुआ है। रस का काव्य से क्या सम्बन्ध है, रस की निष्पत्ति विभादिकों से कैसे होती है, भावों और रसों का क्या सम्बन्ध है, रसाभास तथा भावाभास क्या है, इत्यादि विषयों को केशवदास ने छोड़ ही दिया है।" (केशव की काव्यकला—पं० कृष्णशंकर शुक्ल)

इससे स्पष्ट है कि शृङ्गार रस के विवेचन में ही केशव ने पूर्ण रूप से पूर्ववर्ती शास्त्रों का सहारा नहीं लिया; परन्तु वे स्वयं भी आलोचन-विवेचन का कोई स्तुत्य उदाहरण पीछे न छोड़ सके। उनकी मौलिकता की भित्ति कमजोर है। केशव ने रस को 'रसवत्' अलंकार माना है, इससे धारणा होता है कि कदाचित् 'रस' से उन्हें अधिक सहानुभूति नहीं थी। बात भी ऐसी ही थी। वे चमत्कारवादी या अलंकारवादी कवि हैं। उनके ग्रन्थों का विस्तृत एवं विचित्र अलंकार-बाहुल्य इस बात का प्रमाण है, परन्तु यदि हम यह आशा करें कि उन्होंने हिन्दी अलंकारशास्त्र का किसी विशेष पद्धति पर विकास किया, तो हमारी भूल होगी। साधारण अलंकार-ग्रन्थों में अलंकार तीन श्रेणियों में रखे जाते थे—शब्दालंकार, अर्थालंकार, मिश्रालंकार, परन्तु केशव ने इनकी भी वैज्ञानिक विवेचना न केवल समाप्त कर दी, वरन् उन्होंने सभी अलंकारों को एक में मिला कर रख दिया और कितने ही मिश्रालंकारों को साधारण अलंकारों का भेद-उपभेद बना दिया। उन्होंने 'अलंकार' शब्द का भी कोई परिभाषा नहीं दी है और कुछ लोगों की राय है कि उन्होंने अलंकार अर्थ का विशेष विस्तार किया। यह

स्पष्ट है कि अलंकार शब्द का अर्थ इस तरह लिया है जिससे अनेक ऐसे विषय भी उसमें आ गये हैं जिन्हें पूर्ववर्ती आचार्यों ने अलंकार नहीं कहा। उन्होंने अलंकार के दो भेद किए हैं, सामान्य और विशिष्ट। शास्त्रीय परिभाषा में जो अलंकार कहे जाते हैं, वे विशिष्टालंकार कहे गए हैं। सामान्यालंकार में वे विषय आये हैं जो वास्तव में कविता के वर्ण्य विषय हैं और जिन्हें कविशिक्षा के अन्तर्गत रखा गया था, अलंकार के अन्दर नहीं। इस प्रकार की मौलिकता का क्या अर्थ है ? फिर सामान्यालंकार की सारी सामग्री उन्होंने संस्कृत के पूर्ववर्ती ग्रन्थों से ही ले ली है। अलंकारशेखर ग्रन्थ का तो इतना ऋण है कि अनेक लक्षण और उदाहरण उसके अनुवाद मात्र हैं, जैसे

> हिमत्येव मूर्जत्वक् चंदनं मलये परम्
> मानवा मौलिता वर्ण्या देवाशरणतः पुनः
> वर्तत चंदन मलयही, हिमगिरिही भुजपात
> बर्नत देवन चरन ते, सिरतें मानुष गात
> शैले महौषधीधातु वेशकिन्नर निर्झराः
> शृंगपादगुहारत्न वनजीवगुधु पत्यकाः
> तुंग शृंग दीरघ दरी, सिद्ध सुन्दरी धातु
> सुरनरयुत गिरि बर्निए, औषधनिर्झर पातु

इस पर चौथे प्रभाव से लेकर आठवें प्रभाव तक की सामग्री के लिए केशव दो संस्कृत ग्रंथों के पूर्णतया ऋणी हैं—केशव मिश्र की 'अलकारसंजरी' और अमर की 'काव्यकल्पलतावृत्ति'। इन ग्रथों की सारी सामग्री को एक विशेष अलकार भाग बनाकर केशव ने कौन-सी मौलिकता का परिचय दिया और उनके किस पांडित्य का पता चला, हम नहीं जानते।

विशिष्टालंकारों में भी केशव संस्कृत के ऋणी हैं—अधिकांश

सामग्री दंडी के 'काव्यदर्पण' से ली गई है और उसे कुछ परिवर्तन एवं परिवर्द्धन के साथ उपस्थित कर दिया गया है। उदाहरण भी अनेक स्थानों पर अनुवाद मात्र हैं अथवा कहीं-कहीं दन्डी के भावों का विकासमात्र उपस्थित किया है, जैसे—

अनञ्जिताऽमिल दृष्टिर्भ्रूरनावर्जिता मता
आश्रितोऽरुणश्चाय मधास्तव सुन्दरि
भृकुटी कुटिल जैसी तैसी न करेहु होहि
आँजी ऐसी अ खै केसोराम हेरि हारे हैं
काहे को सिंगार कै बिगारति है अंग आली
तेरे अंग बिना ही सिङ्गार के सिंगारे हैं

दंडी और केशव दोनों के अलंकार-भेदों की तुलना में यह स्पष्ट हो जायगा कि दंडी के भेद ठीक न समझ कर अन्य नामों से उपभेद या दूसरे भेद बना दिये गये हैं। हम केवल एक अलंकार उपमा को ही लेकर यह बात स्पष्ट करेंगे। केशव ने उपमा के २२ भेद किए हैं, दंडी ने २०। इनमें से १५ भेद तो नाम, लक्षण, उदाहरण में एक ही हैं—संशयोपमा, अद्भुतोपमा, श्लेषोपमा, निर्णयोपमा, विरोधोपमा, हेतूपमा, विक्रियापमा, मोहोपमा, अतिशयोपमा, धर्मोपमा, मालोपमा, अभूतोपमा, नियमोपमा, उत्प्रेक्षितोपमा, असंभावितोपमा। केशव के पाँच भेदों में केवल नामकरण का भेद है—परस्परोपमा (दंडी, अनन्योपमा) दूषणोपमा (निन्दोपमा), भूषणोपमा (प्रशंसोपमा), गुणाधिकोपमा (प्रतिषेधोपमा), लाक्षणिकोपमा (चटूपमा)। रह गये दो नए भेद जो दंडी में नहीं हैं—संकीर्णोपमा और विपरीतोपमा। इनका विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके मूल में साम्य-भावना है ही नहीं जो उपमा के लिए आवश्यक है, अतः ये उपमा के भेद नहीं हो सकते।

दंडी का ही सहारा लेकर केशव ने 'यमक' के भी अनेक भेद कर डाले हैं, यद्यपि यहाँ वे दंडी के पीछे रह गये हैं।
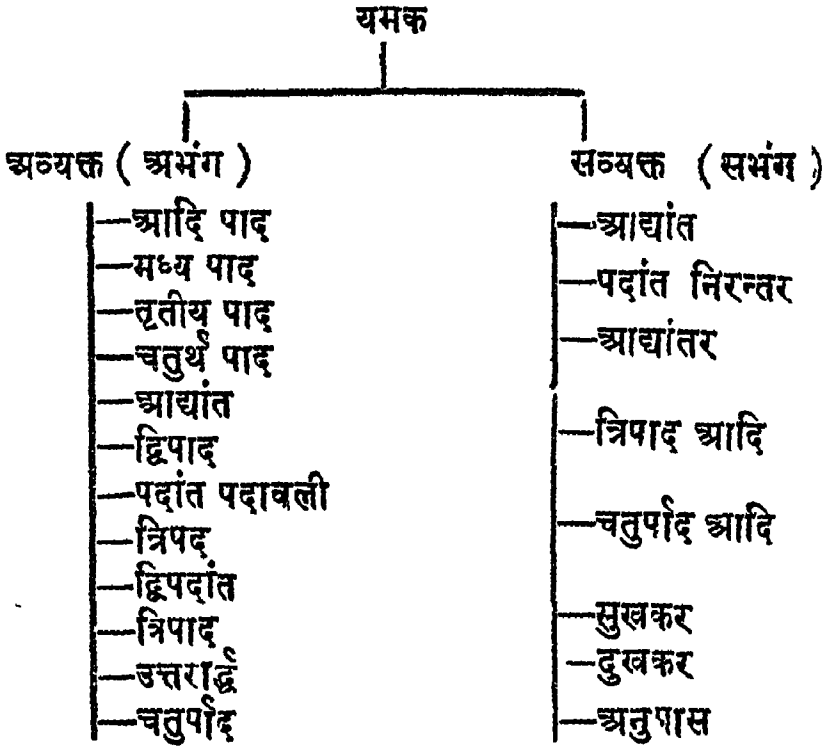
यह आश्चर्य का विषय है कि केशव ने अनुप्रास को भी यमक का ही एक भेद बना डाला है। इस प्रकार हम देखते है कि केशव में मौलिकता का आग्रह तो है; परन्तु उसे स्थापित करने के लिए न उनके पास अध्ययन है न प्रतिभा। क्या रसशास्त्र, क्या अलंकार शास्त्र, क्या कविता के वर्ण्य विषय, गुण-दोष, सभी के लिए केशव ने संस्कृत आचार्यों की नाड़ी को टटोला है और उसे न समझ कर भी "नीम हकीम" बनने की चेष्टा की है। वे संस्कृत आचार्यों के कन्धों पर बैठ कर आचार्यत्व की ऊँची गद्दी तक उठना चाहते हैं; परन्तु जो संस्कृत के रीतिशास्त्र से परिचित हैं, वे उनके इस प्रयत्न को हास्यास्पद ही समझेंगे। जो हो, स्पष्ट है कि केशव का आचार्यत्व एक बहुत बड़ा भ्रम है जिसने हिन्दी साहित्यकारों

को तीन शताब्दियों तक भुलाये रखा है। उनकी भाषा, उनकी कविता-शैली, उनकी गम्भीरता, उनका राजगुरुत्व, समकालीन और परवर्ती राजदरबारी कवियों पर उनका प्रभाव—ये बातें ऐसी हैं जिन्होंने जाने-अनजाने केशव को गुरुत्व दे दिया। यह हर्ष का विषय है कि इस गुरुत्व को स्वीकार करके ही हिन्दी रीति-ग्रन्थकारों ने उनका पीछा छोड़ दिया और अन्य संस्कृत आचार्यों को लेकर स्वतन्त्र रूप से रीतिपथ प्रदर्शित किया। फिर भी आचार्यत्व नहीं तो केशव की कविता का ही एक शक्तिशाली प्रभाव पिछले तीन सौ वर्षों के शृङ्गार-काव्य पर पड़ा है और आज भी एक सीमित वर्ग उसे रूढ़ि बना कर चल रहा है।

७

केशव का वीर-काव्य

१६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक वीर काव्य की कोई निश्चित रचना उपलब्ध नहीं है—यदि हम विद्यापति की 'कीर्तिलता' को छोड़ दें जो पंद्रहवीं शताब्दी की रचना है। १५वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में वीरकाव्य मिलने लगता है। केहरी कवि (वर्तमान १५८३ ई०) की कुछ रचना उपलब्ध है। इसके बाद तुलसी की रचनाएँ (मानस और कवितावली के सुन्दर और लंकाकांड), आती हैं। फिर केशव के तीन ग्रन्थ रतनबावनी, वीरसिंहदेव चरित और जहाँगीर जसचन्द्रिका (सं० १६५० के लगभग)। १६वीं शताब्दी और उसके बाद में दरबारों में चारणों, भाटों और प्रशस्ति-लेखकों के उपस्थित होने की परम्परा चल पड़ी। तब से हमें वीरकाव्य कई रूपों में मिलता है :

(१) प्रशस्ति काव्य जैसे छत्रसाल दशक, शिवाबावनी, मंत्र के पद, इत्यादि

(२) खण्ड काव्य जैसे गोराबादल की कथा (जटमल, सं० १६००)

(३) रासौग्रन्थ जैसे राणा रासा (दयालदास सं० १६७१-१६७६), गुणराय रासौ और रामारासौ माधवदास, सं० १६७५ के आगे पीछे।

(४) चारणों की 'वात' और 'ख्यात'

(५) हिन्दी राष्ट्रीयता एवं जातीयता के प्रेमियों के काव्य जैसे भूषण के शिवा सम्बन्धी छन्द, पृथ्वीराज और दुरसा के उद्‌बोधन और वीरगीत। औरंगजेब के शासन के अत्याचार ने

हिन्दुओं को जगा दिया और दक्षिण में शिवाजी, राजपूताने में छत्रसाल और रामसिंह, हिन्दी प्रदेश में नागा और पंजाब में सिखों ने उसका दृढ़ प्रतिरोध किया। फलस्वरूप इन सभी नेताओं के आश्रितों एवं प्रशंसकों में वीरकाव्य बना।

केशव की कविता ओरछा नरेश रामसिंह के भाई इन्द्रजीतसिंह के आश्रय में रहकर लिखी गई। जिन रतनसिंह और वीरसिंह देव को केशव ने अपना विषय बनाया, वे इन्द्रजीतसिंह के भाई थे और वीरत्व करके सद्गति को प्राप्त हुए थे। इसी प्रकार 'जहाँगीर जसचंद्रिका' भी ओरछा दरबार से उनके सम्बन्ध के अनुरोध से लिखी गई। केशव ओरछा नरेश की ओर से जहाँगीर के दरबार में भेजे गये थे जिससे वह जुर्माना माफ हो जाय, जो मुगल सम्राट् ने उन पर कर दिया था। वे इस काम में सफल हुए। कदाचित् जहाँगीर को प्रसन्न करने के लिए ही उन्होंने जहाँगीर-जसचन्द्रिका लिखी और दरबार में पेश की। इसकी कोई प्रति प्रकाशित नहीं हुई है, यद्यपि जिन लोगों ने इसे देखा है, वे बताते हैं कि यह साधारण रचना है। वास्तव में यह पुस्तक प्रशस्ति ग्रंथों की श्रेणी में ही आती है जिनमें आश्रयदाता के गुण-दोषों पर ध्यान न कर उनकी प्रशंसा को ही अपना ध्येय बनाया जाता था। अन्य दोनों ग्रंथों के नायक सचमुच वीर पुरुष थे। रतनसिंह ने १६ वर्ष की छोटी आयु में अमानुषिक वीरता दिखलाई थी। इन ग्रंथों में केशव की दृष्टि प्रशंसा पर इतनी नहीं, जितनी ऐतिहासिक तथ्यों के वर्णन और रसपरिपाक पर है। इन ग्रंथों के अतिरिक्त रामचन्द्रिका के लंकाकांड में भी हमें वीरकाव्य के दर्शन होते हैं।

रामचन्द्रिका में छन्दों के अति शीघ्र बराबर बदलते रहने के कारण रस-प्रवाह की धारा संकुचित हो गई है। उनकी शृङ्गारप्रियता और चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति से भी इस ग्रन्थ के वीर-

भाव के प्रसार में हानि हुई है। परन्तु इन्हीं प्रवृत्तियों के कारण कहीं-कहीं सुन्दर चित्र बन पड़े हैं—

भगीं देखिकै शंकि लंकेशबाला
दुरी दौरि मंदोदरी चित्रशाला
तहाँ दौरिगौ बालि को पूत फूल्यो
सबै चित्र को पुत्रिका देखि भूल्यो
गहे दौरि जाको तजै ता दिसा को
तजै जा दिशा को भजै बाम ताको
भले कै निहारी सबै चित्रसारी
लहै सुन्दरी क्यों दरी को बिहारी
तजैं देखि कै चित्र की सृष्टि धन्या
हँसी एक ताको तहीं देवकन्या
तहीं हास सों देवकन्या दिखाई
गही शंकि कै लंकरानी बताई
सु आनी गहे केश लकेश रानी
तमश्री मनो सूर शोभानि सानी
गहे बाँह ऐचैं चहूँ ओर ताको
मनो हंस लीन्हें मृणाली लता को
छुटी कंठमाला लुटैं हार टूटे
खसैं फूल फैलैं लसैं केश छूटे
फटी कंचुकी किंकिनी चारु छूटी
पुरी काम की सी मनों रुद्र लूटी
सुनी लङ्करानीन की दीन बानी
तहीं छाडि दीन्हों महामौन मानी
उठ्यो सो गदा लै यदा लंकबासी
गये भागि कै सर्व साखाविलासी

परन्तु अन्य दोनों ग्रन्थों में केशव ने वीर-कवित्व का भी सुन्दर परिचय दिया है। 'वीरसिंह देव चरित' में वीरसिंह देव महाराज ओरछा का चरित्र है। इसमें अनेक प्रसंगों के साथ अबुलफजल की मृत्यु का भी वर्णन है जिससे वीरसिंह देव लांछित हुए थे। परन्तु केशव का यह काव्य वीरसिंह के इस कृत्य के कारणों पर भी प्रकाश डालता है और उनकी निर्दोषता सिद्ध करता है। सच तो यह है कि केशव की इस रचना से सामयिक इतिहास की कुछ बड़ी भ्रांतियाँ नष्ट हो सकती हैं और कितनी ही ऐतिहासिक घटनाओं के मूल में छिपे कारणों का उद्घाटन हो सकता है। वीरसिंहदेव की रचना-पद्धति में भी केशव की मौलिकता सम्मिलित है। उन्होंने उसकी रचना दान, लोभ और विंध्यवासिनी के संवाद के रूप में की है। इस प्रकार ग्रन्थ में नाटकीयता आ गई है। केशव के दूसरे वीरकाव्य 'रतनबावनी' में कूट छंदों में मधुकर शाह के पुत्र रतनसेन की प्रशंसा की गई है जो अल्पायु में अकबर की विशाल वाहिनी से लड़ते हुए मृत्यु को प्राप्त हुए। इस ग्रन्थ में केशव चारणों की छप्पय छन्द में प्रयोग की हुई अनुस्वार और व्यंजनों के द्वित्व से पूर्ण शैली से प्रभावित हुए हैं। वीरसिंह देव के चरित्र में उन्होंने इस शैली की ओर आग्रह नहीं दिखाया है, अतः उसमें प्रसादगुण अधिक है। परन्तु मौलिकता वहाँ भी है। वह इस रूप में, कि इसमें रतनसिंह की वीरनिष्ठा को प्रकाशित करने के लिए उन्होंने विप्ररूप में भगवान की अवतारणा की है, जो रतनसिंह को जीवन का मूल्य समझाते हैं; परन्तु रतन मान और प्रतिष्ठा की मृत्यु को जीवन से श्रेष्ठतर सिद्ध करता हुआ मृत्यु की बलि वेदी पर चढ़ जाता है। दोनों ग्रंथों की शैली नीचे उद्धृत की जाती है—

रतनसेन कह बात सूर सामन्त सुनिज्जय
करहु पैज पन धारि मारि रणमंतन लिज्जिय

बरिय स्वर्ग अच्छरिय हरहु रिपु गर्व सर्व अब
जुरि कोर सङ्कर आज सूरमण्डल भेदहु सब
मधुसाह नंद इमि उच्चरह खंड खंड भिडहि करहुँ
करहुँ सुदन्त हथियान के मर्दहुँ दल मह प्रन धरहुँ
जहँ अमान पट्ठान ठान हियबान सु उट्ठिव
तहँ केशव काशी नरेश दल शेष भरिट्ठिव
जहँ तहँ पर जुरि जोर ओर चहुँ दुंदुभि बज्जिय
तहँ विकट भट सुभट छुटक घोटक तन लज्जिय
जहँ रतनसेन रण कहँ चलिव हल्लिअ महि कम्प्यो गगन
तहँ ह्वै दयाल गोपाल तब विप्र भेव बुल्लिय वचन
(रतनबावनी)

काढ़े तेग सोइ यों सेख
जनु तजु धरे धूम धुज देख
दंड धरै जनु आपुन काल
मृत्युसहित जम मनहु कराल
मारै जाहि खंड द्वै होइ
ताके सम्मुख रहै न कोइ
गाजत गज हींसत हय ठारे
बिनु सूँडनि बिनु पायन कारे
नारि कमान तीर असरार
चहुँ दिशि गोला चले अपार
परम भयानक यह रन भयौ
सेखहिं उर गोला लगि गयौ
जूझि सेख भूतल पर परै
नैकु न पग पाछै को धरै
(वीरसिंहदेव चरित)

ऊपर के अवतरण से प्रकट है कि केशव की वीर कविता पर

डिंगल काव्य का प्रभाव है, परन्तु वह मूलतः ब्रजभाषा में ही है। यह प्रभाव विशेषकर द्वित्व वर्णों और अंत्यानुप्रास में है जैसे—

सुनि रत्नदेव मधुशाह सुव पंच साथ अरि लज्जियै
कहि केशव पंचन संगरहि पंचै भजे तहँ भज्जियै

वीसल देव में हमें कवित्त का भी सुन्दर प्रयोग मिलता है—

ह्वै गयो विठान बल मुग़ल पठानिन कौ,
भभरै भदौरियाऊ संगम हिये छयौ
सुखे मुख सेखति के खस्योई खिस्यानौ खन्न,
गढ़ो गह्यो गाढ़ पाँडे रुक्यौ न इतै दयो
वीरसिंह लीनी जीति पति राजसिंह की
तुसार कैसो मार्‌यौ मरु केशोदास ह्वै गयो
हाथमय हयमय हसम हथियारमय
लोहमय, लोथिमय भूतल सबै गयो

रसोत्कर्ष के लिए कहीं-कहीं डिंगल का अनुकरण है और टवर्ग का प्रयोग है—

जहँ अमान पट्ठान ठान हिय बान कुउट्ठिव
तहँ केशव काशी नरेश दल रोस भरिट्ठिव
जहँ तहँ पर जुरि जोरि और चहुँ दुंदभि बज्जिय
तहाँ विकट भट सुभट छुटक घोटक तन लज्जिय

केशव पहले कवि हैं जिन्होंने वीरकाव्य की रचना ब्रजभाषा में की; परन्तु इस प्रकार की कविता में अत्यन्त उत्कृष्ट राजस्थानी भाषा के चारण-काव्य को सूक्ष्म दृष्टि की ओट नहीं किया जा सकता था। इसीलिए कहीं-कहीं राजस्थानी के अनेक रूप मिलते हैं और भाषा को प्रभावात्मक बना देते हैं। परन्तु शब्दों और प्रयोगों में डिंगल से भले ही कितना साम्य हो, संज्ञाशब्द, कारकों के रूप तथा क्रियाओं के रूप ब्रजभाषा के ही हैं। अतः जिस

भाषा में इन ग्रन्थों की रचना हुई है, वह ब्रजभाषा ही है। केशव के बाद तो कृत्रिम डिंगल का प्रयोग बहुत अधिक चल गया है। नीचे का अवतरण देखिये—

को अड्डुल्ल हरवल्ल को सुक्करवल्ल भटित्तह
कि गजठल्ल मजिल्ल भूप छात्तल छयल्लह
हुज्जन कोम दुहिल्ल कहा कोतिल्ल रुसिल्लह
किंतु किन्न बनि मिल्ल वेत किंपित्ति सुल्लल्लह
सादुल्लमल्ल सकल्ल से रए मल्ल जे सल्ल जिन
रावत्त मल्लसिंध रहे न को आसुर मुरित

ऊपर का अवतरण 'राजविलास' (मान) से लिया गया है। यहाँ डुलना, हरावल, ढलना, मझला, भला, अकेला आदि के रूप बदले मिलते हैं डुल्ल, हरवल्ल, टल्ल, मझिल्ल, मल्ल, सकल्ल इत्यादि। यह प्रवृत्ति ध्वन्यात्मक प्रयोग के साथ मिलकर काव्य को अत्यन्त कठिन और रसपरिपाक को कुण्ठित बना देती है। यह प्रवृत्ति कभी-कभी हास्यास्पद भी हो जाती है, जैसे—

श्रीधर दल बल प्रबल लखि लोकपाल रह लज्जि
महमह सोलह वीरजू चढ़त कटक वर सज्जि
सज्जद्दल रनरुज्ज जनघ समजज्जग्गब्बर
अंगग्गगहसि मंतग्गगननि, उतग्ग गिरिवर
रंगग्गगति सुक्कुरंगागाखन तुरंगग्गति सुर
पच्छद्दमरथिर कच्छक्करव सुलच्छ समर दुर
(श्रीधर जंगनामा)

स नँ नॅ नॅ नँ नँ नँ छुट्टियं पर जुट्टिय नहिं हुट्टियं
फ नँ नॅ नॅ नॅ नॅ नॅ तब फुट्टियं सुर हुट्टिय धुव लुट्टिय
ख नँ नॅ नॅ नँ नॅ घुट्टियं लगि बानसौं अखि भुट्टिय
घ नॅ नँ नॅ नॅ नॅ घुट्टियं भट भुट्टियं भर धुट्टियं
(सूदन : सुजानचरित)

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रजभाषा में लिखा वीरकाव्य अधिकांश डिंगल परम्परा का पालन है। उसमें राष्ट्रीयता और जातीयता की कोई भावना नहीं (भूषण के काव्य को छोड़कर)। उसका अधिकांश भाषा-प्रशस्ति मात्र है और कहीं-कहीं स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक पराजय को जय बना देता है। जहाँ इतिहास है भी, वहाँ कल्पना का इतना मिश्रण हो गया है कि इतिहास आँख की ओट हो जाता है। भाषा, भाव, विषय-निरूपण सभी में अनुकरण है। अधिकांश काव्य वर्णनात्मक है और उसमें परम्परागत छन्दों, उपमाओं आदि का प्रयोग है। युद्ध-वर्णन, सेनासज्जा वर्णन, युद्ध के बाद का रणस्थल और स्वयं युद्ध सब में रूढ़ि का आश्रय लिया गया है।

परन्तु केशव के काव्य में, विशेषकर वीरसिंहदेव चरित में, वे सब दुर्गुण नहीं हैं जो परवर्ती ब्रजभाषा वीरकाव्य की विशेषताएँ हैं। उन्होंने इतिहास में कल्पना का मेल नहीं किया है और उनके वर्णनों में मौलिकता है। 'रामचन्द्रिका' के वर्णनों में कवि की जिस सिद्धहस्त लेखनी के दर्शन हमें होते हैं, वही हमें यहाँ भी मिलती है। यह शोक का विषय है कि वीरकाव्य लेखकों की दृष्टि 'वीरसिंहदेव चरित' पर नहीं गई और केशव का शृंगारिक कवि और आचार्य का रूप ही प्रमुखता पाता रहा।

परिशिष्ट

रीति-काव्य

केशवदास उस कविता के अग्रगण्य कवि हैं जो हिन्दी साहित्य में 'रीतिकाव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि विद्वानों ने कहा है, यह नाम उस काव्य के लिए पूर्णतया उपयुक्त नहीं है जो केशव के समय से बनना शुरू हुआ और जिसकी धारा अविच्छिन्न रूप से आधुनिक काल (१८५०) तक चलती रही। परन्तु उपयुक्त न होने पर भी नाम चल पड़ा है और इसलिए उसका प्रयोग करना आवश्यक होता है। कुछ अन्य नामों की ओर भी सुझाव हुआ है जैसे कलाप्रधान काव्य, शृंगार मूलक काव्य, परन्तु कला, शृंगार रीति-ग्रन्थों का अनुकरण रीतिकाल या उत्तर मध्ययुग के काव्य (१६००—१८५०) की कविता की केवल कुछ रूढ़ियाँ थीं। अन्य रूढ़ियाँ और विशेषताएँ भी इतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं।

रीति-काव्य की मूल भावना शृङ्गार है। पुरुष-स्त्री के प्रकृत प्रेम का वर्णन, उनके यौवन-विकास, केलिविकास, हास-परिहास, संयोग-वियोग इस काव्य के विषय हैं। हम देखते हैं शृंगार की भावना ने हिन्दी के प्रारम्भिक काल में ही हमारे साहित्य में प्रवेश कर लिया था। इस भावना को हम राजपूत चारणों की वीर-कथाओं के केन्द्र में उपस्थित पाते हैं। रासो के इतने सभी युद्धों का कारण स्त्री का सौन्दर्य है, आल्हा-ऊदल का लड़ाइयों में वीर-रस पूर्वराग से ही परिचालित है, समाप्ति भी परिचय-ग्रन्थ में होती है। नरपति नाल्ह का वीसलदेव रासो तो नाममात्र को वीर-

काव्य हैं। उसमें नग्न प्रेम के वर्णन और राजमती के वियोग-चित्रण के सिवा कवि का क्या उद्देश्य हो सकता है ? उसी से वीर-कथा-काव्य मानने की परिपाटी भर पड़ गई है जो इतिहासों में चली आ रही है। इसी प्रकार हम सिद्ध कवियों की साधनाओं के पीछे रतिभाव का विकृत रूप पाते हैं। इन्द्रियजन्य विकारों को साधना का मार्ग बनाया जा रहा है।

जयदेव के काव्य 'गीतागोविन्दम्' से पहली बार कृष्ण और शृङ्गार का पूर्ण संयोग होता है, साथ ही मधुर भाव-भक्ति का जन्म होता है। उन्होंने कहा—

यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासु कुतूहलम्
मधुर कोमल कांत पदावली श्रृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्

यहाँ स्पष्ट ही कवि के तीन उद्देश्य हैं :—

१—हरिस्मरण

२—विलास-कला-कुतूहल

३—श्रुतिमधुर काव्य (मधुर कोमल कांत पदावली)। जयदेव ने अपने प्रबन्ध के सम्बन्ध में लिखा है, श्री वासुदेव रतिकेलि कथा समेतमेतं करोति जयदेव कवि प्रबन्धम्। जयदेव ने अपने प्रबन्ध-काव्य के मंगलाचरण श्लोक को ब्रह्मवैवर्त पुराण के राधा-कृष्ण के प्रथम दर्शन की कथा पर खड़ा किया है—

मेघैर्मेदुरमम्बरं बनभुवः श्यामास्तमाल द्रुमैर्नक्त भीरुरयं त्वमेव तदिदं राधे गृहं प्राप्य। इत्थं नन्दनिदेश तश्चलितयोः प्रत्यध्वकुञ्ज द्रुम राधा माधव योजयंति यमुनाकूले रहः केलयः॥

यहाँ जयदेव ने इसको स्पष्ट कर दिया है कि ये माधव (कृष्ण) परम पुरुष ही और दश अवतार इन्हीं के अवतार हैं (दशाकृति कृत कृष्णाय तुभ्यं नमः) (केशवधृत दशविध रूपं जय जगदीश हरे) यह स्पष्ट है कि गीतगोविन्दम् की रचना तक कृष्ण परब्रह्म

दशावतारी मूलपुरुष थे। भागवत में उनका गोपियों (जीवात्माओं) से केलिविलास रूपक रूप में वर्णित था। ब्रह्मवैवर्त पुराण में मूल प्रकृति राधा ने गोपियों का स्थान ले लिया। जयदेव ने इस अवतारी भाव के साथ कामकलाविद् राधाकृष्ण का भाव भी गुम्फित कर दिया। उन्होंने राधा कृष्ण के मान, दूती, अभिसार और निकुञ्जकेलि एवं रास की विस्तृत चित्रपटी तैयार की। जयदेव की कविता का प्रभाव विद्यापति पर पड़ा। उनके कृष्ण-काव्य का आधार ही रसशास्त्र है। यदि विद्यापति के कृष्ण-काव्य से राधा-कृष्ण के नाम हटा लिये जायें तो कुछ थोड़े से पदों को छोड़ कर उनके सारे साहित्य से अध्यात्म का आवरण उतर जाता है। यही बात सूफी कवियों के सम्बन्ध में पूर्णतया चरितार्थ है। कृष्ण-काव्य के इतर कवियों की मनोवृत्ति के विषय में तो कोई सन्देह नहीं। मधुर भक्ति में लौकिक प्रेम को ही ईश्वरोन्मुख किया जा रहा है। नन्ददास और रसखान इसके उदाहरण हैं। आगे चलकर मुगल-कालीन विलासिता का प्रभाव भी कृष्ण काव्य पर पड़ा और एकदम लोक-जीवन की भित्ति पर उतर आया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी के आदि काल से शृङ्गार-रस का निरूपण होता चला आ रहा है। परन्तु इस पर वीरता और अध्यात्म का आवरण है। धारा प्रच्छन्न रूप से चल रही है। बाद को अपने युग की विलासिता और संस्कृत के उत्तर कालीन काव्यों और आचार्यों के प्रभाव के कारण जल ऊपर आ गया है और धारा साफ दिखलाई पड़ती है। १६वीं शताब्दी के ५० वर्ष बीतते-बीतते उसने केशवदास जैसे कवि को जन्म दे दिया है। अब उसके अस्तित्व में सन्देह ही नहीं रहा।

शृङ्गाररस (रीति) की रचनाओं का एक दूसरा पहलू भी है। इन रचनाओं का सूत्रपात अधिकतर संस्कृत रीति-आचार्यों

के रस, अलङ्कार या ध्वनि सम्बन्धी सूत्रों को पकड़कर हुआ है अथवा इस युग के कवियों की एक विशेष प्रेरणा यह भी रही है कि वे रीतिशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ लिखें और उदाहरण में अपने ही पद (कवित्त-सवैये) रचें। इन कवियों में ऊँचा पांडित्य न था, ऊँचा अध्ययन भी न था, न मौलिक तर्कशक्ति ही थी। हाँ, कवि-प्रतिभा कम न थी। फल यह हुआ कि एक बड़ा साहित्य तैयार हो गया जिसके एक दोहे में लक्षण और कवित्त और सवैये में उसका उदाहरण रहता। उदाहरण सदैव ही लक्षण पर पूरा उतरे, यह बात भी नहीं। कभी-कभी वे और लक्षण एक ही ठहरते हैं, कभी लक्षण ही अस्पष्ट और गलत हैं, परन्तु उदाहरण सदैव उच्चकोटि के होते हैं। वास्तव में आचार्यत्व का दम भरने वाले रीतिकालीन कवि उच्च प्रतिभा-सम्पन्न कवि-मात्र थे।

इन रचनाओं की परम्परा में हमें सबसे पहले कृपाराम मिलते हैं जिन्होंने १६वीं शती के पूर्वार्द्ध में "हिततरंगिणी" की रचना की; यद्यपि पं० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल जैसे विद्वानों का अनुमान है कि यह ग्रन्थ बिहारी सतसई के बाद की रचना है (देखिये कोषोत्सव स्मारक ग्रन्थ में उनका केशवदास पर लेख)। परन्तु असल में यह परम्परा १६वीं शताब्दी के आरम्भ में ही अथवा उसके भी कुछ पहले जाती है क्योंकि कृपाराम ने अपने पूर्ववर्ती रीति-कवियों के नाम लिये हैं। इनके समसामयिक गोप कवि और मोहनलाल मिश्र के अप्राप्त ग्रन्थों रामभूषण और अलङ्कार-चन्द्रिका (गोप) और शृङ्गार-सागर (मोहनलाल मिश्र) का उल्लेख करना भी अनुचित ही होगा। इन अप्राप्य ग्रन्थों के बाद हमें केशवदास के बड़े भाई पं० बलभद्र मिश्र का "नख-शिख" सम्बन्धी ग्रन्थ मिलता है।

रीतिग्रन्थों का एक दूसरा स्रोत भी हमारे पास है—वह है

कृष्ण-भक्ति-काव्य की व्याख्या में लिखे ग्रंथ। सूरदास की साहित्य-लहरी में नायिका-भेद और अलंकार का ही निरूपण है, यद्यपि उसमें न सब नायिका ही मिलेंगी, न सब अलंकार ही। उनके शिष्य और "अष्टछाप" के कवि नन्ददास ने 'रस मंजरी' संबन्धी नायिका-भेद का ग्रंथ लिखा और उनके अन्य ग्रंथों पर भी रस-विवेचन और शृङ्गार रस सम्बन्धी प्राचीन मान्यताओं की पूरी छाप है। उसी समय अकबर के दरबार में रहीम ने "बरवै नायिका-भेद" लिखा और तुलसी के ग्रन्थों पर भी उनके रस-शास्त्र के अध्ययन की पूरी छाप है। इन सब कवियों की दृष्टि 'रस' पर ही अधिक गई थी, वे सब उच्च रसकोटि के कवि थे।

परन्तु हिन्दी काव्य-संसार में जिस रीतिकवि की ओर हमारी दृष्टि सबसे पहले जाती है, वे महान् कवि केशवदास ही हैं। रीतिकाल के कवियों में वे अग्रगण्य हैं। केशव ने 'रामचन्द्रिका' में रामकथा लिखी, परन्तु उसमें भक्तिभावना नहीं है, पांडित्य प्रकाशन ने उनकी अनेक कविताओं को ऊहापोहात्मक कर दिया है, उसमें वासना का भी गहरा पुट है। उनकी दो रचनाएँ वीर प्रशस्ति हैं—वीसलदेव चरित और रतनबावनी—परन्तु इससे वे वीर-काव्य के कवि नहीं हो जाते। हमें उनकी रचनाओं की मूल प्रवृत्ति देखनी है। वास्तव में केशवदास ने अपने समय की सभी धाराओं को बल दिया है, परन्तु वे प्रतिनिधित्व रीतिकाव्य-धारा का ही कर सके हैं। उनकी रीति सम्बन्धी दो पुस्तकें हैं—रसिकप्रिया (शृङ्गार-रस सम्बन्धी) और कविप्रिया (कविज्ञान और अलंकार सम्बन्धी) यही पुस्तकें हमारे सामने उनके प्रकृत रूप को रखती हैं। केशव भक्तिकाल और रीतिकाल की सन्धि पर खड़े हैं, इसलिए हम उन्हें भक्ति-विषयक कथानक पर लिखते भी देखते हैं (१६०१, रामचन्द्रिका), परन्तु उनके पांडित्य और उनकी रीति-कालीन प्रवृति ने भक्ति का गला घोंट दिया है। वे

मौलिकता के पीछे पड़ गये हैं। कथानक में मौलिकता है, छन्द पद-पद पर बदले हैं, अधिकांश छन्द अलंकारों के उदाहरण जान पड़ते हैं और इस सबसे प्रबन्धात्मकता ऐसे खो जाती है कि गोरखनाथी जंजाल रह जाता है। केशव की महत्ता यह है कि उन्होंने पहली बार हिन्दी साहित्य को संस्कृत साहित्य के सभी काव्यांगों का परिचय करा दिया। जैसा हम ऊपर बता चुके हैं रस और अलंकार ग्रन्थों का प्रकाशन १५४१ ई० (हिततरंगिणी, कृपाराम) से ही हो गया था, परन्तु ये प्रयत्न संस्कृत साहित्यशास्त्र से बहुत अधिक प्रभावित नहीं थे, न उस समय इस प्रकार की कोई परिपाटी खड़ी हुई, जैसा बाद में हुआ। इनमें से किसी ने काव्यों का पूरा परिचय भी नहीं कराया था। अधिकांश कवि—आचार्य रसवादी थे। केशवदास ने भामह, उद्भट और दंडी जैसे प्राचीन आचार्यों का अनुसरण किया, जो रस, रीति आदि को अलंकार मान लेते थे। उनकी प्रकृति को स्वयं चमत्कार प्रिय था और इसी से उन्होने संस्कृत साहित्य की ऐसी पुस्तकों को अपनाया जो साहित्यशास्त्र के विकास की दृष्टि से बहुत पीछे पड़ गई थीं।

कदाचित् केशव की इसी अति प्राचीनवादिता के कारण ही उनके बाद रीतिग्रंथ रचने की परिपाटी नहीं पड़ी—सब लोग उन प्राचीन ग्रंथों से परिचित भी न थे। परिपाटी आधी शताब्दी बाद चली और उसने परवर्ती आचार्यों का आश्रय लिया। अलंकार ग्रंथों का प्रणयन चन्द्रालोक और कुवलयानंद के अनुसरण में हुआ और काव्य के रूप के सम्बन्ध में रस को प्रधान मानने वाले ग्रंथों "काव्यप्रकाश" और "साहित्य-दर्पण" को आधार बनाया गया। रीतिग्रंथ-प्रणयन की यह अखंड परम्परा चिंतामणि त्रिपाठी से आरम्भ होती है जिन्होंने १६४३ ई० के लगभग काव्यविवेक, कविकुलकल्पतरु, काव्यप्रकाश ग्रंथ

लिखे और छन्दशास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी। इस परम्परा के कवि एक दोहे में लक्षण लिखते हैं और कवित्त या सवैये में उनका उदाहरण देते हैं। इस प्रकार एक दोहे में लक्षण स्पष्ट नहीं हो सकता था, न उसमें विवेचन के लिए ही स्थान था। इसके लिये गद्य ही उपयुक्त होता; परन्तु गद्य विशेष प्रयोग में नहीं आ रहा था। दूसरी बात यह है कि आचार्यत्व का ढोंग भरनेवाले इन कवियों में न इतनी विद्वत्ता थी जितनी संस्कृत कवियों में, न सूक्ष्म पर्यालोचन शक्ति। उन्होंने संस्कृत रीतिशास्त्र को किसी प्रकार आगे नहीं बढ़ाया। लक्षण-ग्रन्थ लिखना बहाना मात्र था, उद्देश्य कविता था। एक दोहे में अपर्याप्त उदाहरण लक्षण से मेल भी नहीं खाता था। कुछ अलङ्कारों के भेद न समझने के कारण भी गड़बड़ी थी और प्राय: संस्कृत और हिन्दी आचार्य-कवियों के भेद इसलिए भिन्न हो गये हैं। परन्तु विभिन्नता का कारण कोई वैज्ञानिक दृष्टिकोण नहीं था, अत: हिन्दी-साहित्य में अलङ्कारों आदि का अध्ययन विकास की दृष्टि से नहीं किया जा सकता।

रीति-काव्य के कवियों में एक दूसरा वर्ग ऐसे कवियों का था जो एकदम लक्षण ग्रन्थों की रचना करने नहीं बैठे; परन्तु साहित्यशास्त्र उन्हें भी अलक्षित रूप से प्रभावित कर रहा था। ऐसे कवियों की रचनाएँ तुलना की दृष्टि से पहले कवियों की रचनाओं से अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इस वर्ग के हम दो भाग कर सकते हैं। पहले वर्ग के कवियों (बिहारी, मतिराम आदि) पर साहित्यशास्त्र, कला और संस्कृत साहित्य का प्रभाव था, दूसरे वर्ग के कवियों में (जो उत्तरार्द्ध में आते हैं, जैसे, बोधा, घनानन्द) अनुभूति की प्रधानता भी और मौलिकता की मात्रा अधिक थी।

रीतिकाव्य की रचनाओं के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसपर संस्कृत रीतिशास्त्र का प्रभाव तो था ही, परन्तु

इससे भी अधिक संस्कृत काव्य-परम्परा का प्रभाव था। हमें उन्हीं कवि-प्रसिद्धियों और काव्य-गत रूढ़ उपमानों के दर्शन होते हैं जो संस्कृत के परवर्ती काव्य में ग्रहण हुए हैं। नायिका के अंगों के उपमानों के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है। जहाँ कहीं फ़ारसी का प्रभाव लक्षित है, वहाँ भी वह परवर्ती संस्कृत कवियों (गोवर्धनाचार्य आदि) के ढंग पर ग्रहण किया गया है। इस प्रकार इस काव्य की आत्मा संस्कृत साहित्य के परवर्ती काल से बल पाती है। वह मूलतः भारतीय है, यद्यपि वासनामूलक और ऐश्वर्यमूलक। एक प्रकार से उसमें भक्तिकाव्य के प्रति प्रतिक्रिया भी है जो रूढ़िवादी, रोमांटिक और पारलौकिक था। इसके विपरीत रीतिकाव्य नैतिक भावनाओं से हीन, क्लासिकल और गैहिक (लौकिक) था; परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि इस प्रकार की कविता से उस समय की जनता की मूल मनोवृत्ति पाई जाती है। जहाँ तक कलाप्रियता की बात है, वहाँ तक तो यह ठीक है; परन्तु "शृङ्गार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की अभिरुचि नहीं थी, आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की रुचि थी, जिनके लिए कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २६१) जिस प्रकार राजा-महाराजा और मध्य वर्ग के पंडित या कायस्थ-समाज का जीवन निश्चित परिपाटी में बँध गया था, उसी तरह यह काव्य भी परिपाटी में बँधा हुआ था।

एक प्रकार से अधिकांश काव्य नागरिक था। उसके प्रकृति-वर्णन कल्पना-मूलक और शास्त्र एवं साहित्य-प्रेरित थे। उद्दीपन की जो पद्धति ग्रहण की गई थी, उसका आधार शास्त्रीय ज्ञान रहा, स्वतन्त्र प्रकृति पर्यवेक्षण नहीं। इसके अतिरिक्त एक नई

पद्धति "बारहमासे" (बारह-महीनों में विरहिणी की दिनचर्या) लिखने की चल पड़ी जो "षटऋतु-वर्णन' का ही विकास था। हो सकता है, इसके पीछे हिन्दी लोकगीतों का भी प्रभाव हो। इसका मूल भी विप्रलंभ में था। बरवै और दोहों में कुछ कवि प्राकृत गाथाओं के लेखकों के साहित्य और उनके दृष्टिकोण को अपनाने के कारण गाँव की प्रकृति और ग्रामीण प्रेम और नायिकाओं का चित्रण हुआ जो इस सारे साहित्य में वही स्थान रखता है जो मरुभूमि मे तरुवेष्ठित जलमयी वनस्थली।

उस समय की साहित्यिक एवं सामाजिक परिस्थिति पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिये। केशव का समय संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतिहास का वह युग है जिसमें संकलन और विश्लेषण का काम जोरो पर था। प्राचीन रसमार्ग उद्भट आलंकारिकों और रीति-मार्गियों के प्रचंड आक्रमणों को सहकर भी मम्मट आदि नवीन रसमार्गियों के प्रयत्न से अपने उचित स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया था। ध्वनि-मार्ग आगे चलकर उसकी प्रतिद्वन्द्विता में प्रतिष्ठित हुआ था; परन्तु वह भी उसका पोषक बन बैठा। यद्यपि रस के वास्तविक स्वरूप के विषय में अप्पय दीक्षित और पंडितराज गगाधर के वाद-विवाद के लिए अभी स्थान था; पर फिर भी शास्त्रकारों ने यह निश्चित कर लिया था कि काव्य में सारभूत अश या वस्तु रस है और अलङ्कार, रीति और ध्वनि अपनी शक्ति के अनुसार उसके सहायक हैं, विरोधी नहीं। फलतः साहित्यकार अब विरोधी मतों से बहुत कुछ विरोधी अंश निकालकर साहित्यशास्त्र के भिन्न-भिन्न अङ्गों के सामञ्जस्य से एक पूर्ण पद्धति बना रहे थे। विश्वनाथ का साहित्यदर्पण और उसके समान ग्रन्थ इसी प्रयत्न के फल थे। केशव इन्हीं पिछले ढंग के आचार्यों में हैं। सस्कृत से चली आती हुई परम्परा को उन्होंने हिंदी में स्थान दिया। परन्तु उनके बाद

रीति-प्रवाह को विशेष विकसित करने का श्रेय चिन्तामणि, भूषण (शिवराजभूषण, १६६६-७३) और मतिराम (ललितललाम, १६६४, रसराज) को मिला।

मुसलमानों की धार्मिक भाषा तो अरबी थी, परन्तु दरबार की भाषा इस समय फारसी थी। इस भाषा का बहुत बड़ा साहित्य मुसलमानों के भारतवर्ष के प्रवेश के पहले ही बन चुका था। बहुत से हिन्दुओं ने जो दरबार से सम्बन्धित थे, यह भाषा सीखी। इस काल में उत्तर भारत में उर्दू का विकास हुआ तो वह भी फ़ारसी के नमूने पर। फारसी भाषा का कलापक्ष अब तक बहुत उन्नत हो चुका था। भावपक्ष के दृष्टिकोण से उसमें दो धाराएँ थीं :

१—सूफी प्रेम-धारा

२—लौकिक प्रेमधारा (शृङ्गार-धारा)

सूफ़ी विचारावली का प्रभाव हिंदी प्रांत की जनता और उसकी भाषा पर उस काल से पहले ही सूफी संतों द्वारा (कवियों या काव्य-पुस्तकों द्वारा नहीं) पड़ चुका था। इससे हिंदी-साहित्य में एक नवीन धारा चल पड़ी थी जिसे हमने सूफी धारा या प्रेम-मार्गी धारा कहा है। यह इस काल में भी चल रही थी। अतएव दरबार के प्रभाव से फारसी साहित्य के वाह्यरूप (कलापक्ष) की चमक हिन्दू कवियों की आँखों में चकाचौंध पैदा करने लगी। लौकिक प्रेमधारा या शृङ्गारधारा न भाव में, न कलापक्ष में ही भारतीय कवि के लिए नई चीज़ थी। इतिहास के गुप्तकाल के संस्कृत साहित्य में इस प्रकार का साहित्य विकसित हो चुका था। कलापक्ष पर अलङ्कार, रस आदि विषयक संस्कृत ग्रन्थ सामने थे। फारसी कवियों से होड़ लेने के लिए इनसे सहायता ली गई और कुछ इस कारण से, कुछ जनता के उच्च वर्गों के

विलासप्रियता से रीतिकालीन अलंकृत धारा चल पड़ी। यह धारा संस्कृत और बाद में प्राकृत में बहुत काल (सम्भवतः तांत्रिक या राजपूत काल तक) चलती रही थी और इसकी अंतिम देन गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती और शृङ्गार रस के सुभाषित थे। नये कवियों ने आचार्यों के कलापक्ष संबंधी नियम और काव्य-साहित्य दोनों को अपने सामने रखा। यह प्रभाव अकबर के समय से शुरू हुआ और उसके राजकाल (१५५६—१६०५) तक अच्छी तरह विकसित हो गया। जो कवि राज-दरबार से सम्बन्धित थे, उन पर यह प्रभाव विशेष रूप से पड़ा। यहाँ से आरंभ होकर यह प्रभाव बाहर के कवियों में फैला। अकबर के दरबार के कवि थे तानसेन (१५६०—१६१०), राजा टोडरमल (१५८३—१५८६), बीरबल (१५२८—१५८३), गंग आदि। मुग़ल राजाश्रय हिन्दी के कवियों को औरंगजेब के समय (१७०७) तक मिलता रहा। धीरे-धीरे दो राजाश्रय विकसित हो गये थे—एक तो मुसलिम प्रांतीय शासकों के दरबार, दूसरे हिन्दू राजे जिन्होंने मुगल सम्राटों की नीति से प्रोत्साहित होकर कवियों को आश्रय देना शुरू किया था। दोनों की रुचि प्रायः एक-सी ही थी, इसलिए संस्कृत में भेद होते हुए भी दोनों राजाश्रयों के काव्य में दृष्टिकोण का कोई अंतर नहीं है। औरंगजेब के समय (१६५८—१७०७) में हिन्दी रीति-कविता की अवनति हुई। १७वीं शताब्दी के अंतिम दिनों में यह बात स्पष्ट होने लगती है और १८वीं शताब्दी के मध्य तक रीतिकाव्य थोड़ी मौलिकता भी खोकर चट्टान की तरह ठोस और दृढ़ हो जाता है। कवियों की संख्या पर्याप्त रहती है परन्तु किसी का व्यक्तित्व दूसरे के व्यक्तित्व से ऊँचा नहीं है। इने-गिने विषयों पर ही पिष्टपेषण किया गया है।

इस प्रकार रीतिकाव्य का जन्म और विकास हुआ। इस

काव्य के संबन्ध में हमने जो अब तक कहा है, उसे संक्षेप में, सुस्पष्ट रूप से यों रख सकते हैं—

१—रीतिकाव्य में साहित्य-चर्चा के नाते रीति के तीन अंगों पर लिखा गया—रस, अलंकार, ध्वनि। रस की शास्त्रीय व्यवस्था सबसे प्राचीन है। यह भरतमुनि के काव्यशास्त्र में मिलती है। वास्तव में रस का प्रधान केन्द्र नायक-नायिका हैं। अलंकारशास्त्र का संबन्ध केवल भाषा से है, अतः उसका माध्यम काव्य है। भरतमुनि के नाट्य-शास्त्र में केवल कुछ अलंकारों की चर्चा प्रसंग-वश कर दी गई है; परन्तु उसका विशेष विवेचन बाद में हुआ। ध्वनि-सम्प्रदायक (प्र० आनन्दवर्द्धनाचार्य) ने दोनों को एकत्र किया। उसने कहा कि रस ध्वनित भी हो सकता है; अतः जहाँ केवल अलंकार है, वहीं रस की ध्वनि भी उत्पन्न की जा सकती है। इस व्याख्या के अनुसार फुटकल पदों में अलंकार के साथ रस का सृजन भी संभव समझा गया।

यह हम कह चुके हैं कि भावधारा के रूप में शृङ्गार रस प्रधान है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से अलंकारों को ही विशेष महत्त्व मिला है, रस को नहीं। वास्तव में रस, अलंकार और ध्वनि को एक स्थान पर एकत्रित करने की चेष्टा की गई है जो सब जगह समान रूप से सफल नहीं हुई है।

संस्कृत अलंकारशास्त्र में आचार्य व्याख्याता-होता था, कवि नहीं। वह अपने मत के समर्थन में प्रसिद्ध रचनाओं से उदाहरण उपस्थित करता था। मुक्तकों से इस प्रकार के उदाहरण उपस्थित करना सहल था, इसलिए प्राकृत और संस्कृत के सैकड़ों मुक्तक पद और श्लोक उद्धृत किये गये। यहाँ हिन्दी में एक दूसरी ही रीति चली। कवित्व और आचार्यत्व का मेल करने का प्रयत्न हुआ। ग्रंथकर्ता उदाहरण भी स्वयं गढ़ता था। रीतिकाव्य का एक बड़ा भाग लक्षणों को स्पष्ट करने के लिए लिखा गया है, परन्तु

सूक्ष्म अध्ययन करने से यह पता चलता है कि हिन्दी रीतिकाल के कवियों को रीति की शुद्धता की चिंता और अन्वेषण की प्रवृत्ति इतनी नहीं थी, जितनी किसी प्राचीन रीतिग्रंथ का सहारा लेकर स्वतंत्र रूप से लक्षण कहकर रचना करने की।

२—इस रीति-विवेचन में एक चौथी धारा कामशास्त्र की मिल गई थी। ऐसा संस्कृत काव्य में ही हो चुका था। संस्कृत के कवि प्रेम-प्रसंग में कामशास्त्र के ज्ञान का पर्याप्त परिचय देते थे। हिन्दी में प्रेम के व्यावहारिक प्रसगों में इससे सहायता ली गई।

३—नाट्यशास्त्र और रसशास्त्र से नायिका-भेद लिया गया और उसे कल्पना के बल पर बड़ी दूर तक विकसित किया गया।

४—परन्तु रीति-अंगों के अतिरिक्त संस्कृत काव्यरूढ़ियाँ, स्त्री-अंगों के लिए बँधे उपमान, कवि-प्रसिद्धियाँ, छंद सभी विषयों से रीति-काव्य पर संस्कृत-साहित्य का विशेष आभार है।

५—इसके अतिरिक्त राधाकृष्ण का प्रेम-प्रसंग और वंशी आदि के प्रसंग कृष्ण-काव्य और तत्कालीन कृष्ण-भक्ति से आ गये। केशवदास ने कृष्ण को स्पष्ट रूप से शृङ्गाररस का देवता माना है। इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि अधिकांश रीति-काव्य राधा-कृष्ण का आलंबन लेकर चलता है।

६—रीतिकाव्य में काव्य-कौशल (कला) का महत्त्व अधिक हो गया। रस, अलंकार और नायिकाभेद ही सब कुछ हो गये, भाव की मौलिकता कुछ नहीं रही। फुटकल पदों की इसीसे भरमार हो गई। सारा रीतिकाव्य मुक्तक रूप में उपस्थित है—ये मुक्तक दोहा, सवैया, कवित्त छंद में ही अधिक हैं। इनमें यमक अनुप्रास जैसे कला-प्रधान अलंकारों पर भी व्यापक दृष्टि डाली गई है।

७—जिन कवियों ने लक्षणों के उदाहरण के रूप में अपनी कविता उपस्थित नहीं की, वे भी रीति ग्रंथों से प्रभावित थे।

८—रीतिकाव्य ने संस्कृत की सारी रूढ़ियाँ नहीं अपनाईं परन्तु उसने स्वयं इस प्रकार की कुछ रूढ़ियाँ गढ़ लीं जिनसे कवि बराबर प्रभावित होते रहे। कवियों की इस अनुकरणवृत्ति का फल यह हुआ कि वह उत्तरकालीन संस्कृत आचार्यों की दुनिया में रहने लगे या उन्होंने अपनी अलग दुनिया बना ली। अलङ्कारों और नायिका-भेद के बाहर की दुनिया के उन्हें दर्शन नहीं हुए। उन्होंने अपने स्वतंत्र निरीक्षण और स्वतंत्र चिंतन की बलि कर दी। स्वतंत्र चिंतन की ही नहीं स्वतंत्र व्यक्तित्व की भी। फिर भी प्रत्येक कवित्त-सवैये के अंत में कवि अपनी छाप लगा ही देता है, जैसे उसका अपना व्यक्तित्व हो, उसका नाम भुलाया न जा सके।

९—परन्तु यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस २००-२५० वर्ष के कवियों के काव्य को क्या रस, अलंकार, नायिकाभेद के उदाहरण के रूप में ही समझा जाये? यह भूल होगी। सारे रीतिकाल में रस और अलंकारों के वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय विवेचन की प्रवृत्ति कहीं भी नहीं दीखती। उन्होंने विवेचना के लिए भी दोहे-जैसे छोटे छंद का प्रयोग किया। अतः स्पष्ट है कि विवेचना उनका ध्येय नहीं था। जिस तरह पिछले भक्त-कवि राधाकृष्ण की लीला को कविता का बहाना समझते थे, उस तरह इस युग के कवि लक्षणों को बहाना-मात्र समझते थे। सच तो यह है कि उन्हें एक अच्छा सहारा हाथ लग गया था। इसी से वे अपने उदाहरणों में अधिक सतर्क भी नहीं जान पड़ते। इसी से कहीं-कहीं उन्हें जब यह जान पड़ता है कि उनका उदाहरण उस अलंकार में नहीं आता जिसके उदाहरण-स्वरूप वह उपस्थित किया गया है तो वे एक नया अलंकार-भेद गढ़ लेते हैं।

१०—उन कवियों ने लोकजीवन को अधिक निकट से देखा। विशेषकर जहाँ तक शृङ्गार का सम्बन्ध है। परन्तु उन्होंने

बहुधा उसे राधाकृष्ण की प्रेमलीला के रूप में ही हमारे सामने रखा। वास्तव में अलौकिक शृङ्गार की लौकिक प्रतिष्ठा भक्तों ने ही कर दी थी। कृष्ण, गोपियों—राधा की प्रेम-विरह और अभिसार कथाएँ लोकजीवन के प्रेम-विरह और अभिसार से मिल गई थीं। रीतिकाल में भक्ति की तन्मयता कम रही, काव्य और कला का पक्ष अधिक दृढ़ होने के कारण उसका रूप ही बदलकर सामने आया। भक्तों की कृपा से लौकिक जीवन में अलौकिक और अलौकिक जीवन में लौकिक देखने लगे थे। शृङ्गार के समुद्र में कहीं-कहीं इनके भक्तहृदय की झलक भी इसमें मिल जाती है, तो हम आश्चर्य करते हैं, परन्तु यह आश्चर्य की बात नहीं। सच तो यह है कि रीतिकवियों ने काव्यपक्ष में शास्त्रीय परम्परा (रस, अलङ्कार) का नेतृत्व स्वीकार कर लिया था। परन्तु भावपक्ष में वे लोकजीवन और कृष्णचरित को ही लेकर चल रहे थे।

धीरे-धीरे काव्य व्यवसाय हो गया। जनरुचि बिगड़ने लगी। राजाश्रय पहले ही बिगड़ा हुआ था। बिहारी के शब्दों में—

अली कली ही सों बिंध्यो आगे कौन हवाल!

ऐसी परिस्थिति में, राजकीय विलासिता, युग की शिथिलता, बिगड़ी जनरुचि, संस्कृत आचार्यों का प्रभाव और फारसी कविता के संपर्क में होकर हिन्दी रीतिकाव्य-धारा बही। केशवदास की रसिकप्रिया और कविप्रिया की परिपाटी नहीं बनी; परन्तु रस-वादी चिंतामणि के प्रवेश करते ही कविता का अखण्ड रसस्रोत बह निकला। चिंतामणि के अतिरिक्त अन्य प्रमुख कवि हैं—सेनापति, बिहारी, मतिराम, कुलपति मिश्र, महाराज जसवंतसिंह सुखदेव मिश्र। परम्परा के प्रभाव से जिस कुत्सापूर्ण काव्य का निर्माण हो रहा था, केवल सेनापति ही उससे कुछ ऊपर उठे हुए हैं। उनके प्रकृति-वर्णन की स्वाभाविकता और सरसता सारे रीतिकाव्य में नहीं मिलेगी। षट्ऋतु-वर्णन में अधिकांश कवि

उद्दीपन भाव का निरूपण ही सामने रखते थे। परन्तु सेनापति ने प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र दिए हैं जिनमें काव्य-प्रसिद्धियों और कल्पना को भी उचित स्थान मिला है।

उन्नीसवीं शताब्दी के साथ राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियाँ बदलीं। देश मुसलमान शासकों के हाथ से निकलकर अँग्रेज शासकों के हाथ में चला गया। बड़े-बड़े राज्य हड़प लिये गये। छोटे-छोटे राज्य और जागीरदार रह गये। कवियों के यही मात्र आश्रय थे। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हम हिंदी कविता में कोई परिवर्तन नहीं पाते—रीति, शृङ्गार, वैष्णव, सत सभी काव्य धाराएं मरणोन्मुख हैं, परन्तु चल रही हैं। राधाकृष्ण को लेकर शृङ्गार काव्य की रचना की मात्रा इस काल में भी कम नहीं है। इस समय के मुख्य कवि पद्माकर, ग्वाल, लछिराम, गोविन्द गिलाभाई, प्रतापसाहि और पजनेस हैं। इन कवियों ने भाषा के नवीन ढंग के प्रयोग से अपने काव्य में पिछले कवियों से कुछ विशेषता लाने की चेष्टा की है—शब्द-सौंदर्य पर बल दिया जा रहा है, भावानुकूल शब्द-योजना, रस-पोषक भाषा का प्रयोग उक्तियों की नवीनता और रसिकता, अनुप्रास एवं वर्ण-मैत्री का प्राधान्य—ये बातें नई दिशा को सूचित करती हैं। कवि भाव की मौलिकता की अधिक परवाह नहीं करता, परन्तु उसके भाषा के नवीन प्रयोगों ने भाव में भी कुछ न कुछ मौलिकता उत्पन्न कर दी है। इसी समय कुछ ऐसे कवियों के दर्शन होते हैं जिन्होंने प्रेम के प्रकृत रूप को समझा था और भाषा की चहल-पहल में न पड़कर प्रकृत रूप से ही अपने काव्य को उपस्थित किया। ये कवि बोधा, घनानन्द, रसखान आरम्भ की उस परम्परा को आगे बढ़ाते हैं जो पूर्व रीतिकाल में शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभूति के आधार पर श्रेष्ठतम काव्य की सृष्टि कर चुके थे। इस उत्तरार्द्ध के सबसे महान् कवि हरिश्चन्द्र (१८५०—८५) हैं।

इन्होंने रीतिशास्त्र और परिपाटी से मुक्त रह कर भी बहुत-सा काव्य लिखा, यद्यपि परिपाटीबद्ध काव्य भी कम नहीं है। हाँ, प्रेम के प्रकृत रूप को उन्होंने शास्त्रों से नहीं, अपने अनुभव से समझा था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रीतिकाव्य कुछ विशेष परिस्थितियों की उपज था और उसने २५० वर्ष तक हिंदी कविता के क्षेत्र में एकछत्र राज किया। १६५० ई० से लेकर १९०० ई० तक एक विशेप प्रकार की विचारधारा काव्य-जगत में चलती रही जो अन्य काव्यधाराओं से अनेक प्रकार भिन्न थी। इस रीतिकाव्य के आरम्भ में केशवदास आते हैं और अन्त में हरिश्चन्द्र और श्रीधर पाठक। हरिश्चन्द्र और श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली की कविता का प्रवर्तन भी किया; परन्तु वे अपने ढग पर रीतिकाव्य के अन्तिम कवि थे। रीति-कविता फिर भी लिखी जाती रही और बीसवीं शताब्दी में भी जगन्नाथप्रसाद रत्नाकर जैसा सुन्दर कवि हमें मिल सका। परंतु जनता का बल उसे उसी तरह प्राप्त नहीं रहा, जिस तरह पिछली ढाई शताब्दी में।

रीतिकाल की कविता में मनुष्य की कुछ महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ प्रकाशित हुईं। ये प्रवृत्तियाँ सब देशों सब कालों में सत्य हैं। इसी से रीतिकाव्य की कविता का सदा महत्त्व रहेगा। ये प्रवृत्तियाँ थीं—१ प्रेम, विलास और दाम्पत्य जीवन की चुहलों का वर्णन, २ सौंदर्य-दर्शन, ३ पांडित्य-प्रदर्शन, ४ भाषा का व्यंगात्मक (लाक्षणिक)और कला-प्रधान प्रयोग। प्रत्येक युग के काव्य में इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ रहती हैं। परंतु रीतिकाल मे यही प्रवृत्तियाँ सब कुछ बन गई थीं। जिस प्रकार मनुष्य केवल दो चार प्रवृत्तियों को लेकर चले तो अपूर्ण है, इसी प्रकार रीतिकाव्य भी केवल कुछेक प्रवृत्तियों को ले चलने के कारण अपूर्ण है। परंतु अपने में तो फिर भी वह बहुत कुछ पूर्ण है ही।

हिन्दी-काव्य के आदिकाल में ही इन प्रवृत्तियों की झलक मिल गई थी। चारणकाव्य और सामंती काव्य में यही सब प्रवृत्तियाँ हैं, परन्तु उसका मूल स्वर वीरभाव होने के कारण ये प्रवृत्तियाँ इतनी पुष्ट नहीं हैं। विद्यापति के काव्य में हम पहली बार ये सब प्रवृत्तियाँ अपनी पराकाष्ठा में पाते हैं। राधाकृष्ण के नाम तो केवल नाम-मात्र हैं, विद्यापति के काव्य में उनके पीछे आध्यात्मिकता बहुत कम है। नायक-नायिका का बहुविधि भाव-विलास ही 'पदावली' के गीतों का विषय है। यह अवश्य है कि विद्यापति भागवत और जयदेव से प्रभावित हैं; परंतु उनकी राधा-कृष्ण-कथा का सारा ढाँचा ही दूत-दूतियों की चुहलों, पूर्वराग.मान, अभिसार और मिलन के प्रसंगों पर खड़ा है। विद्यापति का समय १३७५ ई०—१४४८ ई० तक है। सूरदास का समय १४८६-१५८५ तक है। यह स्पष्ट है कि विद्यापति और सूरदास दोनों पर रीति विचारधारा का गहरा प्रभाव है। यदि विद्यापति के बाद अगली शताब्दी में ब्रज के धार्मिक आन्दोलन उठ खड़े नहीं होते तो १४००-१६०० तक के काव्य में हम रीति-कविता का विशेष विकास पाते। परन्तु इन धार्मिक आन्दोलनों ने जनता और कवियों का ध्यान उपरोक्त प्रवृत्तियों से हटा कर धर्म की ओर खींचा। अतः रीति-काव्य की धारा कृष्णभक्ति काव्य में होकर बहने लगी और उसका रूप विकृत हो गया। वास्तव में कृष्णभक्ति-काव्य में प्रच्छन्न रूप से रीति और शृंगार का आग्रह है। राधा और गोपियों को लेकर कृष्ण के जो प्रेम-प्रसंग मिलते हैं, उन्हें जहाँ धर्मप्राण साधक रूपक और अध्यात्म के रूप में ग्रहण करता था, वहाँ साधारण रसिक रीतिकाव्य के रूप में उससे आनन्द लेता था। जब एक शताब्दी बाद यह धार्मिक प्रभाव कम हो गया, तो रीति-काव्य की धारा अपने असली रूप में सामने आई।

जब यह धारा नये स्वतंत्र रूप में सामने आई तब कृष्ण

काव्य में बहुत कुछ ऐसा कहा जा चुका था जो रीतिकाव्य के भीतर आना चाहिए था। वाग्वैदग्ध्यपूर्ण नचन के पद, मान, मानमोचन, खंडिता, स्थूल-मिलन और वियोग के पद, पांडित्य-पूर्ण दृष्टिकूट और राधाकृष्ण के सौन्दर्य-वर्णन के पद, रीतिकाव्य की बहुत-सी सामग्री को नये रूप में उपस्थित कर चुके थे। अतः कवियों ने एक नई परिपाटी से काम लिया। उनकी दृष्टि मम्मट, पंडितराज जगन्नाथ और अन्य आचार्यों पर गई और उन्होंने साहित्यशास्त्र की आवश्यकता समझते हुए रीति के हिंदी ग्रन्थ उपस्थित करना आरंभ किये। कवि-कर्म इतना ही रह गया कि संस्कृत के ग्रन्थों में जहाँ उदाहरण प्रसिद्ध ग्रंथों के रहते थे, वहाँ ये नये कवि धड़ल्ले से अपने रचे उदाहरण देने लगे। इस प्रकार रीतिकाव्य का वह बड़ा भाग तैयार हो गया जिसे हम उदाहरण-काव्य कह सकते हैं। इनमें न कवि की स्वतंत्र वृत्ति का परिचय मिलता है, न उसके आचार्यत्व का। कुछ दूसरे कवि इस कवि कर्म तक ही नहीं रह गये। उन्होंने प्रकृत मुक्तक काव्य (आर्यासप्तशती, गाथासप्तशती) और संस्कृत के सुभाषितों को सामने रखकर स्वतंत्र रूप से प्रेम-विलास को लेकर मुक्तकाव्य की सृष्टि की। वास्तव में हम पहले कवियों को कविकर्मी कहेंगे, इन दूसरे कवियों को कवि। इन कवियों और कवि-कर्मियो का इतना बड़ा भंडार हिंदी साहित्य में सुरक्षित है कि अभी उस पर सम्यक विचार ही नहीं हो सका है। उसकी अपनी त्रुटियाँ हैं, अपनी दुर्बलताएँ हैं, परन्तु बहुत कुछ ऐसा भी है जो सुन्दर है और जो काल के झोंकों में भी बचा रह सका है। सौन्दर्य, प्रेम, विलास और जीवन की तरुणाई की अनेक रँगीली परिस्थितियों से अनुरंजित हिन्दी का रीतिकाव्य लांछित सही; परन्तु बहुत कुछ अंशों में सुन्दर और स्वस्थ भी है, आज यह कहना कोई बड़े साहस की बात नहीं।

प्रेमचंद

डा॰ रामरतन भटनागर

किताब महल

प्रेमचंद

रामरतन भटनागर, एम्० ए०, डी० फ़िल०

प्रकाशक
किताब महल • इलाहाबाद

तालिका